रामगढ़ की ५३ वीं कांग्रेस की स्वागत समिति के आदेश से लिखित और प्रकाशित

बिहार

एक ऐतिहासिक दिग्दर्शन

श्री जयचन्द्र विद्यालंकार

की योजना पर तथा देखरेख में

श्री पृथ्वीसिंह मेहता

द्वारा लिखित

पुस्तक - भंडार

लहेरियासराय और पटना

प्रकाशक
पुस्तक-भंडार, लहेरियासराय (बिहार-प्रान्त)

मूल्य पौने दो रुपया

मुद्रक—ना० रा० सोमण
श्रीलक्ष्मीनारायण प्रेस, बनारस सिटी
विक्रम-संवत् १९९६, सन् १९४० ई०

श्रद्धेय

काशीप्रसाद जायसवाल

की

अमिट स्मृति में

उनके प्रशिष्य की लेखनी

का

प्रथम पुष्प

वस्तु-कथा

बिहार में कांग्रेस का अधिवेशन आमन्त्रित होने पर श्रद्धेय बाबू राजेन्द्रप्रसादजी ने यह संकल्प किया कि इस अवसर पर सर्व-साधारण के लिए बिहार का एक इतिहास भी प्रस्तुत किया जाय। गत एप्रिल मास (१९३९) में उन्होंने श्रीयुत जयचन्द्रजी विद्यालंकार से अपनी यह इच्छा प्रकट की। राजेन्द्र बाबू की यह अभिलाषा थी कि जयचन्द्रजी स्वयं इस कार्य को करते; परन्तु वे तब अपना 'भारतीय इतिहास का दिग्दर्शन' पूरा करने में व्यस्त थे। तो भी उन्होंने लिखा कि यदि कोई इतिहास की खोज-पद्धति सीखा हुआ विद्यार्थी उनके पथ-प्रदर्शन के अनुसार उनकी देखरेख में काम करने को रख दिया जाय, तो वे इस कार्य को पूरा करा देने का दायित्व अपने ऊपर ले सकते हैं। तदनुसार शुरू जुलाई (१९३९) में यह कार्य मुझे सौंपा गया। सूचना पाने पर मैं सीधा पंडित जयचन्द्रजी के पास बम्बई पहुँचा। वहाँ उन्होंने एक दिन सुबह से शाम तक बैठकर मुझे बिहार के इतिहास का पूरा ढाँचा समझा और लिखा दिया। अध्यायों का विभाजन वहीं पर हो गया। प्रत्येक अध्याय की रूप-रेखा मुझे मिल गई। और, किस अध्याय में किन बातों पर विशेष ध्यान रखना है तथा उसके लिए कौन-सी सामग्री का अध्ययन करना होगा और वह सामग्री कहाँ मिलेगी, यह सब मैंने समझ और दर्ज कर लिया।

मैं सन् १९३३-३४ में पंडित जयचन्द्रजी का अन्तेवासिक रह चुका हूँ, और उसके बाद भी बराबर उनके सम्पर्क में रहा हूँ, तथा उनके गुरु महामहोपाध्याय डाक्टर गौरीशंकर-हीराचन्द्र ओझाजी के चरणों में रहकर अध्ययन करता रहा हूँ; इसलिए हम दोनों को एक दूसरे की बात समझने में देर न लगी। मुझे आदेश मिला था कि नई खोज नहीं करनी है; परन्तु जो बातें विद्वानों द्वारा अब तक खोजी जा चुकी हैं, उनके आधार पर, सर्वसाधारण को दृष्टि में रखकर, यह विवरण लिखना है।

इसके बाद पटना पहुँचकर मैंने अपना काम शुरू किया। पंडित जयचन्द्रजी ने कई बातें श्रीयुत राहुल सांकृत्यायनजी से पूछ लेने को कहा था, सो बिहार में रहते हुए मैं राहुलजी से मिलता रहा, और उनके कीमती ज्ञानभंडार का यथाशक्ति उपयोग किया।

पंडित जयचन्द्रजी के बंबई से बनारस आने के बाद गत दिसंबर में मैं पटने से बनारस चला गया। वहाँ उनकी समूची नोट-बुकें, जिनमें उनके पिछले २२ बरसों के अध्ययन-कार्य का संग्रह है, मुझे सौंप दी गई, और उनमें बिहार के इतिहास से संबन्ध रखनेवाले स्थल भी मुझे बता दिए गए।

पुस्तक की पांडुलिपि तैयार हो जाने पर पंडितजी ने उसमें अनेक संशोधन किए, तथा जो स्थल ठीक न लिखे गए थे उन्हें फिर से समझा कर मुझसे दुबारा लिखवाया और फिर संशोधन कर डाले।

सन् १९३३ में जब उनकी 'भारतीय इतिहास की रूप-रेखा' प्रेस में थी तब तीन मास तक वे संध्या का आध घंटा टहलने के सिवा घर से न निकलते थे, और अन्तिम ४३ दिन तो उन्होंने अक्षरशः घर की देहली न लाँघी थी। उन दिनों उनके पुस्तकालय के काम के लिए मुझे ही

बाहर जाना होता था। इस बार बिहार के इस इतिहास के लिए भी उन्होंने १७ दिन तक अक्षरशः मकान की देहली नहीं लाँघी और मुझे तथा कई दिन तक मेरे नए सतीर्थ्य अमृतपालजी को भी बाहर नहीं निकलने दिया। वक्त इतना थोड़ा था कि यदि वे इस प्रकार इस कार्य के लिए कष्ट न उठाते तो अकेले मेरे बूते पर यह पूरा न होता। पुस्तक का परिच्छेदों में बटवारा भी उन्हीं ने किया है, तथा अध्यायों और परिच्छेदों के शीर्षक सब उन्हीं के चुने हुए हैं।

पटना में रहते समय श्रीयुत गदाधरप्रसाद अंबष्ठ इस कार्य में मेरी बहुत मदद करते रहे। बनारस में भाई अमृतपालजी ने जो कष्ट उठाया उसका उल्लेख कर चुका हूँ। श्रीयुत भदन्त आनन्द कौसल्यायनजी ने कुछ अध्यायों के भाषा-परिष्कार में मुझे सहायता दी। सीतामऊ के महाराजकुमार डाक्टर रघुवीरसिंहजी ने औरंगजेब-कालीन बिहार के इतिहास पर सर यदुनाथ सरकार के नोट्स के आधार पर कुछ सामग्री भेजी थी। इस प्रकार अनेक गुरुजनों और मित्रों की सहायता और सहयोग से यह पुस्तक इस रूप में समय पर प्रस्तुत हो सकी है, जिसके लिए मैं उन सबका अत्यन्त आभारी हूँ।

एक गैरबिहारी द्वारा बिहार का इतिहास लिखा जाना शायद कुछ असंगत प्रतीत हो। परन्तु बिहार से मेरा खून का रिश्ता न होने पर भी एक घनिष्ठ नाता है। स्वर्गीय डाक्टर काशीप्रसाद जायसवाल कहा करते थे कि विद्वानों का वंश खून से नहीं, ज्ञान के अन्वय से गिना जाता है। तदनुसार सं० १९९४ वि० की दीवाली पर उदयपुर में न्यूमिस्मैटिक कॉन्फरेंस (मुद्रानुशीलन-परिषद्) के अवसर पर उन्होंने मेरे पूज्य

भाई डाक्टर मोहनसिंहजी मेहता से यह कहकर मेरा परिचय कराया था कि 'यह मेरे पौत्र हैं।' बिहार के उस ऋण का एक अंश मात्र चुकाने के लिए मेरी यह पहली भेंट स्वीकार की जाय !

इस पुस्तक की खातिर मुझे अनेक पुस्तकालयों का उपयोग करना पड़ा है। इसके लिए बिहार-उड़ीसा-रिसर्च-सोसाइटी के पुस्तकाध्यक्ष श्रीयुत प्रोफेसर अनन्तप्रसाद बनर्जी शास्त्री और पंडित बलदेव शर्मा का, पटना-कालिज के प्रिंसिपल डाक्टर हरिचन्द शास्त्री का, पटना-यूनिवर्सिटी के रजिस्ट्रार श्रीयमुनाप्रसाद का, बिहार के उपविद्याधिकारी बाबू गोरखप्रसादसिंह का, तथा राधिकासिंहस्मारक-पुस्तकालय और बिहार-विद्यापीठ-पुस्तकालय के अधिकारियों का मैं कृतज्ञ हूँ।

जापानी मंदिर, राजगिर,
१६ फाल्गुन, सं० १९९६ वि०

पृथ्वीसिंह मेहता

पुनश्च

पुस्तक की छपाई के समय श्रीयुत शिवपूजनसहायजी (प्रोफेसर, राजेन्द्र कालिज, छपरा) ने प्रूफ देखने का पूरा दायित्व उठाकर मेरे काम को बहुत हल्का कर दिया। 'बालक' के संपादकीय विभाग के श्रीयुत हवलदार त्रिपाठी 'सहृदय' ने भी दिन-रात लगकर इसमें योग दिया। इतने थोड़े समय में पुस्तक को इतना काफी शुद्ध और सुन्दर छपवा देने का सब श्रेय उन्हीं को है। समय इतना थोड़ा था कि यदि पुस्तक-भंडार (लहरियासराय) हिम्मत न करता और श्रीलक्ष्मीनारायण प्रेस (बनारस) के संचालक और कार्यकर्त्ता दिन-रात परिश्रम न करते, तो पुस्तक का समय पर छपकर प्रकाशित हो सकना प्रायः असंभव था।

बनारस, १०-३-४०

पृथ्वीसिंह मेहता

अध्याय-तालिका

विषयानुक्रमणी

पहला अध्याय

बिहार की भूमि, भाषा और उसके आरम्भिक निवासी

दूसरा अध्याय

सभ्यता का उदय और आर्यों की पहली बस्तियाँ

तीसरा अध्याय

महाजनपद तथा पहला मगध-साम्राज्य

चौथा अध्याय

नन्द-मौर्य-साम्राज्य (३६६–२११ ई० पू०)

पाँचवाँ अध्याय

शुंग-साम्राज्य और काण्व (२१०–२८ ई० पू०)

छठा अध्याय

सातवाहन और कुषाण-साम्राज्य (२८ ई० पू०—लग० १७५ ई०)

सातवाँ अध्याय

नाग और वाकाटक (लग० १७५–३४४ ई०)

आठवाँ अध्याय

गुप्त-साम्राज्य (३४०–लग० ५४० ई०)

नवाँ अध्याय

पिछले गुप्त-राजा (लग० ५४०–लग० ७४३ ई०)

दसवाँ अध्याय

पहले पाल-राजा (७४३–१०२३ ई०)

ग्यारहवाँ अध्याय

पिछले पाल, कर्णाट और गाहड्वाल (१०२३–११९३ ई०)

बारहवाँ अध्याय

कर्णाट-राज्य और पहली तुर्क-सल्तनत (११९४–१३२० ई०)

तेरहवाँ अध्याय

तुगलक, ठाकुर और शर्की (१३२०–१५१८ ई०)

सत्रहवाँ अध्याय

अंग्रेजी राज (१७६६–१९०५ ई०)

अठारहवाँ अध्याय

हमारी पीढ़ी का बिहार (१९०५ ई०———)

संक्षेप और संकेत

उद्धृत ग्रन्थ—

आत्मकथा—महात्मा गांधी की 'आत्मकथा', अंगरेजी संस्करण, १९२९ ई०।

इ० प्र०—श्रीजयचन्द्र विद्यालंकार-लिखित 'इतिहास प्रवेश', इलाहाबाद, संवत् १९९६।

इंडियन एंटिक्वेरी—भारतीय पुरातत्त्व-सम्बन्धी एक त्रैमासिक।

इंडिया इन विक्टोरियन एज—सर रमेशचन्द्र दत्त-कृत, पाँचवाँ संस्करण।

कांग्रेस-इति०—श्रीपट्टाभि सीतारमैया-कृत 'कांग्रेस का इतिहास', हिन्दी-अनुवाद, १९३६ ई०।

काव्य-मीमांसा—नवीं शती के कश्मीरी कवि राजशेखर-कृत संस्कृत का साहित्य-विषयक एक ग्रंथ।

ज० बि० ओ० रि० सो०—जरनल ऑफ दि बिहार एंड ओरीसा रिसर्च सोसाइटी (बिहार-उड़ीसा-अन्वेषण-परिषत् का त्रैमासिक)।

पो० हि० ए० इं०—श्रीहेमचन्द्र रायचौधरी-कृत 'पोलिटिकल हिस्ट्री ऑफ एंशेंट इंडिया', तृतीय संस्करण, कलकत्ता, १९२७ ई०।

बुद्धचर्या—श्रीराहुल सांकृत्यायन-कृत, प्रथमावृत्ति, बनारस।

भारत-भूमि—श्रीजयचन्द्र विद्यालंकार-कृत 'भारत-भूमि और उसके निवासी', आगरा, १९८९ वि०।

भारतीय मूर्त्ति-कला—श्रीरायकृष्णदास-कृत, बनारस, १९९६ वि०।

भारतीय विद्या—भारतीय विद्या-भवन (बंबई) का त्रैमासिक।

रूप-रेखा—श्रीजयचन्द्र विद्यालंकार-कृत 'भारतीय इतिहास की रूप-रेखा', प्रयाग, १९९० वि०।

वसु—राइज ऑफ क्रिश्चियन पावर—मेजर वामनदास वसु-कृत 'राइज ऑफ दि क्रिश्चियन पावर इन इंडिया', द्वितीय संस्करण, इलाहाबाद, १९३१ ई०।

हिस्ट्री ऑफ तिरहुत—श्रीश्यामानन्द-कृत, १९२७ ई०।

साधारण संकेत—

अकेली संख्या—पृष्ठ-सूचक, जैसे—'भारत-भूमि' २०८ (=पृष्ठ २०८)

दे०—देखिए।

लग०—लगभग।

वहीं—पूर्व उद्धृत स्थल।

ई० पू०—इसवी-पूर्व।

जि०—जिला।

बिहार

एक ऐतिहासिक दिग्दर्शन

पहला अध्याय

बिहार की भूमि, भाषा और उसके आरम्भिक निवासी

राजमहल से कर्मनाशा नदी तक पूरब-पच्छिम और नेपाल-तराई से उड़ीसा की सीमा तक उत्तर-दक्खिन आजकल का बिहार है। इसके स्पष्ट दो भाग हैं; एक उत्तरी मैदान या ठेठ बिहार और दूसरा झारखण्ड या छोटानागपुर। ठेठ बिहार गंगा-कांठे का मध्य का भाग, जहाँ गंगा ठीक पूर्व-वाहिनी है। इस हिसाब से वर्त्तमान युक्तप्रान्त के मिर्जापुर और बनारस जिले भी बिहार के अन्तर्गत होते हैं। हम देखेंगे कि भाषा, रहन-सहन तथा ऐतिहासिक और सांस्कृतिक एकता की दृष्टि से भी आधुनिक युक्तप्रान्त के कई पूरबी जिले बिहार के अंश हैं।

भूमि-रचना

छोटानागपुर के दोनों पहाड़ी पठार, भौतिक दृष्टि से बिहार के मैदानी भाग से सर्वथा भिन्न होने पर भी, भाषा की दृष्टि से अब इसी प्रान्त के अंश हैं। गंगा-मैदान के दक्खिन विंध्य-मेखला के ऊँचे पथरीले पठार अधिकांश में उस पुराण-मेखला के अवशेष हैं जो पृथ्वी के असली छिलके को सूचित करती है। उनका निर्माण जीव-सृष्टि से करोड़ों वर्ष पहले पूरा हो चुका था।

भूगर्भशास्त्र के अनुसार हमारी पृथ्वी को, सौर मंडल से पृथक् होने के बाद, जीव-सृष्टि के योग्य होने में करोड़ों वर्ष लग गए। यह युग अजीवकल्प (Azoic age) कहा जाता है। उस कल्प में पृथ्वी का खौलता हुआ द्रव पदार्थ धीरे-धीरे ठंढा होकर एक मोटी पपड़ी के रूप में जम रहा था। इस पपड़ी से भूपटल की वे आरम्भिक पातालीय (Plutonic) शिलाएँ बनीं, जो अब प्रायः भूगर्भ के अन्दर हैं। भूमि का ताप विकीर्ण होकर उसके ठंढा होने पर आस-पास के वायुमण्डल का भी तापमान कुछ कम हुआ और आरम्भिक वाष्प बादल बनकर बरसने लगे। भूमि पर पड़ी जलधाराएँ भाप का अम्बार बन उड़ने और आकाश-मण्डल के कम तापमान में मेघ बन फिर बरसने लगीं। इस प्रकार करोड़ों वर्ष ये महामेघ भू-मण्डल को घेरे रहे। उस वाष्पीय भवन और पातालीय चट्टानों पर होती हुई उसकी क्रिया-प्रतिक्रिया से आरंभिक पातालीय शिलाओं में दरारें पड़ गईं और उन दरारों तथा महासमुद्र के तल में जमी

तलछट से अर्धपातालीय (Hypabisal) शिलाएँ बनीं। वे भी बाद के करोड़ों वर्षों तक भूगर्भ में दबी रहने से दबाव और ताप के कारण परिवर्त्तित होती रहीं। इसके बाद, भूपटल और आरंभिक समुद्र का तापमान और कम होने पर, चट्टानों के टूटने और आरम्भिक जलधाराओं के वेग में विचूर्ण होने से बननेवाली मिट्टी और दलदल के कारण उथले हुए समुद्रों में आरम्भिक अस्थिर जीव-सृष्टि हुई। भूगर्भ-शास्त्री इसे जीवोदय-कल्प (Eozoic age) कहते हैं। इससे अगला काल, जीवों के तथा चट्टानों के ऊपरी स्तरों के विकास-क्रम को देखते हुए, तीन मुख्य स्तरों में बाँटा गया है—प्रत्नजीव कल्प (Palaeozoic age), मध्यजीव कल्प (Mesozoic age) और नव्य-जीव कल्प (Cainozoic age); जिन्हें प्रथम (Primary), द्वितीय (Secondary) और तृतीय (Tertiary) कल्प भी कहते हैं। प्रत्येक कल्प की चट्टानों में उस कल्प के प्राणियों के जीवाश्म (Fossils) पाए जाते हैं, जिनसे उन प्राणियों का काल-निर्णय करने और जीव-सृष्टि का क्रम-विकास देखने में मदद मिलती है। इस प्रकार भूमि के स्तर-निवेशन (Stratification) का अध्ययन करके हम पृथ्वी का प्रागैतिहासिक वृत्तान्त जान सकते हैं। वर्त्तमान मनुष्य की सृष्टि मध्यजीव कल्प के अंत और नव्य के आरंभ में हो गई थी।

बिहार का मैदान इसी नव्यजीव कल्प में गङ्गा और उसकी सहायक नदियों द्वारा लाये हुए कर्दम या पाँक से बना है।

परन्तु गंगा के दक्खिन गया, मुंगेर और राजमहल की पहाड़ियाँ उन पुराण-कालिक परिवर्त्तित उरगा (Gneiss) * आदि शिलाओं से बनी हैं, जिनका निर्माण प्रायः अजीव कल्प के उस महा-समुद्र की तली में और पीछे भौगर्भिक परिवर्त्तनों के कारण पातालीय शिलाओं के सम्मिश्रण से हुआ था। भूगर्भशास्त्रियों ने उन्हें बंगाली उरगा (Bengal gneiss) नाम दिया है। उनके दक्खिन पलामू, हजारीबाग और राँची के पठार भी प्रायः पुराणकल्प की ही रचना हैं।

द्वितीय कल्प के अन्त में खटिका युग (Crataceous period) में उत्तर दिशा में भारी भूकम्पों का एक सिलसिला शुरू हुआ, जिसने दक्खिनी भारतीय द्वीप के सहारे, जो प्रायः पुराणकल्प की रचना और पृथ्वी के आरम्भिक पटल का एक अविचलित टुकड़ा है, पृथ्वी के पुराने पृष्ठ को समेटकर हिमालय के पर्वतों को समुद्र के गर्भ में से ऊँचा उठाना शुरू किया। इन उत्तरी धक्कों के कारण दक्खिनी पठार का भी कुछ हिस्सा ऊँचा उठ गया। वही विंध्यमेखला है।

दक्खिनी द्वीप और हिमालय के बीच एक बड़ी खाई रह

* भूगर्भ-शास्त्री जिसे अंग्रेजी में नीस (Gneiss) कहते हैं, उसका हिन्दी नाम 'उरगा' बिहार के उक्त प्रदेशों के जनसाधारण में प्रचलित है, और मुझे राजगृह के पण्डों से पूछताछ करने पर मालूम हुआ। 'बंगाल नीस' वास्तव में 'बिहार नीस' है। बिहार-बंगाल जब एक प्रान्त थे, तब बिहार की हर चीज पर बंगाल का नाम चिपका दिया गया।

गई। तृतीय कल्प के आरंभ में हिम-युग (Glacial age) शुरू हुआ। उस युग में हिमालय से उतरनेवाले हिमनदों, और दक्खिन से आनेवाले उसी समय के प्रलय-मेघ-युग (Aeolic age) के नद-नदियों ने हिमालय और विंध्याचल का धोवन ला लाकर उस खाई को पाट दिया। अब वही उत्तर-भारत का उपजाऊ मैदान है।

इस मैदान में होनेवाली वर्षा प्रायः बंगाल की खाड़ी से उठे मानसून से होती है। वह सीधे उत्तर जाता है और हिमालय से टकराकर पहले बंगाल में और तब हिमालय के सहारे पच्छिम बढ़कर समूचे उत्तरी मैदान में वर्षा करता है। इससे उत्तरी बिहार में वर्षा खूब होती है, जिसका जल हिमालय या उसकी तराई से निकली हुई सैकड़ों छोटी-मोटी धाराओं में सिमटकर तिरहुत के समूचे मैदान को सींचता हुआ गंगा में आ मिलता है। पर दक्खिनी बिहार में अपेक्षाकृत वर्षा कम होती है; क्योंकि उड़ीसा के तट से जो मानसून उठता है वह छोटानागपुर के पठार और पारसनाथ पर्वत से रुककर प्रायः वहीं बरस जाता है। इस प्रकार छोटानागपुर के पठार का दक्खिन-पूरबी अंश उत्तरी अंश की अपेक्षा कुछ अधिक हरे और घने जंगलों से ढका है। पर इसका मतलब यह नहीं कि गङ्गा के दक्खिन पटना, गया और शाहाबाद जिलों में वर्षा का अभाव हो; क्योंकि छोटानागपुर का पठार इतना ऊँचा भी नहीं है कि वह दक्खिन-पूरब से आनेवाले मानसून को बिलकुल

रोक ले। इसके अलावा पूरबी मानसून ही इतना जोरदार होता है कि हिमालय से टकराकर समूचे गंगा-कांठे को सींचने के लिए काफी होता है। इस प्रकार प्रायः समूचे बिहार में वर्षा-ऋतु में बाढ़ की बहुलता होती है, और नदियों द्वारा पहाड़ों से बहुत ज्यादा तलछट आती है, जो ढाल के कम होने से काफी मात्रा में तटों और पाट में जम जाती है। इससे नदियों के किनारे के प्रदेश मैदान से अपेक्षाकृत ऊँचे हो गए हैं। बरसात में ज्यादा पानी पड़ने पर नदियों में बाढ़ आने से यह पानी तटों से ऊपर निकलकर आस-पास के निचले इलाकों में भर जाता है, जिससे उस ऋतु में जगह-जगह चर (दलदलें) बन जाते हैं, जिनमें धान की खेती होती है और जिनके कारण बहुत स्थानों पर आना-जाना रुक-सा जाता है। इसलिए रास्ते प्रायः नदियों के तट के साथ-ही-साथ चलते हैं। अत्यधिक तलछट के जमाव के कारण उत्तरी बिहार की नदियाँ प्रायः अपना रास्ता बदलने, नई जमीन और दियारे बनाने तथा पुराने तटों को निरन्तर काटते रहने के लिए प्रसिद्ध हैं। इस प्रकार का तोड़-फोड़ करने में घाघरा और कोसी सबसे बढ़कर हैं। गंगा और सोन ने भी अपना रास्ता बदला है। पटना शहर पहले सोन और गंगा के संगम पर था; पर अब सोन उससे दस मील पच्छिम ही गंगा में मिल जाता है। गंडक और कोसी के भी इसी तरह कई बार अपना रास्ता बदलने के उल्लेख मिलते हैं।

छोटानागपुर का पठार और राजमहल-शृंखला विंध्यमेखला के दक्खिन-पूरबी विभाग—ऋक्ष पर्वत—का पूर्वी बढ़ाव है। ऋक्ष पर्वत यहाँ दो फाँकों में बँट गया है, जिसके बीच दामोदर नदी की दून एक पच्चर-सी घुसी है। उसके उत्तर हजारीबाग का नीचा पठार है, जिसका उत्तर-पूरबी बढ़ाव राजमहल की पहाड़ियाँ हैं। दामोदर के दक्खिन राँची का अपेक्षाकृत ऊँचा पठार है, जिसके दक्खिन-पूरबी छोर को सुवर्णरेखा सींचती है। दामोदर और सुवर्णरेखा के बीच राँची का तथा गंगा और दामोदर के बीच हजारीबाग का पठार जलविभाजक है। दामोदर और सुवर्णरेखा की ऊपरी दूनों में कोयले और लोहे की खानें हैं। भूगर्भशास्त्रियों के अनुसार उनका निर्माण प्राय: जीवोदय कल्प के मध्य तथा प्रत्नजीव कल्प में हुआ। राँची के पठार के दक्खिन-पूरब सिंहभूमि और मानभूमि जिले इन खनिजों से अत्यन्त सम्पन्न हैं।

पथ-पद्धति

उत्तर-पच्छिमी सीमान्त से निचले गंगा-काँठे तक जानेवाला दुहरा रास्ता उत्तर-भारत का मुख्य राजपथ है। इसकी दक्खिनी पाँत बनारस या पटना के पास दो शाखाओं में बँट गई है—एक शाखा गंगा के दक्खिन मुंगेर, भागलपुर होती हुई राजमहल की पहाड़ियों तक और गंगा के बीच के मैदान की तंग गर्दन से निकल मुर्शिदाबाद से कलकत्ते तक पहुँचती है, और दूसरी गया होकर हजारीबाग के पठार के उत्तरी

छोर को काटती हुई दामोदर के बाएँ-बाएँ बर्दवान से कलकत्ता जा निकलती है।

सीमान्त के रास्ते की उत्तरी पाँत अम्बाला से लखनऊ पहुँचकर घाघरा और गंडक को लाँघती हुई तिरहुत में घुसती और उसके आरपार निकलकर उत्तरी बंगाल और आसाम तक चली जाती है। इन मुख्य रास्तों से फिर कई रास्ते निकलते हैं। लखनऊ से एक रास्ता अयोध्या होता हुआ, बनारस में गंगा पार कर, दक्खिनी राजपथ से आ मिलता है। बनारस के आगे गंगा को पार करने के लिए बक्सर के पूरब कोई सुविधाजनक घाट नहीं है; क्योंकि गंगा आगे बहुत विशाल रूप धारण कर लेती है। इस प्रकार बक्सर एक जबरदस्त नाका है। ऊपरी गंगा-काँठे से पूरब बढ़नेवाली शक्ति को यदि आगे जल-पथ नहीं पकड़ना है तो वहीं गंगा पार कर लेना चाहिए।

बक्सर के आगे पटना एक बड़ा घाट है, जहाँ उत्तर और पूरब से आनेवाले रास्ते एक दूसरे को काटते हैं। हम देखेंगे कि मगध के राजा अजातशत्रु ने उत्तर-बिहार तथा गंगा के स्थलपथों और जलपथों पर देखरेख रखने के खयाल से ही यहाँ किलाबन्दी शुरू की थी और बाद में उसके उत्तराधिकारियों ने यहीं अपनी राजधानी बनाई थी। अर्वाचीन काल के आरम्भ में शेरशाह ने भारत के अन्य महत्त्वपूर्ण नाकों की तरह पटना के महत्त्व को भी पहचाना और बिहार शहर को छोड़ इसे प्रान्त का मुख्य केन्द्र बनाया।

पटना से पूरब मुंगेर जिले में दक्खिनी बिहार की पहाड़ियों का सिलसिला गंगा के बहुत नजदीक पहुँच गया है। खड़गपुर की पहाड़ियों और गंगा के बीच सिर्फ छ मील का अन्तर है; उसके नब्बे मील पूरब राजमहल के पास तेलियागढ़ी पर यह दूरी सिर्फ ढाई मील रह गई है। इस प्रकार ये दोनों स्थान बिहार के पूरबी नाके हैं। पूरब से आनेवाली या बिहार से पूरब जानेवाली सेना को या तो गंगा का जलमार्ग पकड़ना होगा या इन तंग दर्रों से गुजरना होगा अथवा इन पहाड़ियों का चक्कर काटकर झारखण्ड से जाना होगा। इतिहास में ऐसे भी दृष्टान्त हैं कि कुछ साहसी सेनापतियों ने आखिरी तरीका अख्तियार कर इन दर्रों की नाकाबन्दी को व्यर्थ तो कर दिया; पर साधरणतः बड़ी सेनाओं को उधर से ले जाना कठिन होता था। उत्तरी बिहार से सीधे भी बंगाल पहुँचा जा सकता है; पर वह रास्ता एक तो लम्बा पड़ता है, दूसरे उधर से जाने में हिमालय से निकली अनेक जल-धाराएँ लाँघनी पड़ती हैं। दक्खिनी रास्ता पहाड़ों के साथ-साथ चलने के कारण सुरक्षित है। कलकत्ता से जो रास्ता हजारीबाग के पठार के पूरबी छोर को काटकर निकला है वह यद्यपि पुराने चालू व्यापारिक रास्ते का ही—जो बनारस से तामलूक जाता था—नया संस्करण है; तथापि जंगलों और पहाड़ों से गुजरने के कारण वह आज से पहले सुरक्षित था।

विन्ध्यमेखला का जो छोर गंगा के नजदीक तक पहुँच गया है उसका कुछ विवेचन हो चुका है। इसके दक्खिन छोटा-

नागपुर का मुख्य अंश जंगलों से ढका और दुर्गम है। बिहार से उड़ीसा जाने के लिए आम तौर पर उस पहाड़ी प्रदेश के पूरब से चक्कर काटा जा सकता है, इस कारण वह प्रदेश चिरकाल से सभ्यता के नए प्रवाहों से बचकर प्रागैतिहासिक जीवन का आश्रय बना रहा है। वहाँ आज भी संथाल, मुंडा आदि आग्नेय* और ओराँव, मल्तो आदि द्राविड जातियों का निवास-स्थान है।

---

* छोटानागपुर के संथाल और मुंडा तथा उड़ीसा और आन्ध्र के पहाड़ों के जुआंग, पतुआ, शबर आदि लोग एक ही जाति के हैं। आधुनिक विद्वानों ने इसका सामूहिक नाम मुंड रक्खा है। भारतभूमि में इसे शाबर (शबरवर्गीय) नाम दिया गया है। इसे कोल भी कहते हैं। एक अंग्रेज लेखक ने यह समझकर कि इस शब्द का मैसूर के कोल्हार जिले से सम्बन्ध है, इसे 'कोलारियन' लिख दिया। अनेक भारतीय लेखक भी आँख मूँदकर इस गलती को दुहराते आते हैं। जर्मन विद्वान् 'श्मिट' ने बताया कि भारत के मुंड, कोल या शाबर, बरमा के मोन या तलैंग—जो पहले वहाँ के मुख्य निवासी थे, और अब केवल तट पर रह गए हैं—कम्बुज (कम्बोदिया) के ख्मेर, मलाया या मलायु प्रायद्वीप और सुमात्रा-जावा के मलायु लोग, तथा प्रशान्त महासागर के अनेक द्वीपों के निवासी—ये सब एक ही नस्ल (race) के हैं। संसार के दक्खिन-पूरबी (आग्नेय) कोण में होने के कारण उन्होंने इस नस्ल को आग्नेय (Austric) नाम दिया। हिमालय में सतलज दून की कनौर प्रदेश की भाषा में तथा पूर्वी नेपाल की यारवा आदि भाषाओं में भी आग्नेय प्रभाव पाया गया है। प्रायः ३० बरस तक श्मिट की स्थापना सर्वसम्मत मानी जाती रही है; पर इधर पाँच बरस हुए, हुंगारियन विद्वान् दि-हवेसी ने कहा है कि आग्नेय नस्ल की कल्पना गलत है, और मुंड लोग उस तातारी नस्ल के हैं जिसमें फिनलैंड, हुंगारी, तुर्की आदि की जातियाँ सम्मिलित हैं।

बिहार-प्रान्त में मुख्यतः तीन बोलियाँ बोली जाती हैं—

बोलियाँ

भोजपुरी, मगही और मैथिली जो बँगला, असमिया और उड़िया के साथ आर्यावर्त्ती भाषापरिवार की पूर्वी शाखा की सदस्या हैं; और प्राचीन मागधी प्राकृत के अन्वय में से हैं।

श्रीधीरेन्द्र वर्मा तथा श्रीजयचन्द्र विद्यालङ्कार ने यह अत्यन्त महत्त्वपूर्ण खोज की है कि भारत की वर्त्तमान विभिन्न बोलियों के क्षेत्र उन प्राचीन जनपदों के परिचायक हैं, जो प्राचीन काल से ऐतिहासिक विकास की इकाइयाँ रहे हैं। इस प्रकार वर्त्तमान भोजपुरी—जिसके अन्तर्गत अब बस्ती, गोरखपुर, चम्पारन, सारन, बलिया, गाजीपुर, आजमगढ़ और शाहाबाद, जिले तथा बनारस, मिर्जापुर जिलों का अधिकांश है—प्राचीन मल्ल और काशी राष्ट्रों को सूचित करती है। मल्ली और काशिका उसकी दो प्रमुख उपबोलियाँ हैं। मल्ली का उत्तर-पूरबी रूप सरबरिया (बस्ती और पच्छिमी गोरखपुर के कुछ अंश की बोली) उसका अवधी में ढलता हुआ रूप है। इसी प्रकार बनारस और मिर्जापुर की बोली, जो आम तौर पर 'पूरबी' कही जाती है, प्राचीन काशी राष्ट्र की बोली है। उसे हम काशिका नाम दे सकते हैं। भोजपुरी के पच्छिम अवधी बोली है। बनारस जिले में भदोही और मिरजामुराद के बीच तमंचाबाद गाँव से फैजाबाद जिले में टाँडा तक सीधी खींची हुई रेखा इन दोनों के बीच की सीमा है। टाँडा से आगे, घाघरा के उत्तर, गोंडा-बहराइच जिलों में हिमालय की तराई के साथ-साथ बसे हुए थारू

लोग भी मिश्रित भोजपुरी बोलते हैं। भोजपुरी की एक और उपशाखा नागपुरिया है, जो मिर्जापुर के और दक्खिनी पलामू होकर छोटानागपुर के दो पठारों में से अधिक ऊँचे दक्खिनी पठार पर कब्जा किए हुई है।

भोजपुरी के पूरब मिथिला या तिरहुत में मैथिली या तिरहुतिया बोली जाती है। गण्डक और महानन्दा नदियाँ उसकी पच्छिमी और पूरबी सीमाएँ हैं। दक्खिन-पूरब वह गंगा के दक्खिन, मुंगेर, भागलपुर जिलों (प्राचीन अंगदेश) में भी उतर गई है, और संथाल परगना के एक बड़े अंश—उसके उत्तर-पच्छिम के ढालों—पर दखल जमाए हुई है। मथिली की चार उपबोलियाँ हैं—पच्छिमी, केन्द्रीय, पूरबी और दक्खिनी या छींका-छीकी, जो क्रम से प्राचीन वैशाली, विदेह, अंगुत्तराय और अंग जनपदों को सूचित करती हैं।

दक्खिनी बिहार या प्राचीन मगध राष्ट्र—मुख्यतः पटना, गया जिलों—की बोली का नाम मगही है। वह पटना और गया में तथा छोटानागपुर के उत्तरी पठार में प्रचलित है। वहाँ से राँची के पठार के पूरब वह उड़िया की सीमा तक पहुँची है।

भारतवर्ष के वास्तविक प्रान्त तो उसके भाषा-प्रांत हैं, जो न केवल उसके जाति-विभाग को प्रत्युत सारी ऐतिहासिक परम्परा को व्यक्त करते हैं। आजकल के सरकारी प्रान्त और रियासतें तो चार दिन की पुरानी, अस्वाभाविक, कृत्रिम और

अन्ध रचनाएँ हैं। इसलिए "आजमगढ़ से राजमहल और रक्सौल से राँची तक सारा प्रदेश (वास्तविक) बिहार-प्रान्त है, जिसमें बिचला गंगा-काँठा और विंध्यमेखला के बघेलखण्ड तथा छत्तीसगढ़ से पूरब के झारखण्ड का मुख्य अंश भी सम्मिलित है।" ('भारतभूमि और उसके निवासी'—पृष्ठ २०८)

इस प्रान्त का क्षेत्रफल करीब ९ हजार वर्गमील और आबादी प्रायः चार करोड़ है।

झारखण्ड में संथाल, मुण्डा, ओराँव आदि आरम्भिक जातियों के बसने और उनके प्रायः आग्नेय और द्राविड़भाषी होने के कारण झारखण्ड की भाषा और जातिकृत अवस्था बड़ी पेचीदा है। ये जातियाँ एक तो इकट्ठी नहीं बसीं और सब मिलाकर इनका प्रदेश इतना बड़ा नहीं है कि एक पृथक् प्रान्त बन सके। मध्यकालीन इतिहास में झारखण्ड का पच्छिमी अंश—सरगुजा आदि—छत्तीसगढ़-राज्य में रहा है, और उसमें बोली जानेवाली आर्यभाषा आज भी छत्तीसगढ़ी है। इसका मतलब यह है कि छत्तीसगढ़ से प्रवासी आर्य उसमें जा बसे हैं। झारखण्ड के उड़ीसा और बंगाल से लगे इलाकों में इसी प्रकार उड़िया और बँगला पहुँच गई हैं। बाकी सारा झारखण्ड बिहार की भोजपुरी और मगही बोलियों से अधिकृत है। इस प्रकार मुण्डा, ओराँव और संथाल इलाकों के बीचोबीच उत्तर, पच्छिम और पूरब की आर्यभाषाएँ आ घुसी हैं और बहुत-से आदिम निवासी अपनी बोलियाँ छोड़ आर्यभाषी हो गए हैं

या दुभाषिया हैं। अतः अब झारखण्ड का आर्यीकरण लगभग पूरा हो रहा है और इसी आधार पर झारखण्ड की समस्या हल होनी चाहिए। विवादास्पद प्रदेशों में जिस आर्यभाषा का प्रतिशत जहाँ अधिक हो वहाँ उसी का प्रदेश समझा जाना चाहिए। संथाल परगना के उत्तर, गंगा के पार, बँगलाभापी मालदा जिले के कुछ पच्छिमी अंश पर मगही का दखल है, जो वहाँ अकेली है। पूर्णिया जिले का महानन्दा के पूरब का अंश बिहार का नहीं है।

मनुष्य का विकास कब हुआ, यह ठीक-ठीक कहना कठिन है। पर भूगर्भशास्त्रियों का कहना है कि नव्यजीव कल्प के आरंभ में वह प्रादुर्भूत हो चुका था। उससे पहले भूतल का तापमान धीरे-धीरे कम हो चुका था।

पूर्व इतिहास

जंगलों और दलदलों में भयंकर सरीसृप और छिपकली की जाति के विशालकाय जानवरों का वास था, जिनके त्रास से मनुष्य का पूर्वज कपिमानुप (Pithecanthropos) प्रायः वृक्षों पर ही रहता और उद्भिज्ज-भोजी था। भूमितल पर उतरना उसके लिए तब बड़ा खतरनाक था। उसे प्रायः आरम्भिक वनों में एक शाख से दूसरी शाख और एक वृक्ष से दूसरे वृक्ष पर फाँदना पड़ता होगा। इस प्रकार उसकी दृष्टि तीव्र होने और अनुमान-शक्ति धीरे-धीरे बढ़ने लगी, जिससे उसके भावी बौद्धिक विकास का वीजारोपण हुआ। वृक्ष से वृक्ष पर फाँदने तथा शाखाओं और टहनियों के पकड़ने में उसे अपनी हथेली

और अँगूठे का उपयोग बराबर करना पड़ता था। इस प्रकार अँगूठे का विकास हुआ और आगे प्रहरणों और उपकरणों को काम में लाने की योग्यता का अंकुर जमा। खटिका युग के अन्त और नव्यजीव कल्प के आरम्भ में उत्तर से भूचालों का जो सिलसिला शुरू हुआ, उससे भूमि-पृष्ठ के सामान्यतः ऊँचा उठने और समुद्रों के खड्ड के गहरा होने से पृथ्वी के तापमान में भारी परिवर्त्तन होने के कारण भूतल पर एक हिमयुग उतर आया। प्रकृति के इन आकस्मिक विप्लवकारी परिवर्त्तनों के फलस्वरूप पुराने कल्पों के उष्णतर वातावरण में रहनेवाले जीवों की बहुत-सी किस्में नष्ट हो गईं और बहुतों ने अपना रहन-सहन और स्वभाव बदलकर बदली हुई परिस्थितियों में भी जीवन-संघर्ष को जारी रक्खा। संभवतः इस प्रकार पहले-पहल उद्भिज्ज-भोजी और वृक्षचारी कपिमानुष द्वारा जंगलों और उद्भिज्जों का विनाश होने के कारण आमिष-भोजी और भूमिचर कपिमानुप का प्रादुर्भाव हुआ, जो हिमयुग की आर्द्रता से बचने के लिए गुफाओं में रहता और जानवरों का शिकार कर अपना पेट पालता था। उसने तभी अपनेसे कुछ अधिक बलवान् वन्य पशुओं के मुकाबले और शिकार की सुविधा के लिए पत्थर और हड्डी के कठोर टुकड़ों का प्रहरण के रूप में प्रयोग करना सीखा, और इस प्रकार अपने अध्यवसाय और बुद्धि के उपयोग से प्रकृति के भीषण रूपों और अपने सहचारी जीवों पर प्रभुता जमाने का उपक्रम बाँधा।

मनुष्य के आरम्भिक हथियार पत्थर और हड्डी के थे। वह प्रायः सादा पत्थर के अनगढ़ टुकड़ों को काम में लाता था। विद्वानों ने इस युग का नाम अश्मायुधोदय युग (Eolithic age) रक्खा है। उसके बाद मनुष्य ने धीरे-धीरे उन्हीं पत्थर के हथियारों को गढ़ना सीखा। पर वे भद्दे होते थे। यह युग पुराश्म और प्रत्नाश्म युगों (Archæolithic और Palæolithic age) में विभक्त किया जाता है। पुराश्म-युग के हथियार अपेक्षाकृत कम गढ़े होते थे। प्रत्नाश्म-युग में उनकी गढ़न कुछ निश्चित आकृति लेने लगी। इस युग के हथियार दक्खिनी बिहार में बहुत-से स्थानों से मिल चुके हैं।

अश्मायुधोदय-युग और प्रत्नाश्म-युग की सभ्यताओं का विकास संभवतः पुरानी शिलाओं वाले पर्वतों की तलेटियों में, नदियों के सान्निध्य में, हुआ; क्योंकि आरंभिक मनुष्य को पर्वतों की गुफाओं में रहने में सुविधा होती थी, और उसके हथियार भी प्रायः कठोर पत्थर के होते थे। गढ़ने की कला में निपुण न होने से घने जंगलों और दुर्गम पर्वतों में चढ़कर दूसरे पत्थरों को खोदना और अच्छे हथियारों का बनाना उसके लिए कठिन था। मैदानों में तब घने और डरावने जंगल तथा दलदलें थीं, जहाँ उसका गुजर होना कठिन था। इसलिए, भारत में या तो हिमालय की निचली शृंखला शिवालक की पहाड़ियों में, या विंध्यमेखला के किनारे और दक्खिनी प्रायद्वीप में, आरम्भिक मनुष्यों के चिह्न पाए जाते

हैं। भौगर्भिक जीवशास्त्र के अनेक विशेषज्ञ अनुमान करते हैं कि आरम्भिक मनुष्य का विकास पहले-पहल दक्षिण-भारतीय पठार में ही हुआ।

जीव-सृष्टि के विकास और जीवन के इतिहास में मनुष्य का प्रादुर्भाव एक महत्त्वपूर्ण युग-परिवर्त्तनकारी घटना है। एक सामान्य कपि-जाति के प्राणी से मनुष्य का विकास होने में दो प्रधान प्रेरक तत्त्व रहे हैं। एक तो उसमें पिछले अनुभवों के आधार पर अपने अगले जीवन के लिए सीख लेने, सोचने-विचारने और अनुकरण करने की शक्ति है। जो काम एक मनुष्य ने कर लिया, दूसरा मनुष्य उसे फौरन करने का प्रयास करता है। इस प्रकार एक-एक मनुष्य का अनुभव और ज्ञान-सम्पादन सम्पूर्ण मनुष्य-जाति की ज्ञान-सम्पत्ति में एक अंश की वृद्धि है। वह सामूहिक प्राणी होने से अकेला नहीं रहता, हमेशा गिरोह बनाकर रहता है। दूसरी विशेषता मनुष्य का दोपाया होना और उसके हाथ हैं। हाथ से हथियार और उपकरणों का प्रयोग कर वह जीवन की जद्दोजहद में सारी प्राणि-सृष्टि का अग्रणी हो गया है। शारीरिक और पाशविक बल में दूसरे प्राणियों से बहुत हीन होते हुए भी वह शस्त्र चला और अस्त्र फेंककर बड़े-से-बड़े जीवों के बीच जीवन के लिए चल रही कशमकश में विजयी हुआ है। इस प्रकार मनुष्य का इतिहास उसके हाथ, बुद्धि और समाज के विकास का इतिहास है।

आरम्भिक मनुष्य शिकारी थे। जंगल से फल-फूल ला और

पशुओं का शिकार करके वे अपना पेट पालते थे। जानवरों का शिकार करते-करते उन्होंने उन्हें पालना सीखा। पहले जहाँ शिकार से एक आदमी का पेट भरता वहीं अब पशुओं को चराकर उनके दूध और मांस से सैकड़ों आदमियों का पेट भरने लगा। इसके अतिरिक्त पालतू कुत्तों और घोड़ों की सहायता से शिकार और युद्ध में बहुत सुविधा हो गई।

शिकारी अवस्था में ही जब मनुष्य जंगल से फल-मूल लाते और उनके वीज अपने रहने के स्थान के आस-पास डाल देते तथा ऋतु आने पर उन्हें उगता और फल देता देखते, तब उनमें से किसी को पहले-पहल कृषि का विचार सूझा होगा। पर असली खेती तब शुरू हुई जब उन्होंने पशुओं को जोतकर हल चलाने का आविष्कार किया। शिकारी और पशु-पालक होने की दशा में मनुष्य खानाबदोश थे। शिकार और पशु चराने के लिए जिस प्रदेश में उनके झुण्ड विचरते, उस प्रदेश को अपना समझने का भाव भी उनमें पैदा हो जाता था। कृषि के आरंभ के साथ उन्हें, कम-से-कम फसल पकने तक, एक स्थान पर टिककर रहना पड़ने लगा। फिर जहाँ जंगल काटकर जमीन साफ की और सिंचाई आदि का इन्तजाम किया, वह जमीन तो छोड़ी नहीं जा सकती थी। मनुष्य-समूहों के टिककर रहने से स्थिर सभ्यता का विकास हुआ। समूहों, उपसमूहों और कुलों के बसने से गाँव, जनपद आदि का आरम्भ हुआ और सामूहिक व्यवस्था के लिए समाज और राज्य संगठित होने लगे।

बिहार-प्रान्त के दक्खिन सिंहभूमि और मानभूमि जिलों में, विशेषकर झरिया के कोयला-क्षेत्रों में तथा हजारीबाग, मिर्जापुर और झारखण्ड के पच्छिम सरगुजा में पुराश्म-युग के कुठार, फलक, छेदक (Boucher), छेनियाँ, रेतियाँ, हथौड़े, गदा आदि पत्थर के बने नानाविध शस्त्र और उपकरण मिले हैं। इसके अलावा कैमूर पहाड़ियों (जिला मिर्जापुर) के घोरमंगर, चुनाडी, लौरी आदि स्थानों में प्रागैतिहासिक लोगों के बनाए हुए गुहा-चित्रों का भी पता चला है। ये अवशेष वर्त्तमान मुण्डा, संथाल आदि आग्नेय जातियों के पूर्वजों के छोड़े हुए प्रतीत होते हैं।

नव्याश्म-युग के बहुत-से हथियार और प्रहरण आजमगढ़, गाजीपुर, गोरखपुर, चम्पारन, पलामू, शाहाबाद, मानभूमि और सिंहभूमि जिलों से प्राप्त हुए हैं। वे उस युग के हैं जब हथियार अच्छे गढ़े जाने लगे थे, और उपल की जगह चकमक, कसौटी, तेलिया (Granite) * और बलुआ पत्थरों का— जिन्हें गढ़कर इच्छित आकृति देना सुगम होता है—प्रयोग शुरू हो गया था। साथ ही हथियारों और औजारों पर कुछ पालिश भी दी जाने लगी थी।

इन अवशेषों से सूचित होता है कि लोगों ने हथियारों के साथ-साथ हत्थे जोड़ने तथा धनुष से तीर और गुट्टी चलाने की कला जानने के बाद, आँच जलाना सीखकर आसपास दूर-दूर

* तेलिया शब्द बुन्देलखंड में सर्वत्र प्रचलित है।

तक शिकार करना, खानें खोदना, जंगलों को जला या काटकर साफ करना और झीलों में मंच बाँधकर उसपर झोपड़ों में रहना सीख लिया था। थोड़ी-बहुत खेती भी शुरू हो गई थी। सूखी ऋतुओं में वे पहाड़ों और जंगलों से तराई और नदियों की दूनों में उतर जाते थे। अन्दाज किया गया है कि इन प्रहरणों का उपयोग करनेवाले वर्त्तमान मुण्ड और ओराँव दोनों जातियों के पूर्वज थे। उनको खेती, पशुपालन, मकान या किले बनाना और गाँवों के रूप में संघटित होकर रहना आता था।

इसके बाद सभ्यता की अगली मंजिलें ताम्र या कांस्य-युग और लौह-युग की हुईं। प्राचीन द्रविड जाति, जो संभवतः मुण्ड-शबर जाति को परास्त कर भारत में आई, उस समय ताम्र या कांस्य-युग की सभ्यता तक पहुँच चुकी थी।

बिहार की जनता के रक्त में मुण्ड-मिश्रण की स्पष्ट झलक है। बिहारी भाषा में भी मुण्ड-प्रभाव विद्वानों को दीख पड़ा है। वह पूर्वीय वर्ग की सभी आर्यावर्त्ती भाषाओं में है। उत्तरी बिहार में तो आर्यतत्त्व की ही प्रधानता है; पर दक्खिन में मुण्ड-असुर जाति का अंश जनता में काफी है।

दूसरा अध्याय

सभ्यता का उदय और आर्यों की पहली बस्तियाँ

बिहार के प्रथम निवासी

पहले कह चुके हैं कि प्रागैतिहासिक नव्याश्म और ताम्र-युग की सभ्यताओं के अवशेष दक्खिन-पच्छिमी बिहार से मिले हैं। छोटानागपुर की कोल जातियों की अर्द्ध-ऐतिहासिक दन्तकथाओं से उनका आदि-निवास आजमगढ़ के आसपास मालूम होता है। जान पड़ता है कि तब वे लोग नव्याश्म सभ्यता के अन्त तक पहुँच चुके थे, ताम्बे का प्रयोग जान रहे थे और पशुपालक की अवस्था को पार कर कृषिजीवी होने लगे थे। उनके छोटे-छोटे जाति-मूलक समूह विकसित हो रहे थे। उनको संभवतः पत्थर, ईंट या अन्य किसी तरह के लकड़ी आदि के मकान भी बनाना आता था। परन्तु, उनका पूर्व इतिहास सिलसिलेवार जानने का हमारे पास कोई साधन नहीं और न हम यह

निश्चयपूर्वक कह सकते हैं कि ये पत्थर और ताम्बे के हथियार उन्हीं लोगों के और अमुक युग के हैं। इस विषय पर अभी तक जो कुछ लिखा गया है वह प्रायः इन हथियारों और मुंडा आदि लोगों में प्रचलित कहानियों के आधार पर है। वे कहानियाँ बहुत टूटी-फूटी और असंवद्ध हैं। यह भी नहीं कहा जा सकता कि उनमें वर्णित अवस्थाएँ कबतक थीं। वे आर्यों के प्रकट होने के पहले पूरी हो चुकी थीं या बाद तक विकसित होती रहीं और उनमें आर्यों के सम्पर्क से भी कुछ परिवर्त्तन हुआ कि नहीं*।

आर्यों का प्रकट होना

परन्तु भारत के अन्य प्रान्तों की तरह बिहार का इतिहास भी आरम्भ होता है प्रांत में आर्यों के आने और बस्तियाँ बसाने से। जब आर्य भारतीय इतिहास में प्रकट हुए, वे पशुपालक और कृषक थे। आग का प्रयोग वे जानते थे। उनके यहाँ आ बसने की याद हमारी पौराणिक

---

* ऋग्वेद की कुछ ऋचाओं में आए हुए दासों या दस्युओं के नाम, जिन्हें आर्य राजाओं और देवताओं ने परास्त किया या मारा, वर्त्तमान मुंड कीलों (कील शब्द मुंड भाषा में खाँप अर्थ में बरता जाता है) और व्यक्ति-वाचक मुंड नामों से मिलाए गए हैं। जैसे—शंबर = सुंबेर; बलासुर = बलआ; करञ्जु = कलंग या करंजआ; पर्ण = पर्न या परह्नौ; कुद्रव = कुंब; वंगृड = वंग्रा; दनु, दन, दनु, दंबु आदि; व्यंस = वयन; ओंथ = ओंग। इसी प्रकार तमुचि, चामुरि, तरुन्तु, अस्न आदि आर्य अनुश्रुति के कतिपय दास, दस्यु और असुरों के नामों का भी मुंड मूलक होने का अंदाज किया गया है।

अनुश्रुति में सुरक्षित है। उस अनुश्रुति की विवेचना करके स्वर्गीय पार्जीटर ने भारत में आर्यों के प्रारम्भिक इतिहास का पुनरुद्धार किया था। इस विषय में अभी और विवेचना की जरूरत है। यहाँ पार्जीटर के अनुसार इस इतिहास की मुख्य घटनाओं का उल्लेख किया जाता है।

पौराणिक अनुश्रुति के अनुसार आर्यावर्त्त का इतिहास महाभारत के युद्ध से करीब-करीब ९५ पीढ़ी पहले शुरू होता है। अयोध्या के राजा इक्ष्वाकु उस युद्ध से ९५ पीढ़ी पहले थे। महाभारत के युद्ध के बाद पांडव अर्जुन का पोता परीक्षित आर्यावर्त्त का सम्राट हुआ। पौराणिक अनुश्रुति में स्पष्ट शब्दों में लिखा है कि परीक्षित से महापद्म नन्द तक १०५० वर्ष बीते। महापद्म नन्द का उत्तराधिकारी सिकन्दर का समकालीन था। यों महाभारत के युद्ध का समय १४२४ ई० पू० निश्चित होता है। पार्जीटर ने परीक्षित से महापद्म नन्द तक के कुल राजाओं की संख्या ले और १८ वर्ष की औसत मानकर भारत के युद्ध का काल ९५० ई० पू० रक्खा है। जायसवालजी का कहना था कि कुछ पीढ़ियों के नाम गुम हुए हो सकते हैं; पर कुल काल का जो जोड़ स्पष्ट शब्दों में दिया है, उसे स्वीकार करना चाहिए। जो भी हो, भारत के युद्ध का समय १५वीं शती ई० पू० के पहले नहीं जा सकता। उससे पहले ९५ पीढ़ियों के लिए ९५ × १६ = १५२० वर्ष रखना चाहिए ('रूपरेखा' पृ० १७१)।

इक्ष्वाकु से राजा सगर ४०वीं पीढ़ी पर हुए। वे कृतयुग के

अन्त में थे। रामचन्द्र इक्ष्वाकु से ६५वीं पीढ़ी पर और त्रेता के अन्त में थे। यों कृत (सत्ययुग) का अंत लगभग २३०० ई० पू० में तथा त्रेता का १९०० ई० पू० में हुआ। कलि की कुल अवधि १२०० वर्ष लिखी है और उसका अन्त १८८ ई० पू० में माना है। पार्जीटर, जायसवाल आदि विद्वानों का अभिप्राय है कि कृत, त्रेता, द्वापर और कलि युग वास्तव में राजपूत-युग, मुगल-युग और मराठा-युग की तरह ऐतिहासिक युग थे। पीछे ज्योतिषियों ने भी इन नामों को अपना लिया। किन्तु, हज़ारों वर्षों के इन ज्योतिषीय युगों की कल्पना बहुत पीछे की है। वेदों का संकलन कृष्ण द्वैपायन वेदव्यास ने किया। वे भारत के युद्ध के समय में थे, इसलिए वैदिक साहित्य में आर्यों के जिस समाज का चित्र हमें मिलता है, वह कृत, त्रेता और द्वापर युगों की अनुश्रुति के समय का है। उत्तर वैदिक साहित्य—ब्राह्मणग्रन्थ, उपनिषद्, सूत्रग्रन्थ आदि—भारत के युद्ध के बाद का है।

वैदिक साहित्य और पौराणिक अनुश्रुति अनेक अंशों में एक-दूसरे को स्पष्ट और पुष्ट करती हैं। वैदिक साहित्य से हमें यह पता लगता है कि आर्य लोग तब अनेक जनों (कबीलों = Tribes) में बँटे हुए थे। जन के सब व्यक्ति 'सजात' अर्थात् एक ही वंश के समझे जाते। जन के सब सजात मिलकर 'विशः' (बसी हुई प्रजा) कहलाते थे, जिसका यह अर्थ था कि जनका शासन बहुत-कुछ प्रजा-सत्तात्मक था। वे प्रायः कृषक थे जो किसी-न-किसी प्रदेश में बस चुके थे; पर कोई-कोई

विशः अनवस्थित भी थे, और कई बार वे सामूहिक रूप से उठकर नए प्रदेशों में भी जा बसते थे।

जन में एक राजा होता था जो जन का मुखिया था, जमीन का मालिक नहीं। युद्धों से प्राप्त जमीन और सम्पत्ति सारे जन की समझो जाती और जन के सदस्यों में बँट जाती। राजनीतिक रूप से संगठित जन ही राष्ट्र कहलाता था। जन में राजा का 'वरण' होता और वह राजा समिति तथा सभा की सहायता से शासन करता था। अनेक बार राजा को गद्दी से उतारकर नया राजा भी चुना जाता था। अनेक राज्यों में राजा होता ही न था। जन की खाँपें ग्राम कहलाती थीं। ग्राम का मूल अर्थ जत्था था। जत्थों के पृथक्-पृथक् बसने से वे बस्तियाँ भी ग्राम कही जाने लगीं। प्रत्येक ग्राम की एक सभा और एक ग्रामणी (ग्राम-नेता) होता था। राष्ट्र की समिति में सब ग्रामणी इकट्ठा होते थे।

मानव-वंश—
वैशाली, कारूष
और विदेह

हाँ तो, महाभारत से ९५ पीढ़ी पहले बिहार के पच्छिम अयोध्या और प्रतिष्ठान * में आर्यों के दो राज्य स्थापित थे, जो क्रम से मानव और ऐळ वंशों के थे। अयोध्या के मानववंश का संस्थापक विवस्वान् का पुत्र मनु कहा जाता है। उसके एक पुत्र नाभा-नेदिष्ठ ने पहले-पहल अयोध्या के पूरब बिहार में एक आर्य-राज्य को स्थापना की। आगे चलकर उसके वंश में विशाल

* गङ्गा-यमुना-संगम पर स्थित भूसी के पास के पीहन गाँव।

नाम का राजा हुआ, जिसके नाम से इस राज्य की राजधानी का नाम वैशाली पड़ा। सुविधा के लिए हम आरम्भ से ही इस राज्य को वैशाली-राज्य कहते हैं। नाभानेदिष्ठ के कुल-पुरोहित शुरू से आंगिरस गोत्र के ऋषि थे।

नाभानेदिष्ठ का पुत्र भलन्धन और पौत्र वत्स वैदिक ऋषि हैं। नाभानेदिष्ठ के नाम से भी कुछ सूक्त ऋग्वेद में हैं। परन्तु, संभवतः वे उसके नाम पर किसी पिछले कवि की रचनाएँ हैं।

मनु का एक पुत्र करुप था। उसके वंशजों के गंगा के दक्खिन—वर्त्तमान मिर्जापुर, शाहाबाद जिलों में—जा बसने से उस प्रदेश का नाम कारुष पड़ा। कारुप लोग प्रसिद्ध योद्धा थे।

शतपथब्राह्मण में कहानी है कि माथव विदेघ (ह) और उसका पुरोहित गौतम राहुगण ऋषि सरस्वती नदी के तट से अग्नि-वैश्वानर के पीछे-पीछे सदानीरा (गण्डक) तक आए। नदी के इस पार पहले कभी अग्नि के न जलने से ब्राह्मण उसके पूरब कभी न गए थे। अग्नि ने माथव विदेघ को उस प्रदेश में बसने का आदेश दिया और तब से सदानीरा, कोशल और विदेह की सीमा निश्चित हुई।

इस कहानी से मालूम होता है कि विदेहों का जन, सरस्वती नदी के काँठे से उठकर, सदानीरा के पार के जंगलों को जला और साफ कर वहाँ बस गया था।

मनु के बाद इक्ष्वाकु का एक पुत्र निमि या नमिशाप्य विदेहों

का राजा बना। उसकी राजधानी का नाम जयंत था। निमि का पुत्र मिथि हुआ। उसके नाम से विदेह की राजधानी मिथिला कहलाने लगी। उसका पुरोहित गौतम राहुगण ऋषि था। संभवत: माथव विदेघ ही राजा मिथि जनक था। उसके बाद जनक मिथिला के राजाओं का पद हो गया।

ऐळ-वंश —काशी-राज्य और ययाति के वंशज

प्रतिष्ठानवाले ऐळ-वंश में इक्ष्वाकु का समकालीन राजा पुरूरवा हुआ, जिसके पुत्र आयु के एक लड़के क्षत्रवृद्ध ने प्रतिष्ठान के पूरब और गंगा के उत्तर वर्त्तमान बनारस के प्रदेश में एक नया राज्य स्थापित किया, जो बाद में उनके एक वंशज राजा काश (पुरूरवा से नवीं पीढ़ी) के नाम से काशी कहलाने लगा। काश के दो भाई शुनक और गृत्समद थे, जिनके नाम से शौनक और गृत्समद नाम के दो ऋषि-गोत्रों का प्रचलन हुआ।

प्रतिष्ठान में आयु का पुत्र नहुष और पोता ययाति बड़े प्रतापी राजा थे। ययाति ने सारा गंगा-जमना का दोआब और उससे सटा हुआ दक्खिनी और पच्छिमी प्रदेश, कारुष से पूर्वी पंजाब तक, जीतकर अपने चार लड़कों—तुर्वसु, यदु, द्रुह्यु और अनु—में बाँट दिया। इस प्रकार कारुष का मानव-राज्य समाप्त होने पर वहाँ तुर्वसु का आधिपत्य स्थापित हो गया। उसके पच्छिम केन से चम्बल नदी तक यदु को, चम्बल के उत्तर और जमना के पच्छिम के प्रदेश में द्रुह्यु को और गङ्गा-जमना-दोआब का

उत्तरी भाग अनु को मिला। प्रतिष्ठान के मुख्य राज्य पर ययाति के बाद उसका सबसे छोटा लड़का पुरु गद्दी पर बैठा। इस प्रकार काशी और कारूष में ऐळों के विस्तार से दक्खिनी बिहार में मानवों की प्रगति रुक गई, और अयोध्या तथा उत्तरी बिहार को छोड़ उत्तर भारत के अधिकांश पर ऐळों का अधिकार हो गया।

सम्राट् मान्धाता और हैहय-वंश

मनु की उन्नीसवीं पीढ़ी में राजा प्रसेनजित् (प्रथम) के समय से अयोध्या का राज्य फिर चमकने लगा। उसके समय में काशी में धन्वन्तरि नाम का राजा हुआ, जो आयुर्वेद का प्रथम आचार्य और देवता समझकर पूजा जाता है। प्रसेनजित् के पुत्र युवनाश्व (द्वितीय) का विवाह पौरव राजा मतिनार की लड़की गौरी से हुआ था। उनका लड़का मान्धाता बड़ा विजेता था। उसके एक पीढ़ी पहले यादव राजा शशविन्दु चम्बल के उत्तर द्रुह्युओं के देश में अपना राज्य बढ़ा रहा था। शशविन्दु की लड़की विन्दुमती से मान्धाता का विवाह हुआ। उसने शीघ्र ही अयोध्या के दक्खिन प्रतिष्ठान के पौरव राज्य को समाप्त कर, और आनवों को पच्छिम खदेड़, सारे गङ्गा-जमना-दोआब और पंजाब के पूर्वी भाग पर अधिकार कर लिया। पूरब में विदेह, वैशाली और काशी के राज्य उसके अधीन थे। दक्खिन में यादवों की एक शाखा हैहय, चम्बल के निचले काँठे से रेवा (नर्मदा) तक, फैली थी। मान्धाता या उसके पुत्रों ने रेवा तक का प्रदेश जीता और उसके तट पर या उसके बीच एक टापू में एक नगरी की

स्थापना की। उसके पुत्र पुरुकुत्स की रानी नर्मदा से रेवा नदी को नर्मदा नाम मिला।

पुरुकुत्स के पुत्र त्रसदस्यु के समय अयोध्या के राज्य में जरा शिथिलता आते ही हैहयों ने राजा महिष्मन्त के नेतृत्व में सिर उठाया। महिष्मन्त ने अयोध्या-राज्य के नर्मदा-तटवाले सब थानों को छीन और मान्धाता की नगरी का नाम अपने नाम पर माहिष्मती रख कर उसे अपनी राजधानी बना ली। उसके पुत्र भद्रश्रेण्य के समय में हैहय उलटे मध्यदेश (गंगा-यमुना-प्रदेश) पर हमले करने लगे। काशी में राजा धन्वन्तरि के बाद उसका पोता भीमरथ मान्धाता का समसामयिक और अयोध्या के अधीन था। भीमरथ के उत्तराधिकारी से हैहयों ने राज्य छीन लिया। भद्रश्रेण्य ने काशी की राजधानी वाराणसी (बनारस) को ले अपनी राजधानी बनाई। पर भद्रश्रेण्य के बाद काशी के राजा दिवोदास (प्रथम) ने बनारस पर हमला कर भद्रश्रेण्य के वंश का मूलोच्छेद कर दिया। सिर्फ दुर्दम नाम का बच्चा बचा, जिसे उसने छोटी उम्र का देख छोड़ दिया। बड़ा होने पर दुर्दम ने काशी-राज्य पर फिर हमले किए।

अंग राज्य की स्थापना

उधर मान्धाता के बाद पंजाब में आनव भी राजा महाशाल और महामना के नेतृत्व में प्रबल हो उठे। उन्होंने अयोध्या-राज्य पर धावे शुरू किए और अपना अधिकार सप्तद्वीपा वसुमती—जेहलम से गोमती नदी तक के सात दोआबों—पर फैला लिया।

आनवों और हैहयों के आक्रमणों से अयोध्या-राज्य के अत्यधिक क्षीण हो जाने से पड़ोस की—जिला आजमगढ़, गाजीपुर और गंगा के दक्खिन विन्ध्याटवी की—जंगली जातियों ने भी उपद्रव मचाना शुरू किया। अयोध्या का राजा अनरण्य इस प्रकार रावण* से लड़ाई में मारा गया। इसी तरह क्षेमक नामक राक्षस ने वाराणसी छीन ली। तब काशी के राजा दिवोदास को गोमती नदी पर दूसरी वाराणसी बसाकर रहना पड़ा। महामना के एक पुत्र तितिक्षु ने इस समय दुर्दशाग्रस्त कोशल (अवध) को पार कर विदेह और वैशाली राज्यों के और पूरब—वर्त्तमान मुंगेर, भागलपुर के प्रदेश में—एक नए आनव-राज्य की नींव डाली। वह पूर्वी आनव-राज्य था। आगे चलकर वहाँ एक राजा अंग हुआ, जिसके नाम से उस प्रदेश का नाम अंग † हो गया।

आरम्भ से ही प्रतिष्ठान के पच्छिम गंगा के किनारे ऐलों का एक दूसरा राज्य कान्यकुब्ज में था। वहाँ के एक राजा जह्नु का विवाह मान्धाता की लड़की से हुआ था। जह्नु की छठी पीढ़ी में राजा कुश हुआ। कुश के पोते गय आमूर्त्तरयस ने पूर्वी

मगध की पहली आर्यबस्ती

* यह रावण स्पष्टतः दाशरथि राम का समकालिक नहीं हो सकता। पार्जीटर ने बताया है कि रावण शब्द द्रविड़ भाषा के इरैवण शब्द का संस्कृत रूप है, जिसका अर्थ प्रभु या स्वामी है।

† कुछ विद्वानों का विचार है कि अंग नाम एक मुण्ड शब्द के आधार पर पड़ा।

आनव-राज्य की स्थापना के लगभग ही उपद्रव-पीडित काशी राष्ट्र को पारकर गंगा के दक्खिन, कारूप के तुर्वसु-राज्य के पूरब, गया नाम की आर्यों की एक बस्ती पहले-पहल बसाई। गय आमूर्त्तरयस की गिनती आर्यावर्त्त के प्रसिद्ध राजाओं में है, एवं उसकी यज्ञों में दी हुई दान-दक्षिणा के अत्युक्तिपूर्ण वर्णन अनुश्रुति में सुरक्षित हैं * ।

कन्नौज में गय का समकालीन कुश का पोता गाधि था। उसने हैहय राजा कृतवीर्य के पुत्र कार्त्तवीर्य अर्जुन से झगड़ा कर भागे हुए उसके कुलपुरोहित ऋचीक भार्गव से अपनी लड़की सत्यवती का विवाह किया। उनका लड़का जमदग्नि ऋषि हुआ। गाधि के पुत्र—सत्यवती के छोटे भाई—विश्वरथ ने राज्य छोड़ ब्राह्मणवृत्ति धारण की और अपना नाम बदलकर विश्वामित्र रख लिया। विश्वामित्र अपने जमाने का एक बड़ा ऋषि, विचारनेता और बुद्धिमान व्यक्ति था। उसके प्रयत्नों से अयोध्या-राज्य का गृहकलह शान्त हुआ और राजा त्रिशंकु गद्दी पर बैठा। मध्यदेश के अधिकांश राज्य अब हैहय अर्जुन से, जो एक बड़ा विजेता था, आक्रान्त हो चुके थे। नर्मदा से हिमालय-पर्यन्त उसका प्रभुत्व छाया हुआ था। उसके राज्यकाल के अन्त में हैहयों द्वारा जमदग्नि भार्गव का अपमान और वध होने पर भार्गव-हैहय झगड़े ने नया

रोहिताश्वपुर

* ऋग्वेद १० । ३६ । १७ के ऋषि प्लाति के पुत्र गय को कई विद्वानों ने अमूर्तरयस के पुत्र गय से एकता मानी है, जो संभव है ।

रूप धारण किया। जमदग्नि का विवाह अयोध्या के राजवंश की एक कुमारी रेणुका से हुआ था। इस तरह भार्गव अब कन्नौज और अयोध्या के राजवंशों से संवद्ध थे। जमदग्नि के पुत्र राम (परशुराम) ने, जो एक असाधारण सेनापति प्रतीत होता है, उक्त दोनों राज्यों की सहायता से, हैहयों का पूर्ण दमन किया तथा अर्जुन और उसके पुत्रों को लड़ाई में मार अपने पिता के खून का पूरा बदला चुकाया। अयोध्या का राज्य अपने मित्र कन्नौज-राज्य के सहयोग और जामदग्न्य राम की विजयों के कारण काफी सशक्त हो गया। दक्खिन काशी और तुर्वसु-राज्य अब उसके संरक्षण और प्रभाव में प्रतीत होते हैं। त्रिशंकु के पुत्र राजा हरिश्चन्द्र ने दक्खिन की जंगली जातियों पर नजर रखने के लिए कारुप के दक्खिन-पूरबी छोर पर, बनारस से गया जाने के पुराने रास्ते पर, जहाँ दक्खिन से सोन की दून होकर आनेवाला पहाड़ी रास्ता मैदान में उससे मिल सोन पार करता है, नाकाबन्दी की और अपने पुत्र रोहिताश्व के नाम पर उसका रोहित-(रोहिताश्व)-पुर नाम रक्खा।

हैहय लोग जामदग्न्य राम और हरिश्चन्द्र के सामने कुछ दब गए थे। पर हरिश्चन्द्र के बाद अर्जुन के पोते तालजंघ और उसके उत्तराधिकारी वीतिहोत्र के समय में उनकी बहुत-सी शाखाएँ, खम्भात से गंगा-जमना-दोआब और काशी तक, धावे मारने लगीं।

काशी-वैशाली का हैहयों से संघर्ष

कन्नौज का राजवंश उन्होंने समाप्त कर दिया। काशी का राजा हर्यश्व गंगा-यमुना-संगम पर उनसे लड़ता हुआ मारा गया; अयोध्या के राजा बाहु को (रोहित से पूर्वी पीढ़ी में) अपना राज्य छोड़ जंगलों में भाग जाना पड़ा, और काशिराज हर्यश्व के उत्तराधिकारी सुदेव तथा उसके पुत्र दिवोदास (द्वितीय) को भागकर वैशाली-राज्य में शरण लेनी पड़ी। तब हैहय तालजंघों की विजय-रेखा वैशाली और विदेह को छूने लगी। उन्होंने वैशाली के राजा करन्धम को घेरकर उसके पुत्र अवीक्षित को युद्ध में पकड़ लिया। पर अन्त में उन्हें हारना पड़ा। करन्धम, अवीक्षित और काशिराज दिवोदास ने उन्हें हराकर बिहार-प्रान्त की सीमा से खदेड़ दिया।

अवीक्षित का पुत्र मरुत्त आवीक्षित एक प्रतापी राजा था। उसने नागों * का पराभव किया और अपने राज्य की सीमा दूर-दूर तक फैला दी। वह एक चक्रवर्त्ती और सम्राट कहा गया है। उसने अपने पुरोहित संवर्त्त द्वारा कई बड़े-बड़े यज्ञ कराए और प्रचुर धन दान दिया तथा अपनी लड़की का विवाह संवर्त्त से कर दिया। इसी समय अयोध्या के भागे हुए राजा बाहु के

* नाग एक आर्येतर मनुष्य-जाति थी। नागपूजक होने से उसका नाम नाग पड़ा होगा। वे लोग आरम्भ से ही नर्मदा के ऊपरी काँठे और गंगा के दक्खिन विन्ध्यमेखला में रहते थे। वहाँ से वे उत्तर भारत में फैले। शायद वे हैहयों की सेना के साथ भरती के सिपाही बन मध्यदेश में आए हों, जहाँ संभवतः अब उनका कोई राज्य कायम था।

पुत्र सगर ने बड़ा होने पर अपनी शक्ति का संगठन कर तालजंघों को अयोध्या से भी निकाल दिया। उधर काशी में राजा दिवोदास (द्वितीय) के बाद राजा प्रतर्दन हुआ। प्रतर्दन और सगर ने हैहयों की शक्ति का, उनके अपने देश पर चढ़ाई कर, समूल ध्वंस कर डाला।

काशी में प्रतर्दन के बाद क्रम से वत्स और अलर्क राजा हुए। प्रतर्दन ने हैहयों के हराने में काफी भाग लिया, पर बनारस नगर पर उसका अधिकार न हो पाया था। वहाँ सम्भवतः तबतक राक्षसों (क्षेमक के वंशजों) का ही अधिकार जमा हुआ था। वत्स या अलर्क ने उसका उद्धार किया। सगर की मृत्यु के बाद वत्स ने पच्छिम कौशाम्बी * तक का प्रदेश—अर्थात् पुराना पौरव राज्य—भी जीत लिया। वह तब से उसके नाम पर वत्सभूमि कहलाने लगा। काशिराज अलर्क का शासन बहुत समृद्ध और लम्बा था। महर्षि अगस्त्य की पत्नी और विदर्भराज भीमक्रथ की पुत्री लोपामुद्रा की, जो स्वयं एक ऋषि थी, अलर्क पर बड़ी कृपा थी।

कारुष के तुर्वसु-राज्य में मरुत्त का समकालीन राजा करन्धम प्रसिद्ध है। करन्धम का पुत्र मरुत्त संभवतः सगर के समय में था। पौरव-राज का अंत तो मान्धाता के समय में ही हो चुका था। उस समय तुर्वसु देश में पौरव-वंश का दुष्यन्त नाम का कोई राजकुमार रहता था, जिसे तुर्वसु मरुत्त कारन्धम

* प्रयाग के ४० मील ऊपर जमना के उत्तरी तट पर आजकल के कोसम गाँव।

ने, पुत्र के अभाव में, गोद ले लिया था। सगर की मृत्यु के बाद इसी दुष्यन्त ने गंगा-जमना-दोआब के उत्तरी अंश में हस्तिनापुर * का नया पौरव-राज्य कायम किया।

पूर्वी आनव-राज्य में सगर के समकालीन राजा वलि का नाम प्रसिद्ध है। आंगिरस ऋषि वैशाली के कुल-परम्परागत पुरोहित होते थे। राजा करन्धम के आंगिरस पुरोहित का लड़का उशिज आंगिरस था। उसके तीन लड़के उचथ्य, वृहस्पति और संवर्त्त थे। आंगिरसों ने काशिराज दिवोदास (द्वितीय) को, हैहयों के डर से भागने पर, शरण दी थी। अतः दिवोदास ने आंगिरस वृहस्पति को अपना पुरोहित बना लिया था।

राजा वलि, महर्षि दीर्घतमा

संवर्त्त का जिक्र पहले किया जा चुका है। वह वैशाली के राजा मरुत्त आवीक्षित का पुरोहित था। उचथ्य की स्त्री ममता से दीर्घतमा नाम का एक पुत्र हुआ, जो—कहते हैं—जन्मान्ध (क्षीणदृष्टि) था और युवावस्था में दुराचारी होने से भाई-बन्दों के द्वारा गंगा में एक बेड़े पर बिठा निर्वासित कर दिया गया था। राजा वलि ने उसे गंगा से निकाला। उसने वहाँ कक्षीवती नाम की एक शूद्रा स्त्री से विवाह किया। उसके लड़के कक्षीवन्त कहलाए। वलि के कोई सन्तान न थी। अतः राजा की प्रार्थना पर दीर्घतमा ने उसकी रानी सुदेष्णा से नियोग कर कई संतानें पैदा कीं, जिनमें बड़ा लड़का अंग वलि का उत्तरा-

* मेरठ जिले में आधुनिक हसनापुर।

धिकारी हुआ। कहते हैं, उसके नाम से वह प्रदेश अंग कहलाने लगा। बाकी पुत्रों ने पूरब वंग, कलिंग (उड़ीसा-तट), पुंड्र (पुर्णिया और राजशाही) और सुम्ह (मेदिनीपुर) की नई आर्य बस्तियाँ बसाईं। ऋग्वेद में दीर्घतमा और उसके पुत्र कक्षीवन्तों के बहुत-से सूक्त हैं। दीर्घतमा अपने जमाने के एक महान् ऋषि और व्यवस्थापक थे। कहते हैं, स्थिर रूप से विवाह की प्रथा दीर्घतमा ने ही चलाई।

दीर्घतमा का समकालीन दुष्यन्त-शकुन्तला का पुत्र भरत एक बहुत प्रतापी राजा था। महर्षि दीर्घतमा ने भरत का ऐन्द्राभिषेक कराया। भरत के कोई सन्तान न थी। दीर्घतमा के मन्त्र (सलाह) से मरुत्तों (संभवतः वैशाली के राजा मरुत्त के वंशजों) ने उसे वितथ भरद्वाज (दीर्घतमा के चचा बृहस्पति और माता ममता के पुत्र भरद्वाज के पुत्र या पोते) को गोद दिया। उसके वंश में आगे चलकर वेद के अधिकांश ऋषि और अनेक प्रतापी राजाओं ने जन्म लिया।

वैशाली-वंश में मरुत्त आवीक्षित से दस-बारह पीढ़ियाँ बाद राजा तृणविन्दु हुआ, जिसकी लड़की इळविळा का विवाह पुलस्त्य नामक किसी अनार्य युवक से हुआ था। उसकी सन्तति में कुवेर आदि यक्ष और पौलस्त्य राक्षसों का होना कहा जाता है। तृणविन्दु का पोता राजा विशाल था, जिसके नाम पर विशाला (वैशाली) नगरी बसी।

विदेह के जनक-वंश में राजा सीरध्वज जनक अयोध्या के राजा दशरथ के समकालीन थे। वैशाली में उनका समकालीन राजा प्रमति था, जिसके बाद वह प्रदेश भी विदेह-राज्य में मिल गया। सीरध्वज के समय में अंग में लोमपाद दशरथ राज करता था, जिसकी कन्या शान्ता का विवाह अयोध्या के राजा दशरथ को पुत्रेष्टि यज्ञ करानेवाले ऋष्यशृंग ऋषि से हुआ था। सीरध्वज जनक की पुत्री सीता और दाशरथि राम की कहानी हमारे देश का बच्चा-बच्चा जानता है। भारत का इतिहास सीता-सरीखी अनेक मैथिल कुमारियों के चरित्रों से अलंकृत है, जिनका आगे यथास्थान उल्लेख होगा।

विदेह के जनक और वैशाली-वंश का अन्त

सीरध्वज के बाद से महाभारत-युद्ध तक के जनकों के केवल नाम ही प्राप्त हैं; किसी विशेष घटना का उनके साथ उल्लेख नहीं है।

अयोध्या के राजा रामचन्द्र ने अपना राज्य अपने और अपने भाइयों के पुत्रों में बाँट दिया, जिसमें लक्ष्मण के पुत्र चन्द्रकेतु को मल्लों के देश में स्थापित किया।

कन्नौज के राजकुमार गय द्वारा गया जिले में आर्य बस्ती के बसाए जाने का उल्लेख हो चुका है। पौरव दुष्यन्त और भरत के वैशालीवाले आंगिरस पुरोहितों के वंश का जिक्र भी किया जा चुका है। उस वंश को, आगे चलकर, पौरव और पांचाल—दो शाखाएँ हो गईं।

मगध में बृहद्रथ-वंश

पांचालों की भी फिर दो शाखाएँ थीं। गंगा और रामगंगा के बीच आजकल का रुहेलखण्ड उत्तर-पंचाल था और गंगा के दक्खिन तरफ आजकल के फरूखाबाद, मैनपुरी, एटा जिले दक्खिन पञ्चाल थे। उत्तर-पंचाल का राजा सुदास, जो दाशरथि राम से दो पीढ़ी बाद हुआ, बड़ा प्रतापी था। उसने पौरव राजा संवरण और उसके सहयोगी पंजाब के राज्यों की सम्मिलित सेना को सतलज और व्यास के किनारे हराकर वहाँ किसी विश्वामित्र की सहायता से बड़ा यज्ञ किया। उस अवसर पर विश्वामित्र द्वारा बनाई गई एक ऋचा में इन्द्र से प्रार्थना की गई है कि "कीकटों में वे गायें क्या करती हैं, जिनका दूध न यज्ञ में तेरे काम आता है, न सोम के साथ मिलकर पात्रों को गरम करता है। हे इन्द्र, उन नैचाशाख प्रभगन्दों का वह धन हमें दिला दो।"

कीकट का अर्थ वैदिक विद्वान मगध करते हैं। इससे मालूम होता है कि गय की बसाई हुई बस्ती तबतक अनार्यों के समुद्र में डूब गई थी और आर्य लोग भी मगध में जाकर बसे हुए लोगों को हेय समझते थे। मगध के लोग अधिकांश में मुण्ड आदि अनार्य जातियों के थे। ऐतरेय ब्राह्मण (२।२१।१) में वंग, मगध और चेर (चेरो) जातियों को पक्षी (वयांसि) कहा है। मुण्ड-दन्तकथाओं के अनुसार मुण्डों की उत्पत्ति हंस जाति के एक पक्षी से हुई। पर इस समय शायद पच्छिम, उत्तर और पूरब (अंग) तीनों तरफ से आर्य प्रवासी मगध में जा-जाकर

बस रहे थे। उपर्युक्त ऋचा कहनेवाला ऋषि एक विश्वामित्र (विश्वामित्र प्रथम की शिष्य-परंपरा से) है। विश्वामित्र के कुछ पुत्रों का मगध, उत्कल आदि प्रदेशों में जा बसने का उल्लेख ब्राह्मण ग्रन्थों में है। ऋचा में नैचाशाख शब्द से संभवतः उन्हीं लोगों की तरफ इशारा है जो वहाँ नीच अनार्यों से संबंध कर बस रहे थे और आर्यों के कर्मकाण्ड की उपेक्षा करते थे।

मगध में व्यवस्थित रूप से आर्य-राज्य की स्थापना बहुत पीछे हुई। राजा सुदास के प्रतिद्वन्द्वी पौरव राजा संवरण का का उत्तराधिकारी कुरु था। कुरु की सातवीं पीढ़ी में राजा वसु हुआ। वसु का राज्य जमना के पच्छिम कहीं था, जहाँ से उसने चेदि, वत्स और काशी को लेकर मगध से मत्स्य तक अपना आधिपत्य जमा लिया×। वसु के बड़े लड़के बृहद्रथ ने गिरिव्रज में एक साम्राज्य की नींव डाली। काशी, वत्स, चेदि और मत्स्य में वसु के अन्य पुत्रों के राज्य थे। पर बड़ा होने से वे बार्हद्रथों (बृहद्रथ के वंशजों) की प्रधानता मानते थे। आरंभ में यह एक तरह से बार्हद्रथों के नेतृत्व में वासवों का—बराबर के भाइयों का—सम्मिलित राज्य (साम्राज्य) था। धीरे-धीरे बृहद्रथ की दसवीं पीढ़ी में, राजा जरासंध के समय तक, यह एकाधिपत्य में बदल गया। जरासंध एक बलवान,

---

× चेदि तब जमना के दक्खिन आजकल के उत्तरी बुन्देलखंड का नाम था। मत्स्य आजकल का अलवर प्रदेश है।

निरंकुश राजा था। उसने आर्यावर्त्त के अनेक राजाओं के प्रदेश छीनकर उन्हें कैदखाने में डाल रक्खा था।

जरासंध और महाभारत-युद्ध की कहानी सुपरिचित है, पर उसे ऐतिहासिक रूप में कहना अभीष्ट है। जरासंध हस्तिनापुर वाली पौरवों की मुख्य कौरव-शाखा के राजा धृतराष्ट्र का समकालीन था। शूरसेन (मथुरा, भरतपुर) और मत्स्य तक उसका साम्राज्य फैला था। पूरब तरफ वंग, पुण्ड्र (पुर्णिया, उत्तर बंगाल) और कलिङ्ग (उड़ीसा-तट) उसके राज्य के अन्तर्गत गिने जाते थे। उसका विरोध करने की हिम्मत तब भारत में किसी की न थी। शूरसेन देश में उसका एक दामाद कंस था, जिसने उसके बल पर अपने बूढ़े बाप राजा उग्रसेन को कैद में डाल मथुरा पर अधिकार कर लिया और प्रजा पर मनमाना अत्याचार किए। तंग आकर वहाँ के अंधक और वृष्णि यादवों ने वासुदेव कृष्ण के नेतृत्व में विद्रोह किया और कंस को मार डाला। पर जरासंध के कोप का मुकाबला न कर सकने पर अपनी स्वाधीनता की रक्षा के लिए उन्हें शूरसेन देश छोड़ कुशस्थली (द्वारका) को प्रवास कर जाना पड़ा।

जरासंध और भारत-युद्ध

हस्तिनापुर का राज्य धृतराष्ट्र से तीन-चार पीढ़ी पहले से चमक रहा था। राजा विचित्रवीर्य के दो लड़के थे, धृतराष्ट्र और पाण्डु। धृतराष्ट्र के जन्मान्ध होने से पाण्डु राजा बना, पर कम उम्र में ही उसकी मृत्यु हो जाने और उसके पाँचों लड़कों

के नाबालिग होने से राजकाज धृतराष्ट्र की ही देखरेख में चलता रहा। धृतराष्ट्र के दुर्योधन आदि बहुत-से (सौ) बेटे थे, जिन्हें कौरव कहते हैं, और उनसे भेद करने के लिए पाण्डु के पुत्रों को पाण्डव। कौरवों और पाण्डवों में परस्पर बनती न थी। अतः धृतराष्ट्र ने युधिष्ठिर को हस्तिनापुर-राज्य के दक्खिन, मत्स्य और शूरसेन राज्यों की सीमा पर, खाण्डव वन के जंगली इलाके का प्रदेश दे अलग कर दिया। उस जंगल को साफ कर पाण्डवों ने इन्द्रप्रस्थ राजधानी बसाई। उसके दक्खिन शूरसेन और मत्स्य तक जरासंध का विस्तृत राज्य फैला था, जहाँ यादवों के विद्रोह के कारण अव्यवस्था मची थी। पाण्डवों ने यादवों के नेता वासुदेव कृष्ण से मैत्री स्थापित की; उनके सहयोग से जरासंध को मारकर कैद में पड़े हुए राजाओं को स्वतंत्र कर दिया। इस कार्य से पाण्डवों की सर्वत्र धाक जम गई और मगध-साम्राज्य के दबे हुए अधिकांश राज्य पाण्डवों के प्रभाव में आ गए। पाण्डवों ने मगध-राज्य जरासंध के पुत्र सहदेव को दे दिया।

अंग में राजा विश्वजित् जरासंध का समकालीन था। जरासंध ने वह राज्य मगध में सम्मिलित कर लिया था। वहाँ का एक राजकुमार कर्ण कौरवों और पाण्डवों का सहपाठी तथा दुर्योधन का मित्र था। दुर्योधन के प्रभाव से वह अंग का राजा बना। उसके प्रभाव से उत्तर बिहार के राज्यों पर दुर्योधन का दखल बढ़ गया।

कौरवों और पाण्डवों की प्रतिस्पर्धा बहुत बढ़ी। दुर्योधन ने उन्हें नीचा दिखाने का कोई उपाय न देख जुए में हराकर १२ वर्ष वनवास और एक बरस अज्ञातवास करने को विवश किया। वनवास की अवधि समाप्त होने पर दोनों में पारस्परिक युद्ध हुआ, जिसमें आर्यावर्त्त के सब राजाओं ने किसी न किसी तरफ से भाग लिया। बिहार के विदेह और अंग राज्य कौरवों के पक्षपाती थे। बाकी मगध, मल्ल और काशी ने पाण्डवों का पक्ष लिया। विदेह का राजा जनक कृतक्षण, अंग का कर्ण और उसका लड़का विश्वसेन तथा सहदेव इस लड़ाई में मारे गए। युद्ध में युधिष्ठिर विजयी होकर भारत का सम्राट् बना, पर कौरव-राज्य को इस युद्ध से इतना धक्का लगा कि युधिष्ठिर के बाद भारत का राजनीतिक केन्द्र पच्छिम से उठ फिर अधिकांश काल के लिए बिहार में आ गया।

बिहार के पहले आर्य उपनिवेश-संस्थापकों का, जिन्होंने इस प्रान्त के जंगलों को जलाकर और दलदलों को सुखाकर इसे बसने योग्य भूमि बना दिया, यह संक्षिप्त वृत्तान्त है। उनके आने के पूर्व यह प्रान्त घने जंगलों और दलदलों से ढका था, जिनमें हिंस्र पशु और नरभक्षक जंगली जातियां के लोग विचरते थे। इसी से बिहार में आर्य उपनिवेश-स्थापकों का प्रवेश बहुत धीरे-धीरे हुआ। इसी कारण बहुत पिछले काल तक ऊपरी गंगा-काँठे के निवासियों के लिए मगध वर्जित प्रदेश समझा जाता रहा। उपनिवेशों के बसानेवाले पराक्रमी सदा तीव्रबुद्धि और

सूझवाले होते हैं। उन्हें जीवन के बँधे हुए रास्ते को लाँघकर चलने में ही आनंद आता है। एक जगह की अवस्थिति और एकरस जीवन उन्हें दूभर लगता है, और समाज के नियमों और परम्पराओं के लिए उन्हें मोह नहीं होता। बिहार के आर्य उपनिवेश-स्थापक इसी किस्म के लोग थे।

तीसरा अध्याय

महाजनपद तथा पहला मगध-साम्राज्य

ब्रह्मवादी जनक

महाभारत-युद्ध के बाद के पिछले वैदिक वाङ्मय में उपनिषद् ग्रन्थ प्रसिद्ध हैं। उनमें विदेह के कई राजा जनकों की सभाओं का वर्णन समकालीन घटनाओं के रूप में दिया जान पड़ता है।

आर्यावर्त्त का राजनीतिक केन्द्र कुछ समय के लिए बिखर जाने पर बिहार के ये जनपद स्वतंत्र रूप से विकसित होने लगे। इनमें सबसे पहले विदेह का उत्कर्ष उल्लेखनीय है, जहाँ के जनकों का वंश बहुत पुराने समय से शासन कर रहा था, और अब भारत के प्रसिद्धतम राजवंशों में एक था।

जनक कृतक्षण का, जो महाभारत-युद्ध में कौरवों की तरफ से सम्मिलित हुआ था, उल्लेख हो चुका है। उसके बाद इन्द्रद्युम्न का बेटा उग्रसेन ऐन्द्रद्युम्नि या बहुलाश्व बहुत प्रसिद्ध हुआ। उसका असली नाम पुष्करमाली था। उग्रसेन और बहुलाश्व दोनों संभवतः उसके विरुद थे, जो उसकी सैनिक शक्ति को प्रकट करते हैं। परन्तु इन जनकों की प्रसिद्धि उनकी राज्य-शक्ति की अपेक्षा उनके विद्या-प्रेम और दार्शनिक चिन्तन के

प्रोत्साहन के लिए अधिक थी। इनकी सभा में दूर-दूर से विद्वान और दार्शनिक इकट्ठे होते और जीवन की समस्याओं पर विचार करते थे। उपनिषदों के कई प्रसिद्ध विद्वान उद्दालक, आरुणि (अरुण का पुत्र) आदि इसी समय में हुए। उद्दालक का एक शिष्य कहोड था, जिससे उद्दालक ने अपनी लड़की ब्याह दी थी। कहानी है कि अपनी स्त्री के गर्भवती होने पर, धन की चिन्ता में, कहोड, राजा जनक की सभा में पहुँचा। वहाँ वरुण का पुत्र वन्दी अपने जमाने का एक अद्वितीय दार्शनिक था। विद्वानों में पारस्परिक प्रतिस्पर्धा उन दिनों बहुत चलती और कभी-कभी द्वन्द्व-युद्ध की तरह जीवन की बाजी तक लग जाती थी। कहोड और वन्दी में इसी तरह की ठन गई। वन्दी ने, कहोड को, वाग्द्वन्द्व में हार जाने पर, पानी में डुबवाकर मरवा दिया। कहोड की स्त्री ने तब अपने पिता उद्दालक के आश्रम में शरण ली। उसके अष्टावक्र नामक पुत्र हुआ। वह उद्दालक के पुत्र श्वेतकेतु का समवयस्क था। उसने बड़ा होने पर राजा 'उग्रसेन' जनक की सभा में वन्दी को परास्त कर अपने पिता का बदला लिया।

'उग्रसेन' जनक का उत्तराधिकारी कृति जनक हस्तिनापुर के उस राजा अधिसीम कृष्ण का समकालीन था, जिसके समय में नैमिषारण्य में ऋषि लोग यज्ञ करते थे। उसी यज्ञ में सूतों ने पहले-पहल वेदव्यास द्वारा संकलित पुरानी अनुश्रुति का संग्रह—पुराण—ऋषियों को सुनाया।

कृति के बाद जनक देवरात हुआ। प्रसिद्ध ऋषि याज्ञवल्क्य वाजसनेय उसीकी सभा में था। जनक की तरह याज्ञवल्क्य भी एक घराने का नाम है। इससे पहले दो-तीन और याज्ञवल्क्यों के नाम अनुश्रुति में मिलते हैं।

राजा देवरात के एक बड़े यज्ञ में कुरुपाञ्चालों के बहुत-से विद्वान, ऋषि और विचारक इकट्ठे हुए थे। जनक ने, इस मौके पर, यह जानने के लिए कि उनमें बड़ा विद्वान कौन है, एक हजार गायों के सींगों पर सोने के दस-दस पाद (उस जमाने की सुवर्णमुद्रा निष्क की एक-चौथाई) बँधवाकर, परिषद् से कहा कि आपमें जो सबसे बड़ा विद्वान हो वह इन्हें ले जाय। याज्ञवल्क्य ने अपने शिष्य सामश्रवा को गायें हाँक ले जाने को कहा। इस पर दूसरे लोगों ने उससे प्रश्न पूछना शुरू किया। उसने एक-एक का जवाब दिया। तब बूढ़ा उद्दालक आरुणि उठा, जो याज्ञवल्क्य के मातृपक्ष से था। उसके भी हारने पर गार्गी नाम की विदुषी दुबारा बोली—"ब्राह्मणो, महाशयो, मैं उससे दो प्रश्न और पूछ लूँ, यदि इन्हें भी बता दे तो आपमें से कोई उसे जीत न सकेगा।"

गार्गी ने कहा—"याज्ञवल्क्य, जैसे कोई काशी या विदेह का नौजवान योद्धा धनुष के चिल्ले पर कालव्याधि-रूप दो-दो बाण चढ़ाकर खड़ा हो वैसे ही आपके सामने ये दो प्रश्न लेकर मैं उपस्थित हूँ; कहिए।"

पर जब याज्ञवल्क्य ने गार्गी के प्रश्नों का भी जवाब दे दिया, तब कुरुपाञ्चाल ब्राह्मणों को हार माननी पड़ी। तब, देवमित्र शाकल्य 'विदग्ध' मुकाबले के लिए उठा। देवमित्र शाकल (स्यालकोट, पंजाब) का रहनेवाला था, इसलिए शाकल्य कहलाता, और उसे अपने ज्ञान का बड़ा घमण्ड था, इससे उसे विदग्ध (अभिमानी) कहते थे। शाकल्य और याज्ञवल्क्य की होड़ इतनी बढ़ी कि उनमें यह शर्त्त हो गई—जो हारेगा उसका सिर धड़ से उतर जायगा! अन्त में याज्ञवल्क्य की विजय हुई।

जनक देवरात के बाद उसके एक पुत्र देवराति और तब जनक जनदेव का नाम मिलता है। याज्ञवल्क्य का एक शिष्य

सांख्यकार कपिल

आसुरि था, जिसका शिष्य पञ्चशिख जनक जनदेव का समसामयिक और गुरु था। महाभारत * के अनुसार पञ्चशिख कपिला का लड़का होने से कापिलेय या कपिल कहलाता था। जैन अनुश्रुति कपिला को कौशाम्बी (प्रयाग से ४० मील पच्छिम, यमुना-तट पर, कोसम गाँव) की रहनेवाली विधवा ब्राह्मणी बतलाती है। पञ्चशिख ने कोशल की राजधानी श्रावस्ती (गोंडा-बहराइच जिलों की सीमा पर आधुनिक सहेठ-महेठ) में शिक्षा पाई थी।

भगवान् बुद्ध के समय में, छठी शताब्दी ई० पू० में, विदेह में राजतन्त्र नहीं था। विदेह और वैशाली मिलकर तब एक

* शान्तिपर्व, अध्याय १३२७।

ही प्रजातन्त्र था और जनक-वंश का कहीं पता न था। कौटिल्य के 'अर्थशास्त्र'* में प्रसंगवश यह पूर्व-वृत्त दर्ज है कि "कराल नामक जनक कामवश ब्राह्मण-कन्या का अभिमनन करता हुआ बन्धु-बान्धव-सहित विनष्ट हो गया।"

विदेह में प्रजातन्त्र की स्थापना

अन्दाज किया जाता है कि इसी घटना से जनक-वंश का अन्त होकर विदेह में प्रजातंत्र स्थापित हुआ। प्रजातंत्र को उस युग में संघ अर्थात् समूह का राज्य कहते थे। संघ-राज्यों के मुकाबले में राजवंशों से शासित राज्य ऐकराज्य कहलाते थे।

विदेह के पश्चिम वैशाली के पुराने राष्ट्र में इस समय लिच्छिवि नाम की जाति बसी थी। लिच्छिवियों का सम्बन्ध शायद काशी के राजवंश से था। ऐसी कहानी है† कि काशी के किसी राजकुमार को, जो गंगा में बहा जाता था, वैशाली-प्रदेश के वज्जियों (ग्वालों) ने निकाला और पाला-पोसा था। बड़ा होने पर विदेह के जनक ने उसे उस प्रदेश का शासक नियुक्त कर दिया। लिच्छिवि क्षत्रिय उसी के वंशज थे। विदेह की राज्यक्रान्ति के बाद वज्जि-विदेह संघ-राज्य की राजधानी

* अश्वघोष के बुद्धचरित (४। ८०) में भी कराल के एक ब्राह्मण-कन्या के हर ले जाने और जातिच्युत किए जाने का उल्लेख है। पालि-ग्रन्थों में इस अन्तिम जनक का नाम कळार लिखा है।

† पो० हि० ए० इं०, पृष्ठ ६१।

मिथिला में न होकर वैशाली में स्थापित हुई *। लिच्छिवि राष्ट्र की पच्छिमी सीमा से सटे हुए मल्ल जनपद की राजधानी कुशावती या कुशीनगर थी। जातकों के अनुसार वहाँ भी पहले राजतंत्र था, पर बुद्ध के समय तक वहाँ भी संघ-राज्य कायम हो चुका था। मल्लों के पच्छिम शाक्यों का संघ था और उसके आगे हिमालय की तराई से होती हुई पञ्जाब तक, सारे पंजाब में और पञ्जाब से राजपूताना होती हुई काठियावाड़ और बरार तक, संघराज्यों की एक शृंखला चली गई थी। किन्तु मगध, जरासन्ध के युग से ही, बराबर साम्राज्य-भावना का केन्द्र था।

शिल्पी श्रेणियों और महा-जनपदों का विकास

आर्यों के जन (कबीले) ज्यों-ज्यों टिककर बसते गए त्यों-त्यों उनमें अपने प्रदेशों के लिए ममता बढ़ती गई। एक जन जिस स्थान पर बसा, वह उसका जनपद कहलाने लगा। धीरे-धीरे जनपद की एकता का भाव ही मुख्य हो गया, और जन की सगोत्रता का विचार उसके मुकाबले में फीका पड़ गया। किसी जन के व्यक्ति के लिए दूसरे जन के इलाके में जाकर बसना सुगम हो गया और उस जनपद में 'भक्ति' रखने से वह उसी जनपद का बन जाता। इस प्रकार राष्ट्र अब जन-

* विदेह और वैशाली राष्ट्रों की सीमा संभवतः बागमती नदी थी। बागमती और गंडक के बीच का प्रदेश अब भी बसारा कहलाता है। बसारा मुगल-काल में एक परगना था। —दे० हिस्ट्री ऑव तिरहुत, पृ० २०।

पदों के हो गए। जनपदों को देश भी कहते थे। ग्राम में भी अब जत्थे या 'खाँप' के विचार के बजाय बस्ती का विचार आ चुका था।

वैदिक युग के आर्य कृषक और पशुपालक थे। उनकी कृषि भी आरम्भिक रूप की थी। खाद का प्रयोग, कपास की खेती और बागवानी वे न जानते थे ! पिछले वैदिक और बौद्ध वाङ्मय में हमें पहले-पहल इन बातों का उल्लेख मिलता है। बौद्ध वाङ्मय में 'जातक' नाम की प्रायः साढ़े पाँच सौ अत्यन्त मनोरञ्जक कहानियाँ हैं। वे बुद्ध से पहले की जनसाधारण की कथाएँ हैं, जो बुद्ध के पूर्वजन्मों की कहानियाँ बनाकर बौद्ध वाङ्मय में मिला ली गई हैं।

जातकों के जमाने तक शिल्पों की खूब उन्नति हो चुकी थी। शिल्पों के विकास के कारण अनेक नगर भी बस गए थे। उन नगरों में एक-एक शिल्प के शिल्पियों का अपना-अपना संगठन था, जो 'श्रेणि' कहलाता था। प्रत्येक श्रेणि की अपनी सभा होती थी जो सब भीतरी मामलों का प्रबन्ध करती थी। ये श्रेणि-सभाएँ ठीक ग्राम-सभाओं के नमूने पर बनी हुई पंचायती संस्थाएँ थीं। नगर का प्रबन्ध श्रेणियों के प्रतिनिधि मिलकर करते थे, और नगरों की सभाओं को निगम कहते थे।

काशी राष्ट्र * की वाराणसी नगरी उत्तर भारत में शिल्प

---

* पुराने साहित्य में काशी नाम राष्ट्र या जनपद का था; और उसकी राजधानी का नाम वाराणसी था। बनारस शहर कभी काशी नहीं कहलाता था।

और व्यापार का प्रमुख केन्द्र थी। वहाँ की श्रेणियों का संगठन अत्यन्त पूर्ण था। श्रेणियों के पारस्परिक झगड़ों में पंच का काम करने के लिए, पहले पहल काशी राष्ट्र में ही, भांडागारिक नामक एक अधिकारी, राज्य की तरफ से, नियुक्त किया गया।

उस युग के साहित्य में ठठेरे, बढ़ई, जुलाहे, लोहार, चमार आदि १८ शिल्पों की श्रेणियाँ सुनी जाती हैं। बढ़ई लोग लकड़ी की छोटी-मोटी चीजों से लेकर बड़े-बड़े जहाज तक बनाते थे जिनमें पाँच-पाँच सौ, सात-सात सौ व्यापारी या यात्री यात्रा कर सकते थे। मछुआ, माली, धोबी, शिकारी आदि के काम भी नीच नहीं गिने जाते थे। प्रायः इन शिल्पों को धनिकों और राजाओं के लड़के भी सीखते थे। जातपाँत का भाव तब तक नहीं जमा था। एक श्रेणि के शिल्पी, दूसरा शिल्प सीखकर, उस श्रेणि में जा मिलते थे। विभिन्न श्रेणियों में विवाह-सम्बन्ध भी अक्सर होते थे।

शिल्प के विकास के साथ-साथ व्यापार का उन्नत होना भी स्वाभाविक था। व्यापारी लोग, सार्थों (काफलों) में, दूर-दूर के स्थानों में माल ले जाते थे। स्थल के सिवा जलमार्ग से वे ताम्रपर्णी (सिंहल) और दूसरे द्वीपों में भी जाते थे।

धीरे-धीरे, छोटे जनपदों के परस्पर मिलकर एक हो जाने से, या कुछ जनपदों के दूसरों को जीत लेने से, महाजनपदों की सृष्टि हुई। इस प्रकार के सोलह महाजनपदों की बात इस युग के साहित्य में बार-बार सुनी जाती है। इनकी गिनती नीचे लिखी

आठ जोड़ियों में की जाती है—(१) अंग-मगध, (२) काशी-कोशल, (३) वृजि-मल्ल, (४) चेदि-वत्स, (५) कुरु-पञ्चाल, (६) मत्स्य-शूरसेन, (७) अश्मक-अवन्ति, (८) गन्धार-कम्बोज।

इनमें पाँच—अंग, मगध, काशी, वृजि और मल्ल—बिहार में थे। इनकी सीमाओं का निर्देश पहले अध्याय में किया जा चुका है। इन पाँच में अंग, मगध और काशी ऐकराज्य, तथा वृजि और मल्ल संघ-राज्य थे।

शिल्प और व्यवसाय की इस समृद्धि के युग में पराक्रमी व्यापारी नए-नए द्वीपों और प्रदेशों की खोज में जाते और उनका 'परिग्रह' (जाँच, पैमाइश) करते। वे कभी-कभी उन प्रदेशों में बस भी जाते।

सुवर्णभूमि

उस युग में बंगाल से दक्खिनी चीन तक का इलाका एक विशाल जंगल था, जिसमें मुख्यत: मोन-ख्मेर जाति के लोग (भारत के मुण्ड आदि आग्नेय जातियों के सगोत्र) बसते थे। वे लोग तबतक निरे शिकारी थे और नव्याश्म हथियारों का उपयोग करते थे। उनमें अनेक 'पुरुषादक' (मनुष्य-भक्षक) भी थे। उन जंगली लोगों के देश में, जहाँ कोई बन्दरगाह या ठहरने के स्थान न थे, जाना बड़ी हिम्मत का काम था।

जातकों से मालूम होता है कि भारतीय व्यापारी ताम्रलिप्ति (जिला मेदिनीपुर में तामलूक) बन्दरगाह से पूर्वी समुद्र में और तट के रास्ते उन जंगली प्रदेशों में आते-जाते थे। उन लोगों ने उन प्रदेशों को सुवर्णभूमि नाम दिया था। जान पड़ता है कि

वह नाम वहाँ सोने की खानें निकल आने से पड़ा होगा। उस सोने के व्यापार की खातिर ही भारतीय व्यापारी वहाँ बड़ी संख्या में जाने और बसने लगे थे। सुवर्णभूमि में आधुनिक बरमा, स्याम, मलाया, हिन्दचीन और संभवतः सुमात्रा-जावा भी शामिल थे। सुमात्रा-जावा के लिए पृथक् सुवर्णद्वीप या यवद्वीप शब्द का भी प्रयोग होता था।

सुवर्णभूमि और पूर्वी द्वीपों से इस युग के बिहारियों का कितना सजीव सम्बन्ध था, यह भी जातक-कहानियों से प्रकट होता है। एक कहानी है कि काशी राष्ट्र में बढ़इयों का एक गाँव एक काम का ठेका और उसके लिए साई भी ले चुका था, पर पीछे उसे पूरा करने में उन्हें घाटा दिखाई देने लगा। जब उन पर वादा पूरा करने का दबाव डाला गया तब वह सारा ग्राम एक रात एक नाव में बैठ चुपके से गंगा में उतर गया और अन्त में समुद्र में पहुँच एक द्वीप में जा बसा।

ऐसी ही एक कहानी विदेह के एक राजकुमार महाजनक की है। विदेह की गद्दी के लिए दो भाइयों में झगड़ा होने पर एक भाई मारा गया था। उसकी गर्भवती विधवा ने भागकर चम्पा (भागलपुर) में एक ब्राह्मण के घर शरण ली। उस विधवा का लड़का महाजनक जब बड़ा हुआ, उसे मालूम हुआ कि उसके पिता को मारकर राज्य छीन लिया गया है; तब उसने अपना राज्य वापस लेने की ठानी, पर राज्य जीतने के लिए धन की जरूरत थी, इसलिए कुछ धन माता से लेकर वह

धन कमाने के लिए सुवर्णभूमि चला। उस जहाज में सात सौ और व्यापारी भी थे। पर पूर्वी समुद्र (बंगाल की खाड़ी) में उनका जहाज टूट गया। जनक-कुमार के दूसरे साथी जब घबरा रहे थे, तब वह जहाज के 'कूपक' (मस्तूल) पर चढ़ तेल आदि मलकर तैयार हो गया। अपने साथियों के लहू से लाल हुए पानी को पार करने के बाद सात दिन तक वह समुद्र में जहाज का कोई तख्ता थामे तैरता रहा। बंगाल की खाड़ी की अधिष्ठात्री देवी मणिमेखला उस समय सात दिन की छुट्टी पर देवताओं के एक समारोह में शामिल होने गई हुई थी। जनक-कुमार की इस विपत्ति की खबर पा वह अलंकृत रूप में आकाश में प्रकट हुई और बोली—"यह कौन है जो समुद्र के बीच, जहाँ तीर का कुछ पता नहीं है, हाथ-पैर मार रहा है? क्या अर्थ जान-कर—किसका भरोसा करके—तू इस प्रकार व्यायाम (उद्यम) कर रहा है?"

"देवि, मैं यह जानता हूँ कि लोक में जबतक बन पड़े, मुझे व्यायाम करना चाहिए। इसी से समुद्र के बीच, तीर को न देखता हुआ भी, उद्यम कर रहा हूँ।"

"इस गम्भीर अथाह में, जिसका तीर नहीं दीखता, तेरा पुरुष-व्यायाम (पुरुषार्थ) निरर्थक है, तू तट को पहुँचे विना ही मर जायगा!"

"क्यों तू ऐसा कहती है? व्यायाम करता हुआ मरूँगा भी, तो गर्हा (निन्दा, घृणा) से तो बचूँगा। जो पुरुष की तरह उद्यम

(पुरिसकिच्च = पुरुषकृत्य) करता है, वह अपने ज्ञातियों (कुटुम्बियों), देवों और पितरों के ऋण से मुक्त हो जाता है— और उसे पछतावा नहीं होता (कि मैंने अपने प्रयत्न में कोई कसर छोड़ी)।"

"किन्तु जो काम पार नहीं लग सकता, जिसका कोई फल या परिणाम नहीं दीखता, उसके लिए व्यायाम करने से क्या लाभ—जब मृत्यु का आना निश्चित ही है ?"

"जो यह जानकर कि मैं पार न पाऊँगा, उद्यम नहीं करता, यदि उसकी हानि हो, तो देवि, उसमें उसी के दुर्बल प्राणों का दोष है। मनुष्य अपने अभिप्राय के अनुसार इस लोक में अपने कार्यों की योजना बनाते और यत्न करते हैं; सफलता हो या न हो—यह देखना उनका काम नहीं। कर्म का फल निश्चित है देवि, क्या तू यहीं यह नहीं देख रही ? मेरे सब साथी डूब गए और मैं तैर रहा हूँ—तुझे अपने पास देख रहा हूँ ! इसलिए मैं व्यायाम करूँगा ही, जबतक मुझमें शक्ति है—जबतक मुझमें बल है, समुद्र के पार जाने के हेतु पुरुष-कार करता रहूँगा।"

इन उपदेश-भरी गाथाओं को सुनते-सुनते मणिमेखला ने अपनी बाहें फैला दीं और महाजनक को गोद में उठाकर मिथिला पहुँचा दिया।*

इस कहानी से प्रकट है कि मिथिला में प्रजातन्त्र-स्थापना

* 'रूपरेखा'—पृ० ३४६-७; एक दो शाब्दिक परिवर्त्तनों के साथ।

के पहले से ही चम्पा के लोग सुवर्णभूमि जाने-आने लग गए थे। महाजनक की इस कहानी में कल्पना का अंश मिल गया है; किन्तु इसमें सन्देह नहीं कि पूर्वी समुद्र में अनेक बिहारी युवकों के बहादुरी के वास्तविक कारनामों के आधार पर ही यह कहानी बनी थी।

ईसा-पूर्व की ९ वीं या १० वीं सदी में काशी के एक राजा विश्वसेन की पत्नी वामा से पार्श्व नाम का पुत्र पैदा हुआ।

तीर्थङ्कर पार्श्व

बिहार के लोग प्रायः वैदिक कर्मकाण्ड के विशेष पाबन्द न थे। वेद में ऐसे लोगों को व्रात्य कहा है। व्रात्य लोग यज्ञ आदि देवपूजा के बजाय सदाचार, व्रत, उपवास आदि आत्मशुद्धि के साधनों पर अधिक विश्वास रखते थे। पार्श्व भी उसी मार्ग का था। ३० वर्ष की उम्र तक गृहस्थी का सुख भोगने के बाद उसने विरक्त हो प्रव्रज्या ली और ८४ दिनों के ध्यान के बाद सब विकारों को जीतकर वह अर्हत् या जिन (जीतनेवाला) बन गया। वह जैनियों का २३ वाँ तीर्थङ्कर कहलाता है।

महाजनपदों की पारस्परिक होड़

काशी राष्ट्र उस समय समस्त आर्यावर्त्त में सबसे अधिक शक्तिशाली था। उसका विस्तार तब तीन सौ योजन था। वहाँ के ब्रह्मदत्त राजा बड़े प्रतापी थे। एक बार काशी-राज्य ने अंग और मगध दोनों पर अधिकार कर लिया था।*

---

* रूपरेखा, पृ० २१९।

मगध में इस बीच वृहद्रथ-वंश का राज्य जारी था। जरासन्ध के पुत्र सहदेव के बाद, उस वंश के अंत (लग० ७२७ ई० पू० *) तक, वहाँ ३२ राजाओं के शासन करने का उल्लेख मिलता है। मगध और अंग की, प्रमुखता के लिए, होड़ लगी रहती थी।

अन्दाजन ईसवी पूर्व की ८ वीं सदी के अन्तिम अंश में काशी का राजा शिशुनाक था। मगध के वृहद्रथ-वंश की समाप्ति पर मगध की प्रजा ने भी शिशुनाक को राजा वरण किया। इस प्रकार काशी और मगध राष्ट्र एक हो गए। शिशुनाक ने अपनी राजधानी मगध के गिरिव्रज (राजगृह के पास गिर्यक) में बनाई और बनारस में अपने लड़के काकवर्ण को काशिराज का पद देकर अपना प्रतिनिधि नियत किया। इसके बाद भी मगध का युवराज काशिराज होता था।

मगध का महत्त्व दिन-दिन बढ़ता गया; परन्तु काशी पर शैशुनाकों का अधिकार स्थिर न रह सका। उसपर उसके पड़ोसी कोशल-राज्य के भी दाँत गड़े थे। अन्दाजन ६६५ ई० पू० से कोशल ने काशी पर हमले शुरू किए। शिशुनाक के पड़पोते क्षेमवित्त उर्फ भट्टिय के समय कोशल का राजा कंस था। उसे 'महाकोशल' अर्थात् कोशल का महान् राजा कहते थे। उसने भट्टिय से काशी जनपद छीन लिया। पूरब तरफ अंग से भी भट्टिय को हारना

---

* इस अध्याय में जितनी तिथियाँ दी गई हैं, सब जायसवालजी के काल-गणनानुसार। अगली खोज से उनमें थोड़े हेरफेर की गुंजाइश हो सकती है।

पड़ा। पर उसके लड़के युवराज विम्बिसार ने अंगराज को मारकर अंग की राजधानी चम्पा (भागलपुर के चम्पानगर) पर अधिकार कर लिया। तब से मगध का युवराज काशी की जगह अंग का उपराज कहलाने लगा। कोशल में राजा महाकोशल का लड़का प्रसेनजित् था। उसने अपनी बहन का विवाह विम्बिसार से कर दहेज के रूप में स्नानचूर्ण के खर्च के लिए काशी में एक लाख की आमदनी की जागीर उसे दे दी। विम्बिसार प्रतापी राजा था। उसके बाद मगध की शक्ति बराबर बढ़ती गई।

वैशाली के लिच्छिवियों के नेतृत्व में विदेह और वज्जियों का संघ-राज्य इस समय पूर्ण समृद्ध था। उसकी राजधानी वैशाली अपने जमाने की समृद्धतम नगरियों में थी। उसके चारों तरफ तिहरा परकोटा था जिसमें स्थान-स्थान पर दरवाजे और गोपुर (बुर्ज) बने थे। वज्जियों के हर गाँव का सरदार राजा कहलाता। इस तरह के ७००७ राजाओं तथा उनके उप-राजा, सेनापति, कोषाध्यक्ष आदि का उल्लेख मिलता है। ये राजा अपने-अपने गाँवों के इन्तजाम में स्वतंत्र शासक थे। पर सम्पूर्ण राज्य के कामों के लिए इनकी एक परिषद् थी, जिसका चुना हुआ प्रधान वज्जि-संघ का राजा या राष्ट्रपति होता। इन राजाओं और इनकी रानियों के बाकायदा अभिषेक होते थे। इसके लिए वैशाली में एक 'अभिषेक-मंगल-पुष्करिणी' थी, जिसपर कड़ा

वर्धमान महावीर

पहरा रहता और चारों तरफ लोहे का जँगला और ऊपर भी लोहे की जाली लगी थी, ताकि कोई दूसरा व्यक्ति उसके जल का उपयोग न कर सके।

मनुस्मृति में लिच्छिवि, विदेह, मल्ल आदि जातियों को व्रात्य कहा है, जिसका कारण संभवतः यह था कि उनका राज्य प्रजासत्तात्मक था और वे जातियाँ वैदिक कर्मकांड की परवा न करती थीं। इस समय वज्जिसंघ का राजा विदेह-पुत्र चेटक था। उसकी बहन त्रिशला वैशाली के निकट कुण्ड ग्राम के वज्जियों के ज्ञात्रिक * कुल के राजा सिद्धार्थ से ब्याही थी।

त्रिशला और सिद्धार्थ पार्श्व के अनुयायी थे। उनके दो पुत्र नन्दिवर्धन और वर्धमान तथा एक कन्या थी। बड़ा होने पर वर्धमान का विवाह यशोदा नाम की एक युवती से हुआ, जिससे उसके एक लड़की हुई। वर्धमान की रुचि शुरू से ही धार्मिक जीवन एवं तत्त्वचिन्तन की तरफ थी। माता-पिता के मरने के बाद, ३० वर्ष की उम्र में, अपने भाई-भौजाई से आज्ञा ले, उसने घर छोड़ जंगल की राह ली।

१२ वर्ष के भ्रमण और कठिन तपश्चरण के बाद वर्धमान एक नतीजे पर पहुँचे। जृम्भिक गाँव के बाहर, ऋजुपालिका नदी के उत्तरी तट पर, उन्हें कैवल्य (असलियत) प्राप्त हुआ।

* आजकल के बिहार के जैथरिया भूमिहार शायद उसी कुल के हैं। दे० 'भारतीय इतिहास की रूपरेखा'—पृष्ठ ३७१ पर टिप्पणी।

तब वे अर्हत् (पूज्य), जिन (विजेता), निर्ग्रन्थ (बंधनहीन) और महावीर कहलाए। पार्श्व के सम्प्रदाय में उसके बाद सबसे बड़ा आचार्य होने तथा उसमें नए सुधार करने से वे तीर्थङ्कर* (पार उतरने का रास्ता बतानेवाले) कहलाए। पार्श्व ने अपनी शिक्षा में सत्य, अहिंसा, अस्तेय और अपरिग्रह पर अधिक बल दिया था। महावीर ने उसमें ब्रह्मचर्य और जोड़ा, तथा कहते हैं कि साधु के लिए वस्त्र की अनावश्यकता पर भी जोर दिया, जो अपरिग्रह के सिद्धान्त की अति थी।

अर्हत् होने के बाद वर्धमान महावीर कोशल, मगध, विदेह आदि में घूम-घूमकर अपने धर्म का उपदेश देते रहे। मगध-राज विम्बिसार की एक रानी चेलना, उनके मामा बज्जि राजा चेटक की बेटी, महावीर की बहन थी। विम्बिसार की मृत्यु के बाद जब अजातशत्रु गद्दी पर बैठा तब महावीर का अधिक

---

* तीर्थ = नदी का उथला स्थान, जहाँ से प्रविष्ट हो नदी आसानी से पार की जा सके। जैनों का विश्वास है कि वर्धमान महावीर से पहले करीब २३ और तीर्थङ्कर उसी सम्प्रदाय में हो गए थे। प्रथम तीर्थङ्कर ऋषभ थे। कहते हैं, ऋषभ ने ही पहले-पहल कृषि आदि का ज्ञान आर्यों को सिखाया तथा राज्य का विचार चलाया था। ऋषभ का पुत्र भरत था, जिसके नाम पर, कहा जाता है कि, इस देश का नाम भारतवर्ष पड़ा। पुराणों से वैवस्वत मनु से बहुत पहले स्वायंभुव मनु के तीन-चार पीढ़ी बाद एक ऋषभ का होना सूचित होता हैं। ऋषभ के पुत्र भरत का एक प्रतापी राजा होने एवं इस देश को भारत नाम देने का भी उल्लेख है; पर इसमें सचाई कितनी है, कहा नहीं जा सकता। परन्तु २३ वें तीर्थ-ङ्कर पार्श्व की ऐतिहासिकता प्रायः सभी विद्वान मानते हैं।

समय मगध में ही बीता। ५४५ ई० पू० में पावापुरी ❀ में उनका देहान्त हुआ। महावीर के बाद सौ वर्ष के अन्दर-अन्दर उनका धर्म कलिङ्ग और राजपूताना तक फैल गया।

सिद्धार्थ गौतम बुद्ध

इसी समय बिहार के उत्तर-पच्छिमी सीमान्त पर नैपाल की तराई में स्थित कपिलवस्तु (वर्त्तमान तलैरकोटला) के शाक्य संघ-राज्य के तात्कालिक चुने हुए राजा शुद्धोदन का पुत्र कुमार सिद्धार्थ, घर से भाग, मल्लों के देश में प्रव्रजित हो, राजगृह आदि स्थानों में विचरता हुआ, गया के तपोवनों में अपनी ज्ञान-पिपासा शान्त करने पहुँचा था। उसने तात्कालिक प्रचलित सब वादों और दार्शनिक सिद्धान्तों का गंभीर अध्ययन किया था। पर जब उसे कहीं कुछ सार न प्रतीत हुआ तब उसने गया के दक्खिन निरञ्जना (वर्त्तमान फल्गु की सहायक निलाजन) नदी के तट पर, उरुवेला के रम्य वन में, उस समय के प्रचलित विश्वास के अनुसार, कठोर तप किया। पर जब

❀ पालिग्रन्थों के अनुसार पावापुरो कुशीनगर के बाद मल्लराष्ट्र की दूसरी प्रसिद्ध नगरी थी। कनिंघम और राहुल जी ने उसको, कसिया के १२ मील उत्तर-पच्छिम पपौर गाँव से, शिनाख्त की है। बौद्ध साहित्य से मगध में किसी पावापुरी के होने का पता नहीं चलता। किन्तु आजकल जैन लोग इस पावापुरी को राजगृह के नजदीक ही मानते हैं, और यह निश्चित है कि वे १४ वीं सदी से बराबर उसी स्थान को महावीर का निर्वाणस्थल मानते आए हैं। या तो पावा-पुरियाँ दो थीं, या यह कहना होगा कि पावापुरी का असल स्थान भूल जाने पर १४ वीं सदी में जैनों ने राजगृह के पास उसके होने की कल्पना कर ली।

उससे भी कुछ लाभ न दीखा तो उस अन्धविश्वास की निरर्थकता को समझ उसने वह मार्ग त्याग दिया और युक्त आहार-विहार से स्वास्थ्यलाभ कर तत्त्वचिन्तन में रत हुआ। तभी सुजाता नाम की एक युवती ने उसे बड़े प्रेम से पायस (खीर) खिलाया। इस चिन्तन के बाद वह जिस परिणाम पर पहुँचा, उससे उसकी आँखें खुल गईं। वह परिणाम यह था कि मनुष्य का उद्धार न तो यज्ञों के कर्मकांड में, न दार्शनिक विवादों में और न शरीर सुखानेवाले तप में है, प्रत्युत सीधे-सादे संयम-युक्त सच्चे और सरल जीवन में ही है। यही सिद्धार्थ का बोध था।

इस सचाई का ज्ञान होते ही सिद्धार्थ गौतम मानों सोते से जाग उठे। उन्होंने अपनेको, या उनके अनुयायियों ने उन्हें, बुद्ध अर्थात् जागा हुआ कहा।

पर बुद्ध अपने ज्ञान पर स्वयं संतुष्ट होकर न बैठ सके। उत्थान (उठना, हिम्मत करना), स्मृति (विचार, चिन्तन) और अप्रमाद (अनालस्य)—यही उनके इस बोध का सार था। उरुवेला से वे सीधे बनारस आए और वहीं इसिपत्तन (ऋषि-पत्तन, सारनाथ) में पहले-पहल अपने पुराने साथी पाँच भिक्षुओं के सम्मुख उन्होंने अपने धर्म का प्रवचन किया। उस समय भारत में चक्रवर्त्ती राजा बनने का आदर्श गूँज रहा था। वैदिक ग्रन्थों में हम ऐसे कई यज्ञों का विधान पाते हैं जो आर्य राजाओं को उस महान् आदर्श के पालने के लिए उकसाते थे। बुद्ध ने

भी संसार की धर्मविजय करने की सोची, और राजा लोग जैसे अपने रथ का चक्र चलाकर विजय के लिए निकलते थे, वैसे ही उन्होंने 'धर्मचक्र का प्रवर्त्तन' किया।

सारनाथ में ही बुद्ध का चौमासा बीता और धीरे-धीरे वहाँ साठ भिक्षु उनके शिष्य हो गए। बुद्ध ने उनका 'संघ' अर्थात् प्रजातंत्र बना दिया।

चौमासे के बाद तथागत (बुद्ध) ने उन्हें उपदेश देते हुए कहा —"भिक्षुओ, अब तुम लोग जाओ, घूमो, जनता के हित के लिए, जनता के सुख के लिए, देवताओं और मनुष्यों के कल्याण के लिए विचरो। कोई दो-एक तरफ मत जाओ। उस धर्म का उपदेश करो जो आदि में कल्याणकर है, मध्य में कल्याणकर है और पर्यवसान (अन्त) में भी कल्याणकर है।"

स्वयं बुद्ध भी इसके पश्चात् भ्रमण करने निकले। बनारस से वे सीधे गया पहुँचे। वहाँ उरुवेल काश्यप, नदी काश्यप और विल्व काश्यप नाम के तीन भाई बड़े विद्वान और कर्मकाण्डी मशहूर थे। कार्त्तिक मास में वहाँ एक बड़ा मेला लगता था जिसमें मगध और अंग की जनता विविध भोज्य, पेय और बहुमूल्य वस्त्र आदि लेकर काश्यप-बन्धुओं के यज्ञों में भेंट चढ़ाने आती थी। बुद्ध के उपदेश सुन तीनों काश्यप-बन्धु अपने यज्ञ का सामान फल्गु नदी में फेंककर बुद्ध के साथ हो लिये। इसके बाद बुद्ध राजगृह पहुँचे। काश्यप-बन्धुओं को बुद्ध के साथ देखकर लोग बड़े प्रभावित हुए।

राजगृह के पास तब सारिपुत्र और मोग्गलान नाम के दो बड़े विद्वान रहते थे। वे भी बौद्ध संघ में शामिल हुए और बुद्ध के अग्रश्रावक (प्रधान शिष्य) कहलाए। मोग्गलान नालन्दा ग्राम का रहनेवाला था। बुद्ध अपने इन दोनों शिष्यों को बहुत मानते और इन्हें अपना दाहना और बायाँ हाथ समझते थे। सारिपुत्र 'बुद्ध-संघ' का 'धम्म सेनापति' कहलाता। इसके बाद लगातार ४५ वर्ष पर्यन्त बुद्ध मध्यदेश * के सब जनपदों में बराबर घूमते रहे।

उनका ४६ वाँ वर्षावास वैशाली के पास एक गाँव में बीता। वहाँ उनकी तबीयत बहुत खराब हो गई और मृत्यु निकट दीखने लगी। बुद्ध के प्रिय शिष्य और 'उपस्थापक' (प्राइवेट सेक्रेटरी) आनन्द ने यह चिन्ता प्रकट की कि उनके बाद भिक्षु-संघ का क्या होगा। बुद्ध ने कहा—"आनन्द, मैंने धर्म का साफ-साफ उपदेश कर दिया है। तथागत के धर्म में कोई गाँठ नहीं, कोई पहेली नहीं। मैं अब ८० वर्ष का जीर्ण बूढ़ा हो गया हूँ; जैसा जर्जर छकड़ा, वैसा मेरा शरीर। अतः हे आनन्द, अपने ही दीपक के प्रकाश में विहार करो, अपनी ही शरण गहो। बिना दूसरे की शरण चाहे, धर्म को दीपक बना, धर्म की शरण में चलो और किसी की शरण न चाहो।"

---

* कुरुक्षेत्र से संथाल परगना तक तथा हिमालय से विन्ध्याचल तक आज कल का हिन्दीभाषी क्षेत्र तब मध्यदेश कहलाता था।

वर्षावास के बाद बुद्ध लिच्छिवियों से विदा ले और गंडक पार कर मल्लों के राष्ट्र में विचरण करते हुए पावापुर पहुँचे; जहाँ चुन्द नाम के एक लोहार का परोसा शूकर-मांस खा लेने से उन्हें रक्तातिसार हो गया। पावा से मल्लों की राजधानी कुशीनारा (गोरखपुर जिले में कसिया गाँव) तक उनकी तकलीफ बहुत बढ़ गई। चुन्द को कोई इस बात का दोष न दे कि उसके भोजन से ही बुद्ध का देहांत हुआ, यह खयाल कर उन्होंने आनन्द से कहा कि आयुष्मान् चुन्द का भोजन और सुजाता का भोजन मेरे लिए एक-से हैं; जैसे सुजाता की दी हुई खीर खाकर मुझे ज्ञान प्राप्त हुआ वैसे ही चुन्द का भोजन पा जन्म-मरण से मुक्त परिनिर्वृत्त होता हूँ। कुशीनारा के पास मल्लों के एक शालवन में पहुँच वे दो शाल वृक्षों की छाया में शय्या बिछवा लेट गए।

अन्तिम समय उन्होंने भिक्षु-संघ को सम्बोधित कर कहा—“भिक्खुओ, मैं तुम्हें अंतिम बार बुलाता हूँ। संसार की सब सत्ताओं की अपनी-अपनी आयु है। अप्रमाद से काम करते जाओ, यही तथागत की अंतिम वाणी है।” ऐसा कहते हुए अस्सी वर्ष की आयु में उन्होंने अपनी आँखें मूँद लीं (५४४ ई० पू०)। यही उनका महा-परिनिर्वाण (महान् बुझना) कहलाता है।

राजगृह का राजा बिम्बिसार और उसका पड़ोसी कोशल का राजा प्रसेनजित्—दोनों बुद्ध के सम-वयस्क थे। अंग इस

समय तक मगध में शामिल हो चुका था, और काशी सम्भवतः कोशल और मगध के बीच बँट चुका था। बनारस शहर, बहुत सम्भव है, तब कोशल के ही हिस्से में रहा हो। मल्लों का यद्यपि संघ-राज्य था, तथापि वे भी कोशल के प्रभाव में और उसके रक्षित थे; क्योंकि कोशल की सीमा गंडकी तक होने का उल्लेख है।

मगध-कोशल-संघर्ष

राजा बिम्बिसार का एक विवाह वज्जि राजा चेटक की लड़की चेलना वैदेही से हुआ था, जो वर्धमान महावीर के मामा की बेटी थी। चेलना से बिम्बिसार का पुत्र अजातशत्रु हुआ। कहते हैं, अजातशत्रु जब अपने बूढ़े बाप को मारकर स्वयं मगध की गद्दी पर बैठा (५५२ ई० पू०), तब प्रसेनजित् ने अपनी बहनवाली काशी की जागीर जब्त कर ली। इस पर मगध और कोशल में ठन गई। शुरू में मगध की सेनाएँ कोशलों को हराती हुई दूर तक बढ़ गईं, पर अन्त में प्रसेनजित् ने उन्हें करारी हार दी और राजा अजातशत्रु को बन्दी कर लिया। बाद में प्रसेनजित् ने उससे अपनी लड़की ब्याह दी और काशी की वह जागीर दहेज में वापस दे दी।

अजातशत्रु ने अपने पिता की राज्य-विस्तार-नीति को और जोर से जारी रक्खा। कोशल से निबटकर उसका ध्यान अपने पच्छिमी और दक्खिनी सीमान्त पर गया। वहाँ बुद्ध का समकालीन अवन्ति (मालवा) का राजा चण्डप्रद्योत भी अपना साम्राज्य उत्तर-पूरब फैलाने में

राजा अजातशत्रु

लगा था। प्रद्योत का पड़ोसी कौशाम्बी का वत्सराज उदयन उसका दामाद था, तथा जमना के पच्छिम शूरसेन देश (मथुरा) में प्रद्योत का एक दौहित्र शासन कर रहा था। मगध को अब प्रद्योत के हमले का डर हुआ, अतः अजातशत्रु ने पच्छिमी सीमा की मोर्चाबन्दी की।

इसी समय कोशल में गृह-कलह आरम्भ हो गया और वहाँ कोशलराज प्रसेनजित्, जो बुद्ध का समवयस्क और हार्दिक मित्र था, गद्दी खोकर मगध में भाग आया। वहीं उसकी मृत्यु हुई। उसके पुत्र विरूढक ने कोशल की गद्दी पर कब्जा कर अपने पड़ोसी शाक्यों का संहार किया। कहते हैं, वहाँ से वापस लौटते समय वह ससैन्य अचिरावती (राप्ती) नदी की बाढ़ में डूब गया। सम्भवतः कोशल की इस विपत्ति का लाभ उठाकर मल्ल लोग अब स्वतंत्र हो गए।

उधर अवन्ति के राजा प्रद्योत का देहान्त हो जाने से (अन्दाजन ५४७ ई० पू०) अजातशत्रु उधर से निश्चिन्त हो गया और उसका ध्यान अपने उत्तरी सीमान्त की ओर खिंचा। मगध की इस आगे बढ़ने की नीति से वज्जि लोग चौकन्ना हो गए, और उन्होंने अपने पड़ोसी मल्लों से मिलकर एक नया संघ बना लिया। जैन वाङ्मय से नव-मल्लों और नव-लिच्छिवियों की समिति के सामूहिक सुरक्षा के लिए मिलकर शासन करने की सूचना मिलती है। लिच्छिवियों की शक्ति का अन्दाज इसी से किया जा सकता है कि वे कई बार गंगा पार कर पाटली

ग्राम में महीनों पड़ाव डाले पड़े रहते *। अजातशत्रु ने इस पर पाटली ग्राम की मोर्चाबन्दी कराना आरम्भ किया। कहते हैं, अजातशत्रु और लिच्छिवियों की सीमा पर हिमालय से व्यापारियों का कोई मार्ग आता था †। वहाँ चुंगी के लिए दोनों शक्तियों में बहुत वैमनस्य रहता था। लिच्छिवि लोग प्रायः सारी चुंगी पर अपना कब्जा बताते थे। पर अजातशत्रु उसमें हिस्सा बँटाना चाहता था। दो-तीन बार प्रयत्न करने पर भी जब वह सफल न हुआ तब उसने उन पर आक्रमण करने की ठानी। जब बुद्ध अन्तिम बार राजगृह के बाहर गृद्धकूट में ठहरे थे, तब अजातशत्रु के अमात्य सुनीथ और वस्सकार राजगृह की किलाबन्दी नए सिरे से करा रहे थे। अजातशत्रु ने बुद्ध का मत जानने के लिए अमात्य वस्सकार को उनके पास भेजा।

राष्ट्रीय उन्नति के सात सिद्धान्त

वस्सकार के चर्चा करने पर बुद्ध ने अपने शिष्य आनन्द को सम्बोधित कर पूछा—"क्यों, आनन्द, क्या तुमने सुना है कि वज्जियों के जुटाव (सन्निपात) बार-बार और भरपूर होते हैं (अर्थात् उनकी सभाएँ नियम से होती हैं और उनमें काफी लोग आते हैं)?" आनन्द ने कहा—"हाँ, भन्ते, मैंने यह सुना है कि वज्जी बार-बार इकट्ठा होते और उनके जुटाव भरपूर होते हैं।"

"जबतक, आनन्द, वज्जियों के जुटाव बार-बार और भरपूर

---

* बुद्धचर्य्या, पृ० ५२७।

† वहीं, पृ० ५२०।

होते हैं तबतक आनन्द, उनकी बढ़ती ही की आशा करनी चाहिए, परिहाणि (क्षय) की नहीं।"

बुद्ध ने फिर पूछा—"क्यों, आनन्द, क्या तुमने सुना है कि वज्जी एक भाव से सभाओं में इकट्ठा होते, मिलकर उद्यम करते और मिलकर वज्जीकार्यों को (अपने राष्ट्रीय कार्यों को) करते हैं ?"

"हाँ, भन्ते, मैंने ऐसा ही सुना है कि वज्जी एक भाव से सभाओं में इकट्ठा होते, मिलकर उद्यम करते और मिलकर वज्जी-कार्यों को करते हैं।"

"जबतक, आनन्द, वज्जी एक भाव से सभाओं में इकट्ठा होते, मिलकर उद्यम करते और मिलकर वज्जीकार्यों को करते हैं, तबतक आनन्द, उनकी बढ़ती ही की आशा करनी चाहिए, परिहाणि की नहीं।"

बुद्ध इसी प्रकार प्रश्न करते गए—"क्यों, आनन्द, क्या तुमने सुना है कि वज्जी बाकायदा कानून बनाए विना कोई आज्ञा जारी नहीं करते, बने हुए कानून को नहीं तोड़ते और यथाविहित पुराने वज्जिधम्मों (राष्ट्रीय नियमों) के अनुसार मिलकर बरतते हैं ?······क्या वज्जी अपने वृद्ध बुजुर्गों का आदर-सत्कार करते, उन्हें मानते-पूजते और उनकी सुनने लायक बातों को मानते हैं ?······वज्जी अपनी कुलस्त्रियों और कुलकुमारियों पर जोर-जबरदस्ती तो नहीं करते ?······क्या वज्जी अपने अन्दर और बाहर के वज्जी चैत्यों (जातीय मन्दिरों) का

आदर-सत्कार करते और उनको पहले से दी हुई धर्मानुकूल वलि को नहीं छुड़ाते हैं?······क्या वज्जियों में अर्हतों की रक्षा करने का भाव भली भाँति है, और क्या बाहर के अर्हत् उनके राज्य में आ सकते हैं और आए हुए अर्हत् सुगमता से विहार कर सकते हैं?"

इन सात प्रश्नों का सन्तोषजनक उत्तर पाने पर प्रत्येक बार बुद्ध के मुँह से यह निकला कि वज्जियों की वृद्धि ही होगी, क्षय नहीं होगा। बौद्ध साहित्य में इन्हें 'सत्त अपरिहाणि धम्म' अर्थात् राष्ट्रीय अभ्युदय के सात नियम कहते हैं। इनपर विचार करने से स्पष्ट दिखाई देगा कि सार्वजनिक जीवन के गहरे तजरबे और विचार के बाद ही ये परिणाम निकाले गए होंगे। आज भी ये सिद्धान्त राष्ट्रों के जीवन के लिए कितना सच मालूम होते हैं!

बुद्ध स्वयं एक संघराज्य में पैदा हुए और पले थे। वे वज्जियों के आदर्श संघ-(प्रजातंत्र)-शासन-विधान एवं संस्थाओं को बहुत पसन्द करते थे। उन्होंने अपने भिक्षु-संघ का संगठन भी बहुत-कुछ वज्जि-संघ के ढंग पर ही किया था।

एक बार, जब वे वैशाली के बाहर वहाँ की गणिका अम्ब-पाली के बागीचे में ठहरे थे, लिच्छिवी राजा उनके दर्शन करने आए। उन्हें दूर से दिखाकर बुद्ध ने भिक्षुओं से कहा था—"भिक्षुओ, तुममें से जिन्होंने तावतिंस देवताओं को न देखा हो वे लिच्छिवियों की इस परिषद् को ध्यान से देखें, लिच्छिवियों

की इस परिषद् की आलोचना करें, और लिच्छिवियों की इस परिषद् से तावतिंस देवताओं की परिषद् का अनुमान करें।"*

अस्तु, बुद्ध की सम्मति जानकर अजातशत्रु ने अपना आक्रमण का विचार कुछ दिन स्थगित कर दिया, और भेदनीति तथा कूटनीति से काम लेने का निश्चय किया। इसके बाद अजातशत्रु के अमात्य वस्सकार ने भरी सभा में लिच्छिवि-सम्बन्धी नीति पर लिच्छिवियों का पक्ष लेकर अजातशत्रु से नकली झगड़ा किया, और राजगृह से निकाला जाकर वह वज्जि देश में पहुँचा। कुछ लिच्छिवियों ने उसे स्थान देने पर एतराज किया; पर यह जानकर कि उन्हीं का पक्ष लेने से उसे अजातशत्रु ने निकाल दिया है, वे लोग पिघल गए और उसे उन्होंने अपने यहाँ उच्च पद दे दिया। वस्सकार ने वहाँ रहकर धीरे-धीरे शक्तिशाली लिच्छिवि राजाओं को आपस में फोड़ना और लड़ाना आरम्भ किया। फलस्वरूप उनमें एक दूसरे के प्रति अविश्वास और मान इतना बढ़ा कि अब वे राजकाज के लिए बुलाई गई परिषदों में भी उतनी तत्परता से भाग न लेते। तब वस्सकार का इशारा पा अजातशत्रु ने वैशाली पर चढ़ाई की। लिच्छिवि लोग उस दशा में भी अपने तुच्छ झगड़ों को छोड़ देश-रक्षा

---

* भगवान् बुद्ध के इस महत्त्वपूर्ण उपदेश की ओर पहले-पहल स्वर्गीय जायसवालजी ने ध्यान खींचा था। इसके प्रचलित अंग्रेजी अनुवाद में दो गलतियाँ हैं, जो 'रूपरेखा' में सुधार दी गई हैं (पृ० ३९८ और ५१५)।

के लिए इकट्ठा न हो सके। थोड़े-से वीरों ने वीरता से मगध की सेना का मुकाबला किया। अजातशत्रु ने वैशाली का ध्वंस कर डाला। इस प्रकार वह स्वतंत्र और प्रबल संघ-राज्य बुद्ध के परिनिर्वाण के ४ वर्ष बाद ही, कुटिल साम्राज्य-साधकों के चक्कर में फँस, समाप्त हो गया (५४० ई० पू०)।

काशी और अंग राज्य पहले ही मगध में मिल चुके थे। लिच्छिवियों के पतन के बाद सारा बिहार-प्रान्त एक शासन में आ गया। अजातशत्रु ने पाटलिपुत्र से, वैशाली के रास्ते गंडक के किनारे-किनारे, कुशीनारा तक एक सड़क तथा यात्रियों के लिए आराम करने की जगहें बनवाईं।*

राजा अज उदयी

अजातशत्रु का उत्तराधिकारी राजा दर्शक या नागदर्शक शिशुनाग (द्वितीय) था (५१८-४८३ ई० पू०)। पच्छिम में गंगा के दक्खिन मगध की सीमाएँ वर्तमान शाहाबाद जिले तक थीं। उसके पच्छिम भर्गों या भग्गों का प्रदेश (जिला मिर्जापुर) वत्स के अधीन था। वहाँ बुद्ध के समय में वत्सराज उदयन का पुत्र और अवन्ति के प्रद्योत का दौहित्र राजकुमार बोधि सिंसुमार गिरि (चुनार) में मगध के विरोध में डटा था। वज्जियों से निपटकर मगध ने अब अवन्ति के बढ़ते हुए प्रभाव को रोकने के लिए उस पर दबाव डाला और वत्स में विद्रोह उकसाने का जतन किया। अपनी सीमा पर मगध

* इण्डियन एण्टिक्वेरी, जि० ४२, पृ० १४।

और अवन्ति के इस दुहरे दबाव से बचने के लिए उदयन के अमात्य यौगन्धरायण ने युक्ति से दर्शक की बहन का सम्बन्ध उदयन से करा मगध को कुछ दिन के लिए शान्त कर दिया।

नागदशक का समय अधिकतर अजातशत्रु के जीते हुए इलाकों पर अधिकार दृढ करने में बीता। परन्तु उसका उत्तराधिकारी अजउदयी (लगभग ४८३–४६७ ई० पू०) अपने दादा की तरह ही विजेता और साम्राज्यकामी था। उसने गद्दी पर बैठते ही अवन्ति पर चढ़ाई कर उसे मगध के राज्य में मिला लिया। वत्स का पौरव-वंश दो-तीन पीढ़ी और चला, पर वह भी कोशल की तरह नाम-मात्र ही स्वतंत्र रहा होगा।

वत्स और अवन्ति के पतन के बाद मगध राज्य की सीमाएँ पच्छिम में जमना नदी तक पहुँच गईं, और सारा मध्यमंडल उसके छत्र के नीचे आ गया। इस प्रकार सवा सौ वर्ष की साम्राज्यसाधना के फलस्वरूप मगध, भारत की केन्द्रीय महाशक्ति के रूप में, प्रतिष्ठित हुआ।

सम्राट् नन्दिवर्धन

वैशाली के लिच्छिवियों की स्वतंत्रता का अन्त अजातशत्रु के समय ही हो गया था। पर मालूम होता है कि उसके बाद भी, दशक और उदयी के समय तक, वे वैशाली से और उत्तर हटकर अपनी स्वाधीनता की लड़ाई जारी रक्खे हुए थे। इसी से उदयी ने अपनी पुरानी राजधानी राजगृह छोड़कर पाटलिपुत्र नगर बसाया, जिससे गंगापार के लिच्छिवि देश और विदेह को अधिकृत रखने में सुविधा

हो। उदयी के उत्तराधिकारी अनिरुद्ध का सारा राज्यकाल लिच्छवियों के ही मामलों के सुलझाने में बीता। तब नन्दिवर्धन मगध की गद्दी पर बैठा (लगभग ४५८ ई० पू०)। उदयी ने पाटलिपुत्र का निर्माण किया था, पर राजधानी राजगृह में ही चली आती थी। नन्दिवर्धन ने राजगृह को छोड़ पाटलिपुत्र को ही अपना प्रधान निवास-स्थान बनाया। नव-विजित वैशाली की राष्ट्रीय भावना को संतुष्ट करने के लिए उसने दूसरी राजधानी वहाँ भी स्थापित की, और कलिंग (उड़ीसा-तट) को जीतकर उसे अपने राज्य में मिला लिया। कलिंग में महावीर के निर्वाण के बाद जल्दी ही जैन धर्म का प्रचार हो गया था। सम्भवतः महावीर से पहले भी वहाँ पार्श्व के अनुयायी थे। जैन अनुश्रुति के अनुसार पार्श्वनाथ वर्त्तमान पारसनाथ पर्वत (संमेत) पर ही ध्यान करते थे, और उनका वहीं निर्वाण हुआ था।

राजा नन्दिवर्धन जैन था। उसने सम्भवतः वैशाली के लिच्छवियों को प्रसन्न करने के लिए ही जैन धर्म स्वीकार किया था। कलिंग से वह महावीर की एक मूर्त्ति, विजय-चिह्न के रूप में, उठा लाया।

वज्जियों को संतुष्ट करने, घर में शान्ति और सुव्यवस्था हो जाने तथा कलिंग-विजय के बाद नन्दिवर्धन ने अपने साम्राज्य की सीमा और पच्छिम तरफ बढ़ाने पर ध्यान दिया। अवन्ति-राज्य उदयी के समय में ही जीता जा चुका था, पर उदयी ने उसका शासन मगध से पृथक् रक्खा था। नन्दिवर्धन ने अब

अवन्ति को अपने राज्य में सीधा मिलाकर एक प्रान्त बना दिया (लगभग ४२८ ई० पू०)। गंगा-जमना-दोआब में पाञ्चाल और कुरुराष्ट्र सम्भवतः कोशल और वत्स के प्रभाव में थे—इन दोनों के साथ वे भी मगध-साम्राज्य में मिल चुके थे। पूर्वी राजपूताना, शूरसेन (मथुरा) और मत्स्य (अलवर) भी अवन्ति के साथ ही उसके साम्राज्य में मिल गए।

राजा विम्बिसार और बुद्ध के समय में, मगध के उदय के लगभग साथ ही, भारत के पच्छिम पारस के राजा कुरुष् के नेतृत्व में, हखामनी-वंश का प्रबल साम्राज्य स्थापित हुआ था। वहाँ के राजा दारयवउष् ने ५०५ ई० पू० के लगभग भारत के उत्तर-पच्छिम सीमान्त के प्रदेश—कम्बोज, काबुल, गान्धार (जेहलम से कुनार तक का प्रदेश=रावलपिंडी, पेशावर), सिन्धु (सिन्धसागर दोआब और डेराजात), पक्थ (पठान प्रदेश) और हरउवती (कन्दहार) दखल कर लिये थे। सिन्धु-प्रदेश हखामनी-साम्राज्य का सबसे अधिक आमदनीवाला सूबा था। इस समय वहाँ से हखामनी-आधिपत्य का अन्त हुआ। तिब्बती अनुश्रुति के अनुसार राजा नन्दिवर्धन ने कश्मीर तक विजय की थी। पच्छिमी गान्धार (युसुफजई इलाके) का रहनेवाला संस्कृत का प्रसिद्ध वैयाकरण पाणिनि राजा नन्द (नन्दी) के दरबार में पाटलिपुत्र आया था *, और नन्द का परम मित्र था। इन बातों से अनुमान किया गया था कि उक्त प्रदेश से हखामनी-

* राजशेखर-काव्यमीमांसा, पृ० ५५।

आधिपत्य के उठाने में शायद राजा नन्दिवर्धन का हाथ रहा हो। इस अनुमान की पुष्टि तक्षशिला और पाटलिपुत्र के पुराने अंशों की खुदाई में मिले हुए 'आहत' सिक्कों से हुई है। प्राचीन भारत के मौर्य युग तक के सिक्कों पर, किसी राजा की मूर्त्ति या नाम के बजाय, केवल जनपदों या राजाओं के 'अंक' (संकेत-चिह्न) खुदे हुए पाए जाते हैं। ये अंक ठप्पों से ठोंककर खोदे जाते थे, इसलिए ये सिक्के 'आहत' कहलाते थे। तक्षशिला और मगध से बड़े परिमाण में ऐसे आहत सिक्के मिले हैं, जिन्हें विद्वानों ने प्राङ्मौर्य युग का माना है* और जिनपर एक ही तरह के 'अंक' हैं। इससे प्राङ्मौर्य युग में एक साम्राज्य का होना सिद्ध होता है।

पुराणों के अनुसार नन्दिवर्धन ने कुल ५१ वर्ष राज किया। उसका शासन-काल ४५८ ई० से शुरू होता है, और उसके राज्याभिषेक की याद में नन्दि-संवत् प्रचलित हुआ, जो पीछे हर्ष-संवत् के नाम से अल्बेरूनी के जमाने तक स्मरण किया जाता रहा।

नन्दि के बाद सम्भवतः उसके भाई मुण्ड ने राज किया और उसके बाद नन्दि के पुत्र महानन्दी ने (४०९–३७४ ई० पू०)। महानन्दी भी अपने पिता की तरह ही प्रतापी और राजनीति-कुशल था। राजा नन्द के बारे में जो बहुत-सी अनुश्रुतियाँ प्रसिद्ध हैं उनमें अधिकांश इसी महानन्दी की हैं।

* ज० बि० ओ० रि० सो०, जुलाई १९३९, में श्री वाल्श का लेख।

चौथा अध्याय

नन्द-मौर्य-साम्राज्य

[३६६–२११ ई० पू०]

महापद्म नन्द

कहते हैं, सम्राट नन्दिवर्धन की रखैल एक नायन से महापद्म नाम का एक लड़का था, जो राजा महानन्दी का सौतेला भाई था। महानन्दी की रानी का उसपर विशेष प्रेम था। महानन्दी ने भी उसे एक बड़ा पद दे रक्खा था। महानन्दी की मृत्यु के बाद महापद्म उसके दोनों छोटे लड़कों का अभिभावक नियुक्त हुआ। लेकिन उसकी नीयत बिगड़ गई। उसने एक-एक कर दोनों कुमारों को मार डाला और ८ वर्ष पीछे स्वयं मगध की राजगद्दी हथिया ली (३६६ ई० पू०)।

शैशुनाक राजा नन्दिवर्धन के उत्तराधिकारी नन्द कहलाते थे, अतः महापद्म का वंश उसके मुकाबले में नवनन्द अर्थात् नया नन्दवंश नाम से प्रसिद्ध है।

महापद्म सर्वक्षत्रान्तक और एकराट् कहा गया है। पौराणिक अनुश्रुति के अनुसार उसने कोशल, वत्स, पञ्चाल, कुरु, शूरसेन, वीतिहोत्र, हैहय, अश्मक, कलिंग आदि पुराने राजवंशों का—जो महाभारत-युद्ध के बाद से चले आते थे—अन्त कर दिया। इनमें

से बहुत-से राज्य नन्दिवर्धन के समय में ही मगध के अधीन थे, पर सम्भवतः उनके राजवंश सामन्त-रूप में अभी तक जारी थे। कलिंग और अवन्ति के बीच गोदावरी-काँठे के अश्मक-राज्य के नन्दिवर्धन के अधीन होने का पता नहीं मिलता, उसे महापद्म ने जीता होगा। मध्यकालीन अभिलेखों में कुन्तल अर्थात् उत्तरी कर्णाटक के भी नवनन्दों के अधीन होने की अनुश्रुति है।

महापद्म दृढ और योग्य शासक था। उसका कोष भरपूर और सेना प्रचण्ड थी। अपनी अपार सम्पत्ति के कारण ही वह महापद्म कहलाया। इसी तरह उसका विरुद 'उग्रसेन' उसकी सेना की प्रचण्डता का द्योतक है। संस्कृत, पाली और तामिल के प्राचीन ग्रन्थों में उसके अपरिमित कोष की स्मृतियाँ दर्ज हैं। पिछले युगों में शिल्प और व्यापार की उन्नति से देश में सम्पत्ति संचित हो रही थी। साम्राज्य की स्थापना के साथ आने-जाने की सुविधा बढ़ने पर शिल्प, वाणिज्य और व्यापार को और भी उत्तेजना मिली। महापद्म ने सारे साम्राज्य में एक-से नाप-तौल चलाए और नए सिरे से चुंगी की व्यवस्था की। उसी के समय में पहले-पहल पत्थर, पेड़, चमड़े, गोंद आदि पर चुंगी लगाई गई, जिससे सूचित होता है कि इन चीजों का व्यवसाय इस समय काफी बढ़ गया था। महापद्म ने ४० वर्ष तक शासन किया। उसके बाद उसका लड़का सामाल्य 'घननन्द' गद्दी पर बैठा।

इसी समय मकदूनिया के राजा सिकन्दर ने, यूनान के

छोटे-मोटे प्रजातंत्र राष्ट्रों की स्वाधीनता का अपहरण कर, मकदूनिया और यूनान की भाड़ैती सेना के सहारे, ईरान के हखामनी-साम्राज्य को जीत, भारत के सीमान्त राज्यों पर हमला किया। पंजाब के छोटे-छोटे राज्यों ने सिकन्दर की उस विश्व-विजयिनी सेना का पद-पद पर जो मुकाबला किया उससे यूनान और मकदूनिया के भाड़ैती सिपाहियों का सारा विजयोल्लास ठंढा पड़ गया। यूनानी सेना अपने असाधारण नायक के नेतृत्व में लड़ती-भिड़ती १९ महीनों में हिन्दूकश से व्यास नदी तक जैसे-तैसे पहुँची; पर वहाँ जब उन्होंने सुना कि हिन्दुस्तान की सबसे अधिक संगठित प्राच्य सेनाओं से लड़ना अभी बाकी है और सम्राट नन्द उन्हें लिये हुए अपनी सीमा पर तैनात है, तब उन्होंने आगे बढ़ने से कतई इनकार कर दिया। सिकन्दर ने अपने सैनिकों और सेनापतियों की एक सभा बुलाई और उन्हें पिछली विजयों और बहादुरियों का स्मरण दिलाकर आगे बढ़ने के लिए प्रोत्साहित करने की कोशिश की, पर उसका कोई असर न हुआ। सिकन्दर अपनी सेना की इस पस्तहिम्मती को देख इतना निराश हुआ कि तीन दिन तक वह अपने डेरे से बाहर न निकला और उसने अपनी सेना के नायकों का मुँह तक देखने से इनकार कर दिया। सैनिकों ने उसके शिविर-द्वार पर उससे लौट चलने की हर तरह से विनती की। अन्त में उसे अपने सैनिकों की इच्छा के आगे झुकना पड़ा।

चन्द्रगुप्त और चाणक्य—पंजाब और मगध की क्रान्तियाँ

परन्तु नवनन्दों के प्रजा-पीडन के कारण उनके साम्राज्य के भीतर ही भीतर असंतोष सुलग रहा था। सिकन्दर ने उसकी कुछ भनक गान्धार देश की राजधानी तक्षशिला में ही सुन ली थी और व्यास नदी के तट पर भी नन्द राजा की अप्रियता के बारे में उसे बताया गया था।

हिमालय की तराई के पिप्पलीवन * में मोरिय नामक क्षत्रिय जाति का एक छोटा-सा संघ-राज्य था। महावीर स्वामी के १२ मुख्य गणधरों अर्थात् शिष्यों में एक मोरिय भी था। बुद्ध का निर्वाण होने पर पिप्पलीवन के मोरिय भी उनके अवशेषों का अंश माँगने आए थे। 'मोरिय' का संस्कृत रूप 'मौर्य' है।

उत्तरी बिहार के अन्य संघ-राज्यों के साथ-साथ मौर्यों का वह राज्य भी कुचला गया होगा। इसी प्रजातन्त्र का एक युवक चन्द्रगुप्त मगध के नन्द-साम्राज्य का विद्रोही था। नन्द राजा ने उसके लिए प्राणदण्ड की आज्ञा जारी कर रक्खी थी। सिकंदर जब तक्षशिला में था, तब उसके डेरे पर भी यह विद्रोही युवक उपस्थित हुआ था। उसके रंग-ढंग से सिकन्दर चकित रह गया था। वह चाहता था कि नन्द-साम्राज्य पर अधिकार करने में सिकन्दर को अपना हथियार बनावे। इस बारे में

* राहुलजी पिप्पलीवन की शिनाख्त चम्पारन के रामपुरवा गाँव से, जहाँ अशोक का एक स्तम्भ मिला है, करते हैं। यह बहुत सम्भव है।

उसकी सिकन्दर से कुछ सीधी-सीधी बातें हो गईं, जिससे क्रुद्ध होकर सिकन्दर ने भी उसे फौरन मार डालने का हुक्म दिया था। पर चन्द्रगुप्त वहाँ से बचकर निकल भागा था।

इसी समय तक्षशिला में विष्णुगुप्त चाणक्य या कौटिल्य नाम का एक प्रक्रमी राजनीतिज्ञ था। कहानियों से प्रतीत होता है कि उसे भी नन्दों के प्रजापीडन और स्वेच्छाचार का कुछ कटु अनुभव था। सम्भव है, तक्षशिला और पंजाब पर बार-बार होनेवाले विदेशी आक्रमणों और पंजाब के छोटे-छोटे राज्यों द्वारा उन्हें रोकने की अशक्यता देखकर उसने भारत में एक सुसंगठित साम्राज्य की आवश्यकता का अनुभव किया हो। स्वभावतः तब उसका ध्यान मगध-साम्राज्य की ओर गया होगा। पर नन्दों की अहम्मन्यता और प्रजा-पीडकता तथा उनके प्रति जनता में फैले हुए असंतोष के कारण उसने उस साम्राज्य को पलट देने का निश्चय किया। तक्षशिला में चन्द्रगुप्त और चाणक्य का साथ हो गया और वे दोनों अपनी धुन में लग गए।

सिकन्दर के वापस जाते ही, चाणक्य और चन्द्रगुप्त के प्रयत्नों से, पंजाब की जातियों ने, यूनानी सेना के खिलाफ विद्रोह कर, अपनेको स्वतंत्र कर लिया। पंजाब को यूनानी पंजे से छुड़ाने के बाद चन्द्रगुप्त ने वहीं की एक सेना की सहायता से पाटलिपुत्र पर हमला किया और नन्दवंश का मूलो-

च्छेद कर मगध का सिंहासन ले लिया। चाणक्य उसका प्रधान अमात्य बना, जिसके प्रयत्नों से शीघ्र ही बंगाल से पंजाब और सुराष्ट्र (काठियावाड़) तक का प्रदेश चन्द्रगुप्त के अधीन एक सुदृढ साम्राज्य के रूप में परिणत हो गया।

उधर, भारत से लौटते हुए, रास्ते में ही, सिकन्दर की मृत्यु हो गई। उसके विशाल साम्राज्य को उसके सेनापतिनों ने परस्पर बाँट लिया। उनमें सेलेउकस् नाम के एक सेनापति ने, बाबुल में स्थापित हो, सारे पच्छिमी और मध्यएशिया पर अधिकार कर, नेकातोर (विजेता) को पदवी धारण की (३१२ ई० पू०)। इसके बाद, सिकन्दर के भारतीय प्रदेशों को भी वापस लेने के इरादे से, उसने सिन्ध नदी पार की (लग० ३०५ ई० पू०)। पर इस बार वह प्रदेश मगध-साम्राज्य के अन्तर्गत था, जिसका नेतृत्व विष्णुगुप्त और चन्द्रगुप्त कर रहे थे। सेलेउकस् को लेने के देने पड़ गए। युद्ध का विस्तृत वृत्तान्त दुर्भाग्य से नहीं मिलता। पर यूनानी लेखकों के अनुसार दोनों सम्राटों में जो सन्धि हुई, उसमें सेलेउकस् को सिन्ध-पार के चार विशाल प्रान्त—(१) काबुल, (२) हरात, (३) हरउवती अर्थात् कन्दहार और (४) गदरोसिया अर्थात् कलात, लासबेला, मकरान—मगध-साम्राज्य को सौंपने पड़े। इसके अतिरिक्त यूनानी लेखक यह कहते हैं कि सेलेउकस् और चन्द्रगुप्त के बीच किसी तरह का वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित हुआ। भारतीय अनुश्रुति यह है कि सेलेउकस् ने अपनी लड़की चन्द्रगुप्त को ब्याह दी। भेंट के तौर

पर चन्द्रगुप्त ने ५०० हाथी सेलेउकस् को दिए। सेलेउकस् ने अपने राजदूत मेगास्थेनेस् को पाटलिपुत्र भेजा।

चन्द्रगुप्त ने २४ वर्ष राज किया। उसके बाद उसका लड़का बिन्दुसार मगध की गद्दी पर बैठा। उसके समय में भी चाणक्य जीवित था और अपने 'चातुरन्त राज्य' (भारत के चारों अन्तों अर्थात् किनारों तक पहुँचनेवाले राज्य) के आदर्श के पूरा करने में तत्परता से जुटा था। "उसने करीब १६ राजाओं और मन्त्रियों को निर्मूल कर पूर्वी और पच्छिमी समुद्रों के बीच के सारे प्रदेश को राजा बिन्दुसार की अधीनता में ला दिया।"

बिन्दुसार अमित्रघात

स्पष्टतः ये सभी राज्य दक्खिन के थे। इनमें आन्ध्र का नाम उल्लेख के योग्य है, जो मेगास्थेनेस् के अनुसार चन्द्रगुप्त के समय में मगध के बाद दूसरा शक्तिशाली राज्य था। दक्खिन में मौर्यों की सीमा अब कर्णाटक के दक्खिनी छोर तक जा पहुँची। केवल चोल (तामिल देश), पांड्य (तामिल देश का दक्खिनी छोर=मदुरा और तिरुनेवली जिले), चेर (केरल) और ताम्रपर्णी (सिंहल) मौर्य-साम्राज्य के बाहर रह गए थे।

चन्द्रगुप्त के समय में यवनों (यूनानियों) से जो सम्बन्ध स्थापित हुआ था वह बराबर बना रहा। मेगास्थेनेस् के बाद सीरिया का दूत देइमखस् और मिस्र के प्तोलमायस (Ptolemaios) का दूत दिओनिसियस् मौर्य-दरबार में आया। यूनानी लेखकों ने चन्द्रगुप्त के पुत्र का नाम अमित्रखात लिखा

है, जो उसकी बहुत-सी विजयों के कारण पड़े हुए पौराणिक विरुद 'अमित्रघात' की याद दिलाता है।

बिन्दुसार का उत्तराधिकारी अशोक था। उसकी माता चम्पा (भागलपुर) के एक ब्राह्मण की कन्या थी। बचपन में वह चण्ड प्रकृति और उद्धत स्वभाव का था। युवावस्था में वह अपनी प्रबन्धशक्ति और शासन की योग्यता का परिचय, तक्षशिला का विद्रोह शान्त करके और तक्षशिला तथा उज्जयिनी का शासक रहकर, दे चुका था। बिन्दुसार की मृत्यु के बाद उस राज्य के लिए उसे अपने बड़े भाई सुसीम से झगड़ना पड़ा, जिससे निपटने के बाद राज्यप्राप्ति के चौथे वर्ष उसका अभिषेक हुआ।

प्रियदर्शी अशोक

चन्द्रगुप्त और बिन्दुसार के समय में मगध-साम्राज्य कम्बोज (पामीर-बदख्शाँ) से कर्णाटक तक फैल चुका था। किन्तु पूरब में कलिंग देश, जो नन्दों के समय में मगध के अधीन था, और सम्भवतः मौर्य-राज्यक्रान्ति के समय स्वतंत्र हो गया था, अपनी हस्तिसेना और नौशक्ति के कारण अभी तक जीता न जा सका था। बिन्दुसार ने आन्ध्र-विजय कर कलिंग को तीन तरफ से घेर लिया था। चौथी तरफ—समुद्र— से उसे मौर्य नौ-सेनाएँ घेर सकती थीं। इस दशा में आगे-पीछे कलिंग का मौर्य-राज्य में मिलना निश्चित था। अशोक ने वह काम उठाया। पर चारों तरफ से घिर जाने पर भी कलिंगवालों ने आसानी से मगध की अधीनता स्वीकार न की। एक लम्बे

युद्ध के बाद—जिसमें करीब एक लाख कलिंगवासी खेत रहे, डेढ़ लाख पकड़े गए और इससे भी अधिक बाद में मरे—अशोक उनके देश पर विजय पा सका। इस भारी लोकसंहार को देख अशोक को अनुशोचन (पछतावा) हुआ। "जहाँ लोगों का इस प्रकार वध, मरण और देश-निकाला हो, ऐसा जीतना न जीतने के बराबर है।" उसने, अब, जहाँ तक हो सके, शस्त्रों द्वारा नई विजय न करने, "जो विजय वाण खींचने से ही हो सके उसमें भी शान्ति और लघुदण्डता से काम लेने" एवं "धर्म के द्वारा जो विजय हो उसी को असल विजय मानने" का निश्चय किया।

कलिंग-विजय के बाद, दक्खिन के तामिल राष्ट्रों को छोड़, सारा भारत—अफगानिस्तान और कम्बोज पर्यन्त—मौर्य-साम्राज्य में आ गया, जो प्राचीन युग का सबसे विशाल, सुसंगठित और समृद्ध राज्य था। उसके विषय में हमें मेगास्थेनेस् के बिखरे हुए उद्धरणों, कौटिलीय अर्थशास्त्र और अशोक के अभिलेखों से बहुत-सी बातें ज्ञात होती हैं।

मौर्य-साम्राज्य का संगठन

मौर्य सम्राट् अपनेको केवल राजा कहते और अपने साम्राज्य को 'विजित'। राजा, मन्त्रियों और मन्त्रि-परिषद् की सहायता से, 'विजित' का शासन करता था। सारा विजित इन पाँच मंडलों या 'चक्रों' में बँटा था—(१) मध्यदेश या मध्य-मंडल, (२) प्राची, (३) दक्षिणापथ, (४) अपर जनपद या पश्चिम

देश, (५) उत्तरापथ। आजकल के हिन्दीभाषी क्षेत्र का ही नाम मध्यदेश था। उसके पूरब वंग, कलिंग आदि प्राची; नर्मदा के दक्खिन दक्षिणापथ; और मध्यदेश के पच्छिम राजपूताना, मालवा, गुजरात, सिन्ध और कोंकण तक का प्रदेश अपर जनपद, अपरान्त या पश्चिमदेश कहलाता था। पंजाब, कश्मीर, काबुल आदि उत्तरापथ में गिने जाते थे। मध्यदेश की राजधानी पाटलिपुत्र में थी, जो सारे साम्राज्य की भी राजधानी थी और जहाँ का शासन स्वयं राजा की देखरेख में चलता था। प्राची का शासन कलिंग की राजधानी तोसली से चलता था। उत्तरापथ, पच्छिम और दक्षिणापथ की राजधानियाँ क्रम से तक्षशिला, उज्जयिनी और सुवर्णगिरि थीं। सुवर्णगिरि की पहचान अभी तक नहीं हो सकी। प्रत्येक चक्र की राजधानी में राजा की तरफ से एक कुमार (राजपुत्र या राजपरिवार का कोई व्यक्ति) रहता। कुमार, महामात्य और राजुक मिलकर चक्रों के शासन का निरीक्षण करते।

चक्रों के अन्तर्गत फिर कई महाजनपद या जनपद थे जो पुराने जमाने से चले आते थे। उनकी अपनी राजधानियाँ थीं; जहाँ राजकीय अमात्य, प्रजा की पौर-जानपद परिषदों की सहायता से, शासन करते थे। पर अनेक जनपद मौर्य राजा का केवल आधिपत्य मानते और अपने आन्तरिक शासन में सर्वथा स्वाधीन थे।

जनपदों में फिर दो तरह के इलाके थे। कुछ इलाके, जिनमें

बन्दोबस्त ठीक तरह से हुआ रहता अर्थात् जहाँ आबाद और शान्त कृषक जनता बसती, आहार (जिले) कहलाते। दूसरे गैर-आबाद इलाके कोट्टविषय—अर्थात् किलों के ईर्दगिर्द के प्रदेश थे। उनकी देखरेख किले में रहनेवाले सैनिक अधिकारियों के सिपुर्द थी। सारे भारत को एक कर उसमें एक दृढ 'चातुरन्त राज्य' की स्थापना करना, उसमें एकानुभूति का भाव पैदा करना—यही मौर्य-राजनीति का मुख्य आदर्श था। इसके लिए उन्होंने छोटे-छोटे जनपदों की परिषदों और ग्राम-सभाओं के कर की वृद्धि, वसूली, रक्षा, न्याय आदि के कामों की देखरेख के लिए राजकीय 'पुरुषों' की नियुक्ति की। गाँवों के कार्यनिरीक्षण के लिए 'गोप' नाम के कर्मचारी नियुक्त थे, जिनका काम राजकीय भाग की ठीक वसूली के लिए जमीन की माप-जाँच और बन्दोबस्त कराना तथा उपज और आबादी का ठीक-ठीक हिसाब रखना था। इसी तरह नगरों के शासन के निरीक्षण के लिए 'नागरक' नामक राजकीय कर्मचारी नियुक्त थे।

नगरों और बड़े-बड़े कस्बों में स्थानीय पंचायतों के ऊपर दो तरह के राजकीय न्यायालय थे—एक कण्टकशोधन यानी फौजदारी और दूसरा धर्मस्थीय यानी दीवानी। वसूली और न्याय के अतिरिक्त प्रजा की भलाई और राज्य की आमदनी के लिए सिंचाई, जंगल, खान, आबकारी आदि दूसरे महकमे भी हर जनपद में राज्य की तरफ से स्थापित थे। सिंचाई के लिए चन्द्रगुप्त ने सुराष्ट्र (काठियावाड़) में पहाड़ी नदियों को रोककर

एक बड़ा ताल बनवाया। पटना और विभिन्न जनपदों के बीच सड़कों का जाल बिछा दिया गया। राज्य में पशुओं और मनुष्यों के लिए चिकित्सालय खुले। मनुष्यों और पशुओं की गणना होती और वर्षा की माप रक्खी जाती। फौजदारी मामलों में आशु-मृतक-परीक्षा अर्थात् शव-परीक्षा की रीति थी। ये बातें उस जमाने के और किसी देश को ज्ञात भी न थीं।

मौर्यों के सैन्य और गुप्तचर-विभाग बहुत मजबूत थे। सेना के छ महकमे थे—पैदल, घुड़सवार, हाथी, रथ, जलसेना और रसद। चन्द्रगुप्त की सेना में ६ लाख पैदल, ३० हजार सवार, ७ हजार हाथी और ८ हजार रथ थे। प्रत्येक हाथी पर ३ धनुर्द्धर और रथ पर दो योद्धा होते। इस प्रकार कुल ६ लाख ५० हजार आदमियों की विशाल स्थिर सेना और एक बड़ी नौ-सेना मौर्य-साम्राज्य को हमेशा तैयार रखनी पड़ती थी, जिसकी आवश्यक सज्जा के लिए उन्हें बहुत अधिक खर्च की आवश्यकता होती थी।

अपनी सैनिक व्यवस्था और मुल्की शासन की व्यवस्थित नीति के अतिरिक्त मौर्य अपनी दृढ अर्थ-नीति के लिए भी प्रसिद्ध हैं। मौर्य-साम्राज्य के विस्तार के साथ देश में व्यापार-वाणिज्य को खूब प्रोत्साहन मिल रहा था। व्यापारियों के 'निगमों' (संगठनों) और संघातों का उल्लेख मिलता है। देश में सहकार और सामूहिक श्रम के लिए बने हुए 'समुत्थानों' (कम्पनियों) और 'निकायों' के पारस्परिक 'व्यवहार' के

बहुत-से नियम कौटिल्य ने दिए हैं। व्यापारी लोग गुट्ट बनाकर माल को रोक ज्यादा मुनाफा न उठावें, इसके लिए भी नियम बनाए गए थे। इसके अतिरिक्त मौर्यों ने शिल्प और कारीगरी को भी बहुत अधिक प्रोत्साहन दिया। इतनी जल और स्थल सेना के साज-सामान तैयार करने के लिए बाकायदा कारखानों की स्थापना से भी शिल्पों को बहुत प्रोत्साहन मिला था। मेगास्थेनेस् के अनुसार किसी शिल्पी का अंग-भंग करने पर मृत्यु-दण्ड मिलता था। चोरी आदि के अपराधों में भी, जिनके करने से दूसरों को अंग-भंग की सजा मिलती, शिल्पियों के लिए सिर्फ जुर्माने की सजा का विधान कौटिलीय अर्थशास्त्र में है। शिल्पियों को मौर्यों का दिया हुआ यह वरदान छठी सदी ईसवी तक भी बना रहा।

राजधानी पाटलिपुत्र उस समय प्राचीन संसार का सबसे बड़ा नगर था। प्राचीन रोम और आथेन्स अपनी पूरी समृद्धि के दिनों में भी उसके आधे से अधिक कभी न हुए। २१$\frac{१}{२}$ वर्ग-मील में फैले हुए उस नगर के सब मकान लकड़ी के थे और सारे नगर के चारों ओर लकड़ी का परकोटा बना था, जिसमें ६८ दरवाजे और ५७० गोपुर (बुर्ज) थे। सारा नगर एक गहरी खाई से घिरा था, जिसमें सोन का पानी भरा रहता। आग आदि से बचाने के लिए हर घर के सामने पानी के घड़े भरे रक्खे रहते। नगर का प्रबन्ध ३० आदमियों की परिषद

के अधीन था, जो पाँच-पाँच की उपसमितियों में विभक्त हो एक-एक महकमे की देखरेख करती। *

दूसरे नगरों के लिए भी इसी तरह का इन्तजाम रहा होगा। नगरों के सिवा जनपदों के प्रबन्ध के लिए भी इसी तरह की जनपद-सभाएँ संगठित थीं। प्रजा में अपने-अपने जनपद के लिए भक्ति तथा अभिमान का भाव बहुत उत्कट था। प्रत्येक जनपद का अपना-अपना "शील, वेश, भाषा, आचार, देवता, उत्सव और समाज (खेलों की प्रतियोगिता)" होता था। किसी के जनपद का अपमान करना उस व्यक्ति की मानहानि की तरह एक 'विवाद पद' (कानूनी दावे का मामला) था, जिसके लिए धर्मस्थीय अदालत से दण्ड मिल सकता था। हर जनपद के पौरों और जानपदों का जनपद के शासन में बहुत-कुछ हाथ था। जनपदों के अपने-अपने 'समय, व्यवहार और चरित्र' (विधान और कानून) थे, जिनका निर्णय जनपद-सभाएँ ही

* मेगास्थेनेस् ने इन ३० आदमियों के लिए 'मजिस्ट्रेट' शब्द का प्रयोग किया है। जायसवालजी ने दिखलाया है कि यूनानी लोग मजिस्ट्रेट शब्द का प्रयोग प्रजा के निर्वाचित व्यक्तियों के ही अर्थ में करते थे। इससे सिद्ध है कि यह ३० आदमियों की परिषद प्रजा द्वारा चुनी हुई होती थी। यही कारण है कि कौटिल्य के 'अर्थशास्त्र' में, जो मौर्यों के राजकीय शासन का वर्णन करता है, इस परिषद का उल्लेख नहीं है। उसमें यह लिखा है कि प्रत्येक नगर के शासन के लिए एक नागरक होता था। प्रकट है कि नागरक राजकीय अधिकारी होता था, जो प्रजा की परिषद के कार्य के निरीक्षण के लिए रहता था।

करतीं थीं। 'समय' (>सम्-अय) वे ठहराव थे जिनके अनुसार किसी समूह अर्थात् संगठन की रचना हुई हो। आधुनिक परिभाषा में हम उन्हें विधान कहेंगे। परम्परा से स्थापित कानून, धर्म और व्यवहार कहलाते थे। धर्म—धार्मिक जीवन के कानून; और व्यवहार—लौकिक जीवन के कानून। ये धर्म और व्यवहार भी परिषदों के स्वीकृत किए हुए पुराने कानून ही थे। ग्रामों, श्रेणियों, नगरों तथा जनपदों की परिषदें जो नए कानून बनातीं वे चरित्र कहलाते। विशेष दशा में राजा अपने शासन से उस धर्म, व्यवहार और चरित्र में रद्दो-बदल कर सकता था। जो राजकीय अधिकारी जनपदों और नगरों के शासन की देखरेख के लिए नियत थे, उनका एक मुख्य काम यह देखना भी था कि जनपद, नगर, ग्राम, श्रेणि आदि अपने-अपने 'समय' को न तोड़ें। 'समय' को तोड़ना फौजदारी अपराध था।

जनपदों के भीतर ग्रामों की अपनी सभाएँ थीं, जो अपने आन्तरिक प्रबन्ध में स्वतंत्र थीं। कर भी गाँव-भर पर सामूहिक रूप से लगाया जाता और कई बार कर के स्थान पर सेवा दी जा सकती थी।

मौर्यों का दण्ड-विधान कुछ कठोर था। पुराने कठोर विधान को कौटिल्य ने काफी नरम बनाने का जतन किया, लेकिन सार्वजनिक हित को खतरा पहुँचानेवाले अपराधों के लिए—जैसे, किसी शिल्पी के हाथ को चोट पहुँचाने, तालाब की पाल

तोड़ने, बस्ती में आग लगाने-जैसे अपराधों के लिए—प्राणदण्ड की व्यवस्था थी। इससे प्रकट है कि राष्ट्र के हित का ध्यान मौर्य शासन और 'व्यवहार' (कानून) में सर्वोपरि था। उस युग के भारतवासी तात्कालिक सभ्य जगत् के अगुआ थे। मौर्य शासन की सुव्यवस्था और उस युग के भारतीयों की नैतिकता का अनुमान मेगास्थेनेस् के इस कथन से ही किया जा सकता है कि भारतीय कभी झूठ नहीं बोलते, न अपने मकानों में ताला लगाते हैं, अदालत में मुकद्‌मेबाजी के लिए बहुत कम जाते हैं।

कलिंग-विजय के बाद अशोक ने मगध की राजनीति में एक नए अध्याय का श्रीगणेश किया। कम्बोज से कर्णाटक और काठियावाड़ से कलिंग तक सारा देश एक छत्र के नीचे आ जाने के बाद कौटिल्य का 'चातुरन्त राज्य' का आदर्श प्रायः पूरा हो चुका था। पच्छिमी सीमान्त से विदेशी आक्रान्ता को धकेल कर भारत के स्वाभाविक सीमान्तों की सुरक्षा का प्रबन्ध पूरा हो चुका था। दक्खिन के थोड़े-से प्रदेशों से, जो अभी जीतने से बचे थे, साम्राज्य को कोई खतरा न था। संहारक युद्ध के बजाय प्रभाव मात्र से वे वश में रक्खे जा सकते थे। अतः राजा के अब 'नित्य उद्यत-दण्ड होने' के बजाय उदाराशय और कृपालु होने की अधिक आवश्यकता थी, जिससे लोगों में साम्राज्य के प्रति आतंक की जगह प्रेम और भक्ति की भावना उत्पन्न हो।

अशोक के सुधार

अशोक ने ठीक समय पर अपने धनुष का वाण तरकस में

रख क्षमानीति का अवलम्बन किया और शस्त्र-विजय के बाद धर्म-विजय करना आरम्भ किया। दक्खिन के अपने पड़ोसी राज्यों को अभय-दान देते हुए उसने अपने अधिकारियों को लिखा—"शायद आप लोग जानना चाहें कि सीमान्त के जो राज्य अभी तक जीते नहीं गए हैं, उनके विषय में राजा क्या चाहता है। मेरी······यही इच्छा है कि वे मुझसे डरें नहीं, मुझ पर भरोसा रक्खें······वे यह मानें कि जहाँ तक क्षमा का बर्त्ताव हो सकेगा, राजा हमसे क्षमा का बर्त्ताव करेगा।"

जंगली इलाकों के उपद्रवियों के लिए अशोक ने लिखा—"चाहे 'देवताओं के प्रिय' को अनुताप है, तो भी उसका बड़ा प्रभाव है, इसलिए वह कहता है कि वे (आटविक या उपद्रवी लोग) लज्जित हों, व्यर्थ न मारे जायँ। 'देवताओं का प्रिय' सब जीवों की अक्षति, संयम तथा समचर्या और प्रसन्नता चाहता है।"

शक्ति और समृद्धि के समय प्रजा को अधिक शिष्ट और सुसंस्कृत बनाने के लिए उसने देश में प्रचलित बहुत-से क्रूर और बीभत्स विनोदों—जैसे, जानवरों को लड़ाकर तमाशा देखना, पशु-पक्षियों को सिर्फ तमाशे के लिए व्यर्थ सताना आदि—की रोक-थाम की। विभिन्न पन्थों और समुदायों के लोगों को एक दूसरे से आदर और सहिष्णुता का बर्त्ताव सिखाने के लिए उसने धर्म-महामात्य नियुक्त किए। "राजा चाहता है कि सब पाषंड (पन्थवाले) सब जगह आबाद हों। वे सभी संयम

और भाव-शुद्धि चाहते हैं।······सब पन्थों की सार-वृद्धि हो······इसका मूल वचोगुप्ति (वाणी का संयम) है, जिसमें अपने पंथ का अति आदर और दूसरे की गर्हा (निन्दा) न की जाय।" 'वैसा करनेवाला अपने पन्थ को भी बढ़ाता है और दूसरे पंथ का भी उपकार करता है।'

राजपुरुष प्रजा को पीड़ित न कर पावें, इसके लिए उसने कड़ी निगरानी रक्खी, और कोई निरपराध उनकी वेपरवाही से कष्ट न पा सके, इसकी ताकीद कर दी। प्रजा को आराम पहुँचाने के लिए उसने मनुष्यों और पशुओं के चिकित्सालय स्थापित किए, कुएँ खुदवाए, रास्तों पर पेड़ रोपे और यात्रियों के लिए प्याऊ तथा विश्राम की जगहें बनवाईं।

उसने लिखा—"मैं खाता रहूँ, जनानखाने में होऊँ या गर्भागार (शयनकक्ष) में, प्रतिवेदक लोग प्रजा का कार्य मुझे बतावें, मैं सब समय प्रजा का कार्य करूँगा। जो कुछ आज्ञा मैं जबानी दूँ या अमात्यों को जो आत्ययिक (तुरत करने का आवश्यक) कार्य सौंपा जाय, उस सम्बन्ध में विवाद या निज्झति (एतराज) होने पर मुझे सूचना देनी चाहिए। कितना ही उद्योग करूँ, कार्य में लगा रहूँ, मुझे संतोष नहीं होता। सब लोगों का हित करना ही मैंने अपना कर्त्तव्य माना है और उसका मूल है उद्योग और कार्यतत्परता।······लोगों का काम करने के अतिरिक्त मुझे कोई काम नहीं है। जो कुछ प्रक्रम मैं करता

हूँ······इसीलिए कि जीवों के ऋण से उऋण होऊँ।······ विना उत्कट प्रक्रम के यह दुष्कर है।"

अशोक की क्षमा-नीति के विषय में बड़ा भ्रम है। सन् १९१६ ई० में स्वर्गीय जायसवालजी ने लिखा था—"यदि अशोक राजनीति में भीरु न बन······अपने पूर्वजों की नीति को जारी रखता तो वह ईरान के सीमान्त से कन्याकुमारी तक समग्र जम्बूद्वीप (भारतवर्ष) को वस्तुतः 'एकच्छत्र' राज्य के अधीन कर सकता था; वह आदर्श तब से आजतक चरितार्थ नहीं हो पाया। इतिहास का एक विशेष सुयोग होने पर एक ऐसे मनुष्य के, जो स्वभाव से एक महन्त की गद्दी के लिए उपयुक्त था, अकस्मात् राजसिंहासन पर उपस्थित होने से (उस आदर्श-पूर्त्ति की) घटना शताब्दियों नहीं, सहस्राब्दियों के लिए पिछड़ गई।" ❀

क्या अशोक ने भारत को कमजोर बना दिया?

इस एक वाक्य से इशारा पा सन् १९२३ में डाक्टर देवदत्त रामकृष्ण भण्डारकर ने कलकत्ता युनिवर्सिटी की कार्लमाइकेल-व्याख्यान-माला में अशोक की नीति पर आलोचना करते हुए कहा था कि "यदि धम्म के भूत ने अशोक के मन पर सवार होकर उसका रूपान्तर न कर दिया होता, और वह विम्बिसार के समय से आरंभ हुई केन्द्राभिमुखी (Centripetal) प्रवृत्ति को जारी रखता, जिसे जारी रख उसके पूर्वज चन्द्रगुप्त ने मगध के छोटे-से राज्य को हिन्दूकश और तामिल राष्ट्रों की

❀ ज० वि० ओ० रि० सो०, १९१६, पृष्ठ ८३।

सीमा तक विस्तृत एक विशाल साम्राज्य में बदल दिया, तथा कलिंग-विजय तक वह खुद भी जिसका अनुसरण करता रहा, तो मगध की अदम्य सामरिक वृत्ति और अद्भुत राजनीति ने भारत के दक्खिनी छोर के तामिल राज्यों और ताम्रपर्णी पर हमला करके ही दम लिया होता; और शायद वे तबतक शान्त न हुई होतीं जबतक भारत की सीमाओं के बाहर रोम की तरह एक साम्राज्य न स्थापित कर लेतीं।"

इसने यदि "उन केन्द्राभिगामिनी शक्तियों को सहारा दिया होता तो अपनी शक्ति और शासन-योग्यता से मगध-साम्राज्य का संगठन दृढ कर दिया होता।......किन्तु उसने कलिंग-युद्ध के बाद—ठीक उस घटना के बाद, जो उस स्थिति के दूसरे राजाओं को......विश्व-साम्राज्य स्थापित करने को उत्तेजित करती—एक दूसरी नीति जारी कर दी।......इस नीति-परिवर्त्तन का......परिणाम......राजनीतिक दृष्टि से विनाशकारी हुआ,......भारतवासियों की केन्द्रग्रथित राष्ट्रीय राज्य और विश्व-साम्राज्य की भावनाओं को मार दिया। फिर......ऐसा प्रतीत होता है कि अशोक की धर्म-दृष्टि से भारतवासियों की राष्ट्रीयता और राजनीतिक गौरव नष्ट हो गए।"

यह आलोचना इन दो विद्वानों की ही नहीं, प्रत्युत आजकल का एक प्रचलित विचार बन चुकी है।

किन्तु श्रीयुत जयचन्द्र विद्यालंकार ने 'भारतीय इतिहास की रूपरेखा' में इस मत का पूरा-पूरा प्रतिवाद किया है। स्वयं

डाक्टर जायसवाल ने भी उसे सुनकर अपने मत का गलत होना स्वीकार किया था। 'रूपरेखा' की युक्तियों का सार यह है कि किसी एक महापुरुष की सनक या करतूत सारी जाति के स्वभाव और उसके इतिहास के मार्ग को नहीं बदल सकती। यदि ई० पू० की तीसरी शताब्दी के भारतीयों में अपने देश को एक साम्राज्य में लाने और पड़ोस के देशों को भी उसमें सम्मिलित करने की आकांक्षा और क्षमता थी, तो अशोक के दबाने से ही वह सदा के लिए दब गई—यह माना नहीं जा सकता। एक व्यक्ति के दबाने से दब या बदल जानेवाले राष्ट्रीय स्वभाव में साम्राज्य खड़े करने की प्रतिभा या क्षमता होना असम्भव है।

दूसरे, रोम या इटली की तुलना भारत से करना एक भूल है। रोम पाटलिपुत्र की तरह एक नगरी था और इटली मगध की तरह एक जनपद। रोम या इटली का साम्राज्य उसकी सीमाओं के बाहर फैलना और मगध का साम्राज्य भारत में फैलना एक-सी बातें थीं। यदि मगध का साम्राज्य भारत की सीमा के बाहर भी फैल जाता तो वह एक बिलकुल भिन्न बात होती।

विस्तार और क्षेत्रफल में उस समय का मगध-साम्राज्य रोम-साम्राज्य के चरम उत्कर्ष के दिनों के विस्तार से भी अधिक विस्तृत था। आबादी और संपन्नता की दृष्टि से तो रोम उसके सामने निरा कंगाल रहा। इटली की राष्ट्रीय एकता की तुलना बिहार के मगध या वैशाली की राष्ट्रीय एकता से हो सकती

है। उनमें एकता की अनुभूति इटली से कहीं ज्यादा थी। रोम-साम्राज्य अपने प्रदेशों में जितनी राजनीतिक एकता और स्थिरता कायम कर सका, मगध के मौर्य और उसके उत्तराधिकारी साम्राज्यों द्वारा भारत में स्थापित एकता और राजनीतिक स्थिरता उससे कहीं अधिक थी।

इसके आगे वहाँ कहा गया है कि अशोक की धर्मविजय-नीति ने भारत को कमजोर नहीं बनाया, प्रत्युत बल दिया। अगली चार-पाँच शताब्दियों में पूरब तरफ सुवर्णभूमि और सुवर्ण-द्वीपों की तथा उत्तर तरफ मध्यएशिया की कुलभूमि में भारतीय उपनिवेश आबाद हो गए। उपनिवेशों की इस स्थापना में अशोक की धर्म-विजय-नीति से गहरी प्रेरणा मिली थी। कहा जाता है कि भारत के वे उपनिवेश और भारत मिला कर एक साम्राज्य के अन्तर्गत कभी न हुए। पर उस जमाने के यातायात-साधनों और हथियारों को देखते हुए इतने बड़े साम्राज्य का कायम होना संसार में कहीं भी संभव नहीं था।

आगे वे कहते हैं कि अशोक चाहता तो तामिल राष्ट्रों और सिंहल को जीतकर साम्राज्य में मिला ले सकता था, पर इनमें से एक-एक के लिए उसे जो कीमत चुकानी पड़ती, उसका अन्दाज कलिंग-विजय से किया जा सकता है। पाण्ड्य और सिंहल नए आर्य उपनिवेश थे। नए और दूर के उपनिवेश पुराने राष्ट्रों की अपेक्षा अधिक जानदार और अपनी स्वाधीनता की रक्षा के लिए अधिक तत्पर होते हैं। उन्हें जीतने का फल यही

न होता कि सारे भारत में कानून और व्यवहार की समता कायम होकर एक-राष्ट्रीयता का विकास अधिक सुगमता से होता ? अशोक ने यह लाभ विना शस्त्र उठाए अपनी धर्म-विजय-नीति से ही पा लिया। पड़ोस के राज्यों में जब प्रभाव-मात्र से सब काम कराए जा सकें, तब युद्ध कर उन्हें व्यर्थ में अपना दुश्मन बनाने की क्या जरूरत ?

भारत के जनपदों में अपनी स्वाधीनता की भावना उत्कट थी। चन्द्रगुप्त और बिन्दुसार को उन्हें काबू रखने के लिए विकट उपायों को बरतना पड़ा था। अशोक यदि ठीक समय पर क्षमानीति और शान्ति की घोषणा न कर देता, तो विद्रोह फूट पड़ने की पूरी संभावना थी। परन्तु उस गौरव के समय संयम की नीति ने देश की राजनीतिक एकता को ढीला करने के बजाय और मजबूत किया। साम्राज्यों की विजय 'दण्ड' से हो सकती है, पर संगठन 'साम' से ही होता है। दण्ड के जोर से बहुत-से जनपदों को एक साथ जीत रखने से ही राष्ट्रीय एकता पैदा नहीं होती, उसके लिए शान्ति की नीति से एकता उत्पन्न करने की जरूरत होती है। अशोक ने सर्वत्र 'दण्ड-समता और व्यवहार-समता अभीष्ट' होने की नीति की घोषणा कर वही बुनियाद पैदा करने का जतन किया था। प्रत्यन्तों (सीमान्त राज्यों) में धर्मविजय की नीति एक प्रकार की 'शान्तिपूर्वक दखल' की नीति थी, जिससे उन देशों की प्रजा में भी साम्राज्य के लिए भक्ति और प्रेम पैदा किया जाता

था। परन्तु आजकल के यूरोपियन राजनेताओं के 'शान्तिपूर्ण दखल' के पीछे जहाँ स्पष्ट मक्कारी है, वहाँ अशोक के बुरे से बुरे दुश्मन को भी मानना होगा कि वह सच्ची भावनाओं से प्रेरित था।

आगे इस प्रसंग में 'रूपरेखा' में अशोक के लेखों की तुलना रोम-सम्राट् ऑगस्तुस के अंकरा-अभिलेख से की गई है। ऑगस्तुस ने ९ ई० में त्यूतो बर्जरबाल्ड पर जर्मनों से हारने के बाद यह समझ लिया था कि रोम-साम्राज्य की सीमा एल्ब नदी तक नहीं पहुँचाई जा सकती, और उक्त अभिलेख में उसने अपने वंशजों के लिए यह नसीहत दर्ज की कि वे साम्राज्य को और बढ़ाने के जतन न करें। दोनों सम्राटों के लेखों में फर्क यह है कि ऑगस्तुस को जहाँ शत्रु से हारने पर यह सूझा, वहाँ अशोक ने विजयी होकर भी आन्तरिक अनुशोचन और धर्म-वेदना के कारण यह विचार किया। एक का यह अपनी कमजोरी को स्वीकार करना था, दूसरे का विजय के समय संयम दिखाना।

अन्त में पंडित जयचन्द्रजी ने लिखा है कि जिन लोगों का यह विचार है कि अशोक की विहिंसा-निषेध नीति से भारत-वासियों की क्षात्र-शक्ति क्षीण होने लगी, उन्हें यह समझना चाहिए कि भोंड़ी क्रूरता और वीरता कभी एक वस्तु नहीं हो सकती, और गौरव के समय संयम करने से मनुष्य या जातियों का ह्रास नहीं, उत्थान होता है। रोम-साम्राज्य के पतन

के कारणों में रोमन जनता का जानवर लड़ाकर देखने का व्यसन और उनमें क्रूरता का अतिरेक भी मुख्य गिना जाता है। अपने गौरव-काल में भी रोमवासी जहाँ अपना यह उजड्डपन और क्रूरता रोक नहीं सके, वहाँ भारतवासियों ने अपने अभ्युदय के समय अपनी सहज मानव उच्चता से प्रेरित होकर अपनी पुरानी आदतों को अधिक संस्कृत और परिमार्जित कर लिया। और, "भारतवर्ष की उस मानव उच्चता का मूर्त्त रूप अशोक था।"

पर उसके उत्तराधिकारियों ने जब उसकी क्षमा-नीति को उचित से अधिक बर्त्ता तब वह मौर्य-साम्राज्य के पतन का कारण हुआ। किन्तु भारतवासियों की आत्मा ने उस नीति को तब स्वीकार नहीं किया, और क्षमा-नीति की आड़ में अपनी कमजोरी छिपानेवाले मौर्य-सम्राट् को 'मोहात्मा' (मूर्ख) 'धर्मवादी अधार्मिक' कहा, उसकी धर्म-विजय का मजाक उड़ाया और उसे अधिकारच्युत कर एक नया साम्राज्य खड़ा कर लिया।

अशोक की धर्मविजय

कलिंग-विजय के बाद अशोक बौद्ध हो गया। उसने इस विजय के चौथे बरस लिखा—"ढाई बरस हुए, मैं श्रावक हुआ हूँ।......बरस से ऊपर हुआ, जब मैं संघ (बौद्धभिक्षुसंघ) के पास पहुँचा और खूब प्रक्रम करने लगा। इस बीच मैंने जम्बूद्वीप (भारतवर्ष) के मनुष्यों को देवताओं से मिला दिया......छोटे और बड़े सभी प्रक्रम करें। अन्त (हमारे सीमान्त के राष्ट्र) भी जान जायँ कि यह हमारा प्रक्रम है।"

अशोक का यह प्रक्रम था अपने राज्य के भीतर और प्रत्यन्तों में 'धर्मविजय' करना—हथियार के बल से पड़ोसी राज्यों की स्वाधीनता छीनने के बजाय उनकी प्रजा पर उपकार कर उनके हृदयों को जीत लेना, और इस तरह उनके मन में भारतीयों के और भारत के साम्राज्य के प्रति प्रेम तथा आदर का भाव पैदा करना। यों विना युद्ध के उसने तात्कालिक ज्ञात सभ्य संसार की दिग्विजय शुरू की।

अपने राज्य के अठारहवें बरस में उसने आचार्य मोग्गलिपुत्त तिस्स की अध्यक्षता में बौद्ध संघ ती तीसरी संगीति * कराई और बुद्ध के चलाए हुए धर्म-चक्र को दुगने-चौगुने वेग से—मध्यदेश की सीमा के आगे अपने सारे साम्राज्य में और उसके बाहर भी—चलाकर, बुद्ध के स्थापित किए हुए धर्म-राज्य को एक विश्व-साम्राज्य में परिवर्त्तित कर दिया। उसकी उस धर्मविजय की सीमा खुद उसी के अपने शब्दों में "सैकड़ों योजन परे अषों (पच्छिमी एशिया) तक—जहाँ अन्तियोक नाम का यवन राजा है और उस अन्तियोक से भी परे चार राजा तुरमाय, मक, अन्तिकिनि और अलिकसुन्दर नाम के हैं †—तथा

---

* बुद्ध के निर्वाण के ठीक बाद राजगृह में बौद्धभिक्षुओं ने मिलकर उनकी शिक्षाओं का गान किया था, वह पहली संगीति थी। उसके सौ वर्ष पीछे 'कालाशोक' (सम्राट् नन्दिवर्धन) के राज्यकाल में वैशाली में दूसरी संगीति हुई थी।

† ये राजा निम्नलिखित थे—

(१) सीरिया का राजा अन्तियोक दूसरा; (२) मिस्र का प्तोलमाय फिला-

नीचे (दक्खिन में) चोल, पांड्य और ताम्रपर्णी वालों तक" पहुँची थी। इन "सभी जगह देवताओं के प्रिय प्रियदर्शी राजा ने दो चिकित्साएँ चला दीं—मनुष्यचिकित्सा और पशुचिकित्सा। ......मार्गों पर मनुष्यों और पशुओं के प्रतियोग के लिए वृक्ष रोपे गए और कुएँ खुदवाए गए।"

सिंहल अनुश्रुति के अनुसार ताम्रपर्णी (सिंहल) के राजा तिष्य ने बहुत-से रत्न और बहुमूल्य उपहार लेकर अपना एक दूतमंडल भेजा, जो ताम्रलिप्ति बन्दरगाह (तामलूक, मेदिनीपुर जिले में) पहुँच, सात दिन बाद, अशोक के दरबार में पाटलिपुत्र हाजिर हुआ। अशोक ने बदले में नाना तीर्थों का जल भेज तिष्य का पुनः राज्याभिषेक कराया और उसे बौद्ध धर्म स्वीकार करने का संदेश भेजा। इस कार्य के लिए अशोक ने अपने पुत्र महेन्द्र को, जो भिक्षु था, सिंहल भेजा। वहाँ राजा तिष्य ने उसका बड़ा स्वागत किया। बाद में महेन्द्र ने अपनी बहन संघमित्रा को भी बोधिवृक्ष की एक शाखा लेकर वहाँ बुलाया। अशोक स्वयं बड़े समारोह के साथ बोधिवृक्ष की शाखा काट पाटलिपुत्र लाया, जो राजभिक्षुणी संघमित्रा के साथ गंगा की राह ताम्रलिप्ति और वहाँ से समुद्र द्वारा सिंहल पहुँचाई गई। वह

देल्फोस; (३) मिस्र के पच्छिम लीबिया का राजा मगस्; (४) मकदूनिया का अन्तिगोनोस गोनातस; और (५) मकदूनिया के उत्तर-पच्छिम एपिरस या कोरिन्थ का स्थलग्रीवा का राजा अलक्सान्दर। यवन शब्द हमारे प्राचीन साहित्य में यूनानी या युरोपियन के अर्थ में ही बर्त्ता जाता था और उसमें कोई बुरा भाव नहीं था।

शाखा उस धर्म के साथ-साथ उस द्वीप में खूब फूली-फली और मातृभूमि से लुप्त हो जाने पर भी वहाँ आज तक बनी हुई है।

इस प्रकार सिंहल की धर्म-विजय करने के बाद अशोक ने उत्तर तरफ गांधार, कश्मीर, कम्बोज आदि में पूर्वी हिमालय की किरात (तिब्बत-बर्मी) जातियों और सुवर्ण-भूमि (बर्मा, सुमात्रा, जावा आदि) के 'आग्नेय' लोगों में तथा पच्छिमी एशिया के यवन-राज्यों तक भिक्षुओं और दूतों को बुद्ध का संदेश सुनाने भेजा।

ढाई सौ बरस बाद उसी पच्छिमी एशिथा में महात्मा ईसा प्रकट हुए, जिनकी शिक्षा बुद्ध की शिक्षा से बहुत मिलती-जुलती है। ये शिक्षाएँ ईसा की मातृभूमि में अशोक के इन सन्देश-वाहकों और भिक्षुओं ने ही पहले-पहल पहुँचाई थीं।

अशोक ने अपने जमाने में ज्ञात सारे संसार को अपनी धर्म-विजय का क्षेत्र बनाने का प्रयत्न किया था। उस समय के संसार में—यूनानी, भारतीय और चीनी—तीन ही सभ्य जातियों की प्रधानता थी। इनमें से चीन का तबतक भारतीयों और पच्छिमी जगत् से सम्पर्क नहीं हुआ था। भारत के पच्छिम का बाकी प्राचीन सभ्य जगत् तब यूनानियों के राज्य में था। उनके पच्छिम रोमवासी अभी सभ्यता सीखने ही लगे थे। अशोक के धर्मविजय के प्रयत्नों के फलस्वरूप, अगले एक हजार वर्षों तक, बिहार, संसार की सांस्कृतिक प्रेरणाओं का केन्द्र बना रहा।

अशोक अपनी इमारतों, शिलालेखों और स्तम्भ-लेखों के

लिए भी प्रसिद्ध है। उसके १४ प्रधान शिलालेखों वाली चट्टानें निम्नलिखित स्थानों में हैं—(१) शाहबाजगढ़ी (जि० पेशावर), (२) मानसेहरा (जि० हजारा), (३) कालसी (जि० देहरादून), चकराता-छावनी के रास्ते पर जमना-किनारे), (४) गिरनार, (५-६) धौली और जौगड़ा (उड़ीसा में), (७) सोपारा (जि० ठाना), और (८) कुर्नूल। मुख्य स्तम्भ-लेखों वाले ६ स्तम्भ अब दिल्ली और प्रयाग में तथा बिहार के चम्पारन जिले में हैं। कुछ गौण खम्भे और शिला-लेख भी हैं, जो लुम्बिनी, रूपनाथ (जि० जबलपुर), चीतलदुर्ग (मैसूर), सहसराम (जि० शाहाबाद) आदि स्थानों में हैं। खम्भों की लाट प्रायः ४०–५० फुट लम्बे एक ही पत्थर को कोर कर बनाई गई हैं, जिनपर पत्थर के कोरे हुए परगहों पर बने सिंह, हाथी, बैल, घोड़ा आदि एक या अनेक पशुओं की आकृतियाँ कला की सुन्दरतम कृतियाँ हैं। उन पर की ओप आज २२ सौ वर्ष की धूप-वर्षा झेलने के बाद भी बिलकुल ताजा है। अशोक के ये स्तम्भ चुनार के भूरे रेतीले पत्थर के बने हैं और वहीं से सब जगह पहुँचाए गए थे। फीरोजशाह तुगलक ने जिला अम्बाला से एक अशोकस्तम्भ दिल्ली मँगवाया था, जिसे रस्सों से खींचने के लिए ही ८–१० हजार आदमी लगे थे और १५० मील ले जाने में बड़ी कठिनता हुई थी। अशोक के कर्मान्तकों (इंजीनियरों) ने इतने स्तम्भ चुनार से इतनी-इतनी दूरियों पर कैसे पहुँचाए, यह आश्चर्यकर है।

अशोक की इमारतें

इसके अतिरिक्त अशोक ने बुद्ध के धातुओं (फूलों) को आठ मूल स्तूपों से निकलवाकर, साम्राज्य के विभिन्न भागों में बहुत-से चैत्य-स्तूप बनवाकर, उनमें स्थापित किया। कापिशी (हिन्दू-कश की तलैटी के कपिश देश, आधुनिक काफिरिस्तान, की राज-धानी) और नगरहार (जलालाबाद, अफगानिस्तान) में वैसे दो स्तूपों को चीनी यात्री य्वानच्वांग ने देखा था। वे अब नष्ट हो चुके हैं।

साँची का प्रसिद्ध बड़ा स्तूप अशोक की रानी, महेन्द्र की माता, असंधिमित्रा का बनवाया हुआ समझा जाता है। बुद्ध-गया में अशोक ने एक चैत्य बनवाया था जो अब दुर्भाग्य से नहीं है, उसका एक वज्रासन मात्र बाकी है। वास्तुशिल्प (स्थापत्य) में उस समय के बिहारी बहुत निपुण थे। पटना के सुगांगेय राजप्रासाद उस समय दुनिया की सबसे सुन्दर इमारतों में थे। उनकी प्रशंसा मेगास्थेनेस् ने, ईरान के हखामनी राजाओं के सूसा के प्रसिद्ध प्रासाद से तुलना करके, की है और लिखा है कि इनके मुकाबले में वे बिलकुल फीके जान पड़ते थे।

अशोक ने भी पटना में एक अद्भुत प्रासाद बनवाया था, जिसके खँड़हर ८ सौ वर्ष बाद चीनी यात्री फाहियान ने देखे थे। उसके अनुसार उस प्रासाद की कारीगरी इतनी अद्भुत थी कि लोग इसे भूतों या अतिमानव यक्षों की कृति मानते थे। इस प्रासाद के अवशेष पटना के पास कुम्हराड़ में मिले हैं। दीदारगंज से मिली हुई चमर-धारिणी की एक सुन्दर प्रतिमा और

एक नग्न जैन प्रतिमा का धड़—दोनों ही उस युग की मूर्त्तिकला के सुन्दर नमूने हैं।

खोतन-उपनिवेश की स्थापना

अशोक के राज्य के अन्तिम दिनों में तक्षशिला में फिर विद्रोह भड़क उठा, जिसे शान्त करने के लिए अशोक ने अपने बड़े पुत्र कुणाल को वहाँ भेजा। कुणाल का आगमन सुन तक्षशिला के पौरों ने साढ़े तीन कोस आगे बढ़ उसकी अगवानी की, और अपने विद्रोह को राजा या कुमार के विरुद्ध नहीं, वहाँ के दुष्ट अमात्यों के विरुद्ध बताया। विद्रोह शान्त करने के बाद कुमार कुणाल तक्षशिला का शासक बनाया गया।

अशोक ने बड़ी उम्र में तिष्यरक्षिता नाम की युवती से विवाह किया था। वह कुणाल से अन्दर ही अन्दर जलती थी। एक बार उसने अवसर पा राजा से, कुमार को अन्धा करने के लिए, एक जाली आज्ञापत्र पर हस्ताक्षर ले, तक्षशिला भिजवा दिया। तक्षशिला के पौर-जानपद कुमार के शासन से बहुत प्रसन्न थे। उन्होंने सम्राट् की आज्ञा का पालन करने से इनकार कर दिया; पर अशोक के डर से वह आज्ञा कुणाल को दिखा दी गई। कुणाल ने राजाज्ञा-पालन करने पर जोर दिया और बिना उफ किए अपनी आँखें निकलवा डालीं। इसके बाद अपनी पत्नी कंचनबाला का कन्धा पकड़े वह मगध का आज्ञाकारी युवराज, भिखारी के वेश में घूमता-फिरता, पाटलिपुत्र पहुँचा। राजा को यह समाचार मिला तो वह बहुत क्रुद्ध हुआ और रानी

तिष्यरक्षिता को उसने कठोर दण्ड दिया। इस षड्यंत्र में शामिल तक्षशिला और पाटलिपुत्र के बहुत-से अमात्यों और कर्मचारियों को देश-निकाले का दण्ड दिया गया (लग० २४७ ई० पू०)। इसी तरह के कुछ निर्वासित लोगों ने कम्बोज के पूरब खोतन (चीनी तुर्किस्तान) के जंगली दलदलोंवाले इलाके को साफ कर वहाँ एक भारतीय उपनिवेश की नींव डाली।

खोतन आजकल चीनी तुर्किस्तान में है, लेकिन पुराने जमाने में उसका चीन से कोई सम्बन्ध नहीं था और मध्य एशिया का कोई भी प्रदेश तब तुर्किस्तान नहीं था। तुर्क लोग तब चीन के उत्तर तरफ, उत्तर-पूरबी एशिया में, रहते थे और ईरान के उत्तरी छोर से चीन की पच्छिमी सीमा तक शक, तुखार, ऋषिक आदि खानाबदोश जातियाँ विचरती थीं। कास्पियन समुद्र से सीर दरिया तक का प्रान्त ईरान का ही अंश था—उसमें ईरानी आर्य रहते थे। वंक्षु (आमू) और सीर नदियों के बीच के दोआब को वे सुग्ध कहते थे। सीर के पूरबी तट पर शक लोग रहते थे। शकों की एक और शाखा आठवीं शताब्दी ई० पू० से अफगानिस्तान के दक्खिन-पच्छिम आ बसी थी। उस प्रदेश का नाम पहले जरंक था, पर शकों के बस जाने से वह शकस्थान कहलाने लगा। वही आजकल का सीस्तान है। कम्बोज देश अर्थात् पामीर के पूरब तरफ तुखार और ऋषिक लोग रहते थे, जो शकों के सगोत्र ही थे। कम्बोज की पूरबी सीमा से चीन के सबसे पच्छिमी प्रान्त

कानसू तक वे ही फैले हुए थे। शक, तुखार और ऋषिक—ये सब नस्ल से आर्य थे और उस समय तक खानाबदोश पशुपालक थे। खेती और लिखना-पढ़ना तबतक उन्होंने न सीखा था। इसी से उनकी कोई स्थिर बस्तियाँ न थीं। चीनी लोग ऋषिकों को युइशि कहते थे, किन्तु वे उनके देश के आरपार तबतक न गए थे। पहले-पहल भारतीय आर्यों ने ही अशोक के समय में इन पशुपालकों के देश में सभ्य बस्तियाँ बसाईं। वहाँ की एक नदी का नाम भारतीय आर्यों ने सीता रक्खा। चीनी लोग आज तक उसे सीता कहते हैं। तुर्क भाषा में उसी का नाम यारकन्द है। बाद में सीता का काँठा गंगा-काँठे के समान पवित्र माना जाने लगा।

मालूम होता है कि अशोक के राज्य के अंतिम दिनों में, उसकी अत्यधिक दानशीलता को देख, मन्त्रि-परिषद् ने, पौर-जानपदों की सहायता से कुणाल के पुत्र युवराज सम्प्रति को अपने साथ मिला, राजकाज बहुत-कुछ अपने हाथ में कर लिया था। उक्त घटनाओं के ६ वर्ष बाद लगभग २४१ ई० पू० में अशोक का देहान्त हुआ।

पिछले मौर्य राजा

कुणाल के अन्धा होने से अशोक के बाद कुणाल का पुत्र दशरथ गद्दी पर बैठा। पर राज्य का काम अपने दादा के समय से ही दशरथ का छोटा भाई सम्प्रति सँभालता था; इसी से दशरथ का दूसरा नाम बन्धुपालित था।

दशरथ के बाद सम्प्रति उर्फ इन्द्रपालित मगध की गद्दी पर बैठा (लग० २२०–२११ ई० पू०)। वह अपने दादा अशोक की ही तरह प्रसिद्ध है।

सम्प्रति को जैन आचार्य सुहस्ती ने उज्जैन में अपने धर्म की दीक्षा दी। कहते हैं, उसने भी बौद्धों की तरह उत्तर-पश्चिम के अनार्य देशों में जैनधर्म-प्रचारक भेजे और वहाँ जैन साधुओं के लिए अनेक विहार स्थापित किए गए। इस प्रकार अशोक और सम्प्रति के प्रयत्नों के फलस्वरूप आर्यसंस्कृति एक विश्वसंस्कृति बन गई। जैन ग्रन्थों में लिखा है कि चन्द्रगुप्त मौर्य, मध्यदेश के बारह वर्ष के दुर्भिक्ष में, आचार्य भद्रबाहु आदि जैन मुनियों के साथ साधु बनकर, दक्षिण चला गया था, और वहीं श्रवण बेलगोला में तप करते हुए अनशन द्वारा उसका देहान्त हुआ। जैन अनुश्रुति के अनुसार वह सारे भारत का अन्तिम मौर्य-सम्राट् था। यह बात सम्प्रति पर ठीक घटती है, और भ्रमवश उसके पूर्वज के नाम पर लग गई प्रतीत होती है। तीसरी शताब्दी ई० पू० में बिहार से जो जैन साधु दक्खिन गए, उन्होंने पहले-पहल तामिल-साहित्य की रचना की।

पाँचवाँ अध्याय

शुङ्ग-साम्राज्य और काण्व

[२१०—२८ ई० पू०]

सम्प्रति का उत्तराधिकारी शालिशुक एक अयोग्य राजा था। उसके शासन-काल में साम्राज्य टूटने लगा और दूर के तथा पीछे जीते गए जनपद उससे स्वतंत्र होने लगे। इस विघटन का प्रतिकार करने के बजाय शालिशुक ने अशोक और सम्प्रति वाली धर्म-विजय तथा क्षमानीति के ढोंग से अपनी दुर्बलता को छिपाना चाहा। लेकिन उस ढोंग से वह जनता को सन्तुष्ट न कर सका। लोगों ने उसे 'मोहात्मा' (मूर्ख) और 'धर्मवादी अधार्मिक' कहा। कलिंग और महाराष्ट्र में अब चेदि और सातवाहनों के दो स्वतंत्र राज्य स्थापित हो गए, और उत्तरापथ में कश्मीर और गांधार के मौर्य कुमारों ने अपनेको स्वतंत्र कर लिया।

मौर्य-साम्राज्य का विघटन

शालिशुक ने १३ वर्ष राज किया। उसके बाद देवधर्मा और शतधन्वा ने क्रम से सात और आठ वर्ष राज किया। तब बृहद्रथ या बृहदश्व मगध की गद्दी पर बैठा।

मौर्य-साम्राज्य के विघटन के साथ ही पच्छिम में उसके

पड़ोसी सीरिया के सेलेउकी-साम्राज्य का भी अंग-भंग आरंभ हो चुका था। उसका सबसे उत्तर-पूर्वी प्रान्त सुग्ध (आमू-सीर-दोआब = बुखारा-समरकंद-प्रदेश) और बाख्त्री प्रदेशों का था। वहाँ बसे हुए यूनानी सैनिकों के नेता ने अशोक के जमाने में ही अपना स्वतंत्र राज्य स्थापित कर लिया था (लग० २५० ई० पू०)। तभी उसके पच्छिम का पार्थव प्रदेश—आधुनिक खुरासान—भी पार्थवजाति के नेतृत्व में राष्ट्रीय विद्रोह कर उठ खड़ा हुआ और स्वतंत्र हो गया था। पार्थवों ने सारे ईरान को स्वतंत्र कर लिया और चार सौ वर्ष तक वह देश पार्थव 'पार्थिया' ही कहलाता रहा।

लगभग २१० ई० पू० में सीरिया के सेलेउक-वंशी राजा अन्तियोक (द्वितीय) ने एक बार फिर पार्थव के विद्रोही राष्ट्र और बाख्त्री के विद्रोही सरदार को वश में करने का उद्योग किया। पार्थवों से नाम-मात्र की अधीनता मनवाकर (लगभग २०८ ई० पू०) उसने बाख्त्र पर हमला किया। दो वर्ष तक बाख्त्री (बलख) के किले को घेरे रहने के बाद अन्तियोक ने उसके शासक से संधि कर ली, और उसके नवयुवक पुत्र देमेत्रिय को अपना दामाद बनाकर भारत की तरफ बढ़ा। काबुल की दून में तब राजा सुभागसेन राज कर रहा था। वह संभवतः सम्प्रति (वीताशोक) के पुत्र वीरसेन का लड़का और उत्तराधिकारी था। अन्तियोक सुभागसेन से सन्धि करके लौट गया।

सुभागसेन की मृत्यु के बाद बाख्त्री के यवन राजा ने हरात और जरंक (सीस्तान) ले लिये, तथा काबुल और हरउवती (कन्दहार) के भारतीय प्रदेशों पर भी दखल जमा लिया। इसके बाद उसके पुत्र देमेत्रिय ने पंजाब, सिंध और राजपूताना पर भी चढ़ाइयाँ कीं। "यवन ने मध्यमिका (चित्तौर के पास नगरी नामक स्थान) को घेर लिया।" फिर "मथुरा, पञ्चाल और साकेत को लेकर दुष्ट विक्रान्त यवन कुसुमपुर (पाटलिपुत्र) पहुँच गए। उनके पुष्पपुर पहुँच जाने और (किले की खाई के आरपार) मिट्टी का सेतु बना लेने पर सब प्रदेश आकुल हो उठे।" पर अकर्मण्य मौर्य राजा बृहद्रथ से कुछ करते न बना।

दिमित और खारवेल

यवनों को मगध तक आया देख कलिंग का राजा खारवेल दिमित के खिलाफ बढ़ा। उसका गोरथगिरि (गया के पास बराबर पहाड़ी) के रास्ते राजगृह आना सुन मगध-सेना उत्साहित हो उठी। इस प्रकार विदेशी आक्रान्ता के विरुद्ध 'अंतिम युद्ध' लड़ा गया।

खारवेल के पहुँचने की खबर पा "यवन राजा दिमित, घबराई हुई सेना और वाहनों को मुश्किल से बचाकर, मथुरा भाग गया।"

खारवेल ने इसके बाद तीन-चार बरसों में अन्तर्वेद (गंगा-जमना-दोआब) और उत्तरापथ तक अभियान कर यवनों को भारत की सीमा से निकालने का जतन किया। अपने राज्य के बारहवें वर्ष में उसने "......उत्तरापथ के राजाओं और मागधों

को त्रस्त कर अपने हाथी सुगांगेय (मगध के राजप्रासाद) तक पहुँचाए। मगध के राजा बहसतिमित को पैरों गिरवाया और राजा नन्द की लाई हुई कालिंग जिनमूर्त्ति को (कलिंग वापस ले जाकर) स्थापित किया तथा अंग-मगध के धन को—गृहरत्नों के प्रतिहारों समेत—लिवा लिया।" बहसतिमित (वृहस्पतिमित्र) अंतिम मौर्यराजा वृहद्रथ का ही नाम था, यह अब मालूम हो चुका है ❀।

वृहद्रथ ने मौर्य-साम्राज्य की इज्जत धूल में मिला दी थी। यवनों के खिलाफ पाटलिपुत्र में जो अंतिम लड़ाई लड़ी गई थी, उसका श्रेय शायद उसके सेनापति पुष्यमित्र को था।

सेनापति पुष्यमित्र

पुष्यमित्र ने अब सेना के एक प्रदर्शन में सारी सेना के सामने कायर मौर्य राजा का सिर धड़ से उतार दिया और मगध की गद्दी हथिया ली। मगध-साम्राज्य की

* पहले यह माना जाता था कि दिमित की चढ़ाई पुष्यमित्र के शासनकाल में हुई। खारवेल के लेख में दिमित और वृहस्पतिमित्र का नाम पढ़ा जाने पर वृहस्पतिमित्र का अर्थ पुष्यमित्र ही किया गया। "रूपरेखा" में पहले-पहल यह कहा गया कि दिमित की चढ़ाई अंतिम मौर्यराजा के समय में ही हुई, और पुष्यमित्र द्वारा मौर्यराजा का मारा जाना उस चढ़ाई का परिणाम था। बहसतिमित का अर्थ पुष्यमित्र स्वीकार करते हुए भी वहाँ यह कहा गया कि मगध की उक्त क्रान्ति खारवेल की पहली और दूसरी चढ़ाइयों के बीच हुई होगी। इसके बाद पुष्यमित्र के सिक्के मिले, जिनसे उसकी बहसतिमित से भिन्नता सिद्ध हुई। अब यह माना जाने पर कि बहसतिमित मौर्यराजा ही था, "रूपरेखा" की यह बात पूरी तरह प्रमाणित हो गई कि दिमित की चढ़ाई मौर्य के ही समय में हुई थी।

बची-खुची शक्ति को पुनः संगठित कर उसने मध्यदेश और पच्छिम मंडल में अपनी शक्ति को सुस्थापित कर लिया, एवं उत्तरापथ से यवनों को निकाल बाहर करने का यत्न जारी रक्खा। संभवतः देमेत्रिय के एक उत्तराधिकारी मेनन्द्र की मृत्यु के बाद (१५५ ई० पू०) अपने अन्तिम दिनों में उसने शाकल तक अपना अधिकार फैला लिया।

पुष्यमित्र विदिशा (भेलसा) का रहनेवाला शुंगवंशी ब्राह्मण था। शुंगराज्य-काल में पाटलिपुत्र के साथ-साथ विदिशा भी साम्राज्य की राजधानी रही। पुष्यमित्र के समय में उसका पुत्र अग्निमित्र विदिशा में राज-प्रतिनिधि था। उसके दक्खिन सटे हुए विदर्भ देश (बरार) में यज्ञसेन नाम का एक शासक था, जो मगध की राज्यक्रान्ति के बाद स्वतंत्र बन बैठा था और मौर्यों का तरफदार था। पर वह, राजगद्दी पर हाल ही में बैठने के कारण, प्रकृतियों (प्रजा) में अपनी जड़ न जमा पाया था। उसका साला मौर्यों का सचिव रह चुका था और अब शुंगों के यहाँ कैद था। उस पर चढ़ाई कर अग्निमित्र ने वरदा (वर्धा) नदी तक का प्रदेश उससे छीन लिया।

अश्वमेध का पुनरुद्धार

इस प्रकार अधिकांश उत्तरापथ, मध्यदेश और पच्छिम मंडल तक मगध के अधिकार को फिर स्थापित करने के बाद, पुष्यमित्र ने, 'धर्मवादी' पिछले मौर्यों की नामर्द नीति का परित्याग कर, सार्वभौम साम्राज्य के वैदिक आदर्श को अपना लक्ष्य घोषित करने के लिए, अश्वमेध

यज्ञ का पुनरुद्धार किया। पुराणों के अनुसार उसने दो अश्वमेध किए। पाणिनीय व्याकरण के महाभाष्य का लेखक प्रसिद्ध पतञ्जलि मुनि उसका पुरोहित था। उसने पुष्यमित्र को यज्ञ कराने का उल्लेख अपने ग्रंथ में किया है। महाकवि कालिदास-कृत 'मालविकाग्निमित्र' नाटक के अनुसार अग्निमित्र का बेटा वसुमित्र पुष्यमित्र के यज्ञ के घोड़े के रक्षकों का मुखिया था। सिन्ध नदी के दक्खिनी तट पर (वर्त्तमान अटक के आसपास कहीं *) घोड़े को यवनों ने पकड़ने की चेष्टा की, पर वसुमित्र ने घोर संग्राम के बाद उनको हरा दिया। इस प्रकार पुष्यमित्र के समय में मगध-राज्य की सीमा बंगाल से सिन्ध नदी तक पहुँच गई। परन्तु सिन्ध नदी के तट-प्रदेश के बारे में संभवतः उसका और यवनों का विवाद था।

साम्राज्य की बागडोर अपने हाथ में ले लेने के बावजूद भी पुष्यमित्र अपनेको अपने पुराने पद 'सेनापति' से ही जनाता रहा। उसके पुत्र अग्निमित्र ने अपने 'सेनापति पिता' के नाम के सिक्के भी चलाए थे। तिब्बती अनुश्रुति के अनुसार पुष्यमित्र शाकल में बौद्ध धर्म का दमन करने के लिए ही गया था और एक-एक बौद्ध के सिर के लिए उसने १००० सुवर्ण कार्षापण इनाम दिया था। भारत का यूनानी आक्रान्ता बौद्ध और बौद्ध धर्म का पोषक बन गया था। संभवतः इसी कारण, और पिछले बौद्ध मौर्यों की कायर नीति के कारण, पुष्यमित्र को बौद्धों से घृणा हो

* 'रूपरेखा', पृ० १०५६।

गई थी। कहते हैं, बौद्धों (यवनों) का दमन करते हुए ही उत्तरापथ में उसका देहान्त हुआ (लग० १५२ ई० पूर्व)।

शुंगों के साम्राज्य की मुख्य राजधानी पाटलिपुत्र में ही थी। पर वे साकेत और विदिशा में भी कभी-कभी रहते थे। इसके अतिरिक्त भरहुत (बघेलखंड में सतना के पास), कौशाम्बी, मथुरा और अहिच्छत्रा (उत्तर पञ्चाल देश की राजधानी, बरेली जिले में आधुनिक रामनगर) में भी उनकी वंश-शाखाओं का या उनके अधीन स्वतंत्र राज्यों का अस्तित्व, वहाँ से मिले मित्रान्त नाम वाले राजाओं के सिक्कों से, प्रकट होता है। "पुष्यमित्र अपने आठ पुत्रों से राज कराता था।" ऐसा मालूम होता है कि शुंगों ने मौर्यों की एक राज्य वाली नीति नहीं बरती। उनके वंश की विभिन्न शाखाएँ प्राचीन जनपदों की राजधानियों में स्थापित थीं, जो उन जनपदों का स्वतंत्र रूप से शासन करती और पुष्यमित्र के वंश की मुख्य शाखा को अपना मुखिया मानकर चलती थीं।

शुंग-साम्राज्य के जनपद

पुष्यमित्र ने हर-एक जनपद को, अपने वंश का राजा देकर, आन्तरिक शासन में उन्हें स्वतंत्र कर दिया और जनपदों को अपनो पुरानी प्रथाओं के अनुसार शासन करने, व्यवहार और चरित्र बनाने तथा मुद्रा बरतने की पूरी स्वाधीनता दे दी। इस युग में हम प्रत्येक जनपद के अपने सिक्के—जिनपर उनके अपने राजाओं या राष्ट्रनेताओं और देवताओं के नाम मिलते हैं—बहुतायत से पाते हैं।

पुष्यमित्र-सहित शुंगों की मुख्य शाखा में दस राजा हुए, जिन्होंने पाटलिपुत्र में ११८ वर्ष राज किया। वे इस प्रकार हैं—(१) पुष्यमित्र ३६ वर्ष; (२) अग्निमित्र ८ वर्ष; (३) वसुज्येष्ठ ७ वर्ष; (४) वसुमित्र १० वर्ष; (५) ओद्रक या उदाक ७ या २ वर्ष; (६) पुलिन्द ३ वर्ष; (७) घोष ३ वर्ष, (८) वज्रमित्र ७ या नौ वर्ष; (९) भाग (भागवत) ३२ वर्ष; (१०) देवभूति १० वर्ष।

पुष्यमित्र के वंशज

अभिलेखों और मुद्राओं से प्रायः इन सभी राजाओं का अस्तित्व सिद्ध हुआ है*। संभवतः पुष्यमित्र के बाद पंजाब से शुंग-अधिकार फिर उठ गया; क्योंकि वहाँ मेनन्द्र की रानी और उसके पुत्र स्त्रत के सिक्के बड़े परिमाण में मिलते हैं।

वाणभट्ट कवि (७वीं शती ई०) के ग्रन्थ 'हर्पचरित' के अनुसार वसुमित्र को खेल-तमाशों का बड़ा शौक था। एक बार एक नाटक देखते समय नट के छद्म वेश में मित्रदेव नाम के एक व्यक्ति ने उसका सिर काट लिया। मित्रदेव शायद काण्व था।

वसुमित्र के बाद ९वें राजा भागभद्र तक शुङ्ग-राजा पच्छिमी पंजाब को छोड़ प्रायः सारे उत्तरी भारत और विंध्यमेखला के सम्राट् रहे। राजा भागवत या भागभद्र का राज्यकाल लम्बा था और तब भारत के पश्चिमी सीमान्त पर एक नई आँधी उठ रही थी।

शक और काण्व

गान्धार और आधुनिक अफगानिस्तान तथा बलख पर

* ज० बि० ओ० रि० सो०, जि० २०, पृ० २६०।

दिमित के बाद ही उसके एक प्रतिद्वन्द्वी यवन सैनिक और उसके वंशजों का दखल हो गया था (१७३-१५५ ई० पू०)। उसके शीघ्र बाद उत्तर-पूर्वी एशिया से एक आँधी उठी, जिसने इन यवनों के—इनकी राजधानी बलख से—पैर उखाड़ दिए। चीन की उत्तरी सीमा के साथ-साथ हूण लोग रहते थे। वे चीन के आबाद प्रान्तों पर छापे मारा करते थे। अशोक के समकालीन चीन के पहले सम्राट् ने, उन्हें रोकने के लिए, चीन की उत्तरी सीमा के साथ-साथ, एक बड़ी दीवार बना दी। ठेठ चीन से यों टाले जाकर वे लोग उसके पच्छिम ऋषिक-तुखारों के देश (आधुनिक चीनी तुर्किस्तान) पर टूटे और उन्हें पच्छिम खदेड़ दिया। ऋषिक-तुखारों ने, वहाँ से खदेड़े जाकर, सीर दरिया के शकों पर हमला किया, और शक लोग उनके दबाव से पच्छिम-दक्खिन बढ़कर बलख के यवन-राज्य पर जा टूटे। वह राज्य यों मिट गया (१४० ई० पू०)। ऋषिक लोग बलख की तरफ बढ़े (१२८ ई० पू०), तो शक बलख से हरात होते हुए शक-स्थान के अपने भाई-बन्दों की ओर चले। हरात और शकस्थान दोनों पार्थव-राज्य में थे। शकों की लुटेरी आदतों के कारण पार्थव राजाओं ने उन्हें दबाया, तो वे शकस्थान से भारत के सिन्ध-प्रान्त में और सिन्ध से सुराष्ट्र और पंजाब में आ निकले। काबुल और गान्धार का यवन-राज्य तब तीन तरफ से उनका दबाव अनुभव करने लगा था। स्वयं शुङ्ग-राज्य भी सीमान्त की इस नई आँधी को सशंक दृष्टि से देख रहा था। राजा

भागभद्र (भागवत) के १४वें वर्ष (९३ ई० पू०) में, तक्ष-शिला (गांधार) के यवन राजा अन्तलिखित ने, अपना एक दूत विदिशा भेजा था।

अवन्ति (उज्जैन) पर शुङ्गों का कुल ९० वर्ष अधिकार रहा, जिसके बाद वहाँ किसी गर्दभिल्ल राजा का अधिकार हो गया था। शकों ने सुराष्ट्र के बाद अवन्ति को भी ले लिया और फिर राजा भागवत के अन्तिम दिनों में शुङ्ग-राज्य के विदिशा और मथुरा प्रान्तों पर चढ़ाई की। दूसरी तरफ उन्होंने गांधार के यवन-राज्य का अंत करके सारा पंजाब अपने अधिकार में कर लिया (लग० ७५ ई० पू०)। तभी राजा भागवत की मृत्यु हुई।

भागवत का उत्तराधिकारी देवभूति तब नाबालिग था। अतः मगध-साम्राज्य की राज्य-शक्ति पूरी तरह उसके ब्राह्मण मंत्री वासुदेव काण्व के हाथ चली गई। देवभूति का १० बरस का राज्य काण्वों के नियन्त्रण में रहा प्रतीत होता है। वह व्यसनी था, अतः १० वर्ष बाद (७४ ई० पू०) वासुदेव ने उसे मारकर मगध की गद्दी पर अधिकार कर लिया। वासुदेव और उसके तीन उत्तराधिकारियों—भूमित्र, नारायण और सुशर्मा—ने क्रम से ९, १४, १२ और १० वर्ष, कुल ४५ वर्ष, मगध में राज किया।

काण्वों का अधिकार केवल मगध और उसके आसपास के केन्द्रीय प्रदेशों पर रहा। बाकी कई प्रदेशों में शुङ्गों की सत्ता भी बनी रही।

छठा अध्याय

सातवाहन और कुषाण-साम्राज्य

[२८ ई० पू०—लग० १७५ ई०]

शकों का उच्छेद

मगध-साम्राज्य जब विदेशियों के आक्रमणों, आन्तरिक कलहों और महलों के षड्यन्त्रों से यों क्षीण और छिन्न-भिन्न हो रहा था, तभी दक्खिन में एक शक्तिशाली राज्य स्थापित था। सातवाहनों का वह राज्य कलिंग के चेदि और मगध के शुंग-राज्य का समवयस्क था। सातवाहनों की राजधानी महाराष्ट्र के प्रतिष्ठान (आधुनिक पैठन) नगर में थी। गुजरात, अवन्ति और विदिशा पर दखल कर लेने के बाद शक-राज्य की सीमा दक्खिन में इसी सातवाहन-राज्य से जा लगी थी। शकों ने मगध की तरह सातवाहन-राज्य को भी छेड़ा। तब शक महाक्षत्रप नहपान और सातवाहन राजा गौतमीपुत्र शातकर्णि में ठन गई। गौतमीपुत्र ने क्षहरात शक-वंश को समाप्त कर सारा काठिया-वाड़ और पूरबी-पच्छिमी मालवा शकों से छीन लिया (५८ ई० पू०), और नहपान के सिक्कों पर अपनी छाप

बिठाई। विद्वानों ने गौतमोपुत्र को ही भारतीय अनुश्रुति का प्रसिद्ध राजा विक्रमादित्य माना है।

शकों को उखाड़ने में गौतमीपुत्र के साथ पूर्वी राजपूताना का मालवगण * (प्रजातन्त्र) भी शामिल था। अपनी इस विजय की स्मृति में मालवगण ने एक संवत् चलाया, जो बाद में विक्रम-संवत् के नाम से प्रसिद्ध हुआ। मथुरा में शक महाक्षत्रपों के बाद बलमित्र, गोमित्र आदि के सिक्के मिलते हैं। नामों से उनके शुंग होने का अनुमान किया गया है।

गौतमीपुत्र से हराए जाने के बाद सिन्ध, पंजाब, गान्धार और अफगानिस्तान से भी शकों का लोप हो गया। अफगानिस्तान में ईरान के पार्थव-वंश की एक शाखा पह्लव का राज्य कायम हो चुका था। पह्लवों ने पंजाब और सिंध पर भी अधिकार कर लिया।

बिहार—सातवाहन-साम्राज्य में

मगध का काण्व-शुङ्ग-साम्राज्य इस समय तक बहुत बोदा हो गया था। मगध के अन्तिम राजा अपने पूर्वजों की संचित असीम सम्पत्ति पाकर विलासी हो गए थे। वसुमित्र और अंतिम शुङ्ग देवभूति के जमाने की अन्तःपुर की राज्य-क्रांतियों से हम उस जमाने के मगध-साम्राज्य की राजधानी में होनेवाली रोज-

---

* हम देख चुके हैं कि पहले संघ का अर्थ प्रजातन्त्र राज्य था। बुद्ध ने अपने भिक्षुओं के समुदाय को संघ कहा। उसके बाद जब उस शब्द से भिक्षुसंघ समझा जाने लगा, तब राजनीतिक संघ अर्थात् प्रजातन्त्र के अर्थ में गण शब्द चल पड़ा।

मर्रों की घटनाओं का कुछ अनुमान कर सकते हैं। उनके मुकाबले में महाराष्ट्र के सातवाहन सीधे-सादे, वीर और कठोर थे। शुंगों और सातवाहनों का वह अन्तर उस युग की कलात्मक कृतियों में पत्थर पर लिखा हुआ आज भी पढ़ा जा सकता है। साँची और भरहुत के तोरण और वेदिकाएँ शुंग-साम्राज्य में बनी थीं और नासिक और कार्ले के गुहामंदिर सातवाहन-राज्य में। उनमें कोरी हुई पुरुष और स्त्री-मूर्त्तियों की भावभंगी और वेशभूषा से उस युग के मराठों का मर्दानापन तथा मगध-मध्यदेश का वैभव-विलास आँखों के सामने आ जाता है।

गौतमीपुत्र द्वारा शकों के पराभव के बाद सातवाहन भारत की प्रमुख शक्ति बन गए थे। उनका साम्राज्य तब मगध-साम्राज्य के पच्छिमी और दक्खिनी छोरों को छूता था। गौतमीपुत्र के बाद उसका पुत्र वासिष्ठीपुत्र पुलुमावी गद्दी पर बैठा। उसके समय में सातवाहन-साम्राज्य अपने चरम उत्कर्ष पर पहुँच गया। लगभग २८ ई० पू० में पुलुमावी ने अन्तिम काण्व सुशर्मा और बचे-खुचे शुंगों का सफाया कर मगध को अपने साम्राज्य में मिला लिया।

सातवाहन लोग अब लगभग सारे भारत के एकच्छत्र सम्राट् थे। दक्खिन के तामिल राष्ट्र उनके अधीन न हों, तो भी उनके प्रभाव में अवश्य थे। सातवाहनों का दरबार विद्या और संस्कृति का केन्द्र बन गया। खासकर स्थानीय भाषाओं

और प्राकृतों को उनके राज्य में बहुत प्रोत्साहन मिला। पुलुमावी की तीसरी पीढ़ी (लगभग १७–२१ ई०) में राजा हाल हुआ, जो स्वयं प्राकृत के एक कवि और विद्या के आश्रयदाता के रूप में प्रसिद्ध है। सिन्ध की पुरानी अनुश्रुति के अनुसार हाल का अधिकार सिन्ध तक था। इसका अर्थ यह है कि सातवाहनों ने शकों-पह्लवों को भारत के सीमान्तों तक खदेड़ दिया।

ऋषिक-तुखारों का पंजाब-मध्यदेश जीतना

परन्तु इस बीच ऋषिक-तुखार वंक्षु (आमू) के काँठे में स्थापित हो चुके थे, और उन्होंने हिन्दुकश की घाटियाँ पारकर कपिश, कश्मीर और गान्धार में अपनी कई बस्तियाँ बसा ली थीं। लगभग राजा पुलुमावी के समय में ऋषिकों का एक सरदार कुषाण कद्फिस हुआ, जिसके नेतृत्व में ये छोटी-छोटी बस्तियाँ एक हो गईं। ईसवी सन् के आरंभ तक राजा कुषाण काबुल-गान्धार के पह्लव-राज्य को साफ कर चुका था। इसके बाद उसने पंजाब-सिन्ध की तरफ कदम बढ़ाया।

पंजाब के गणराज्य तब सातवाहनों की संरक्षकता में थे। विदेशी शक-सत्ता के उखाड़ने में सातवाहन उन्हीं के सहयोग से सफल हुए थे। पंजाब की तरफ बढ़ने पर ऋषिकों का सातवाहनों से सीधा संघर्ष आरम्भ हुआ। सिन्धी अनुश्रुति के अनुसार कद्फिस को सातवाहनों के मुकाबले में पीछे हटना पड़ा। तो भी सिन्ध के कुछ अंश पर उसका दखल हो ही गया। बाद में उसने सातवाहनों (राजा हाल) की मदद से सिन्ध में बचे

हुए अग्नि-पूजक पारसी शासकों (पह्लवों) का सफाया कर उसे अपने अधिकार में ले लिया।

पुराणों के अनुसार सातवाहनों का उत्तर-भारतीय साम्राज्य सिर्फ ५२ वर्ष चला।

अन्दाजन ४१ ई० में राजा कुषाण का देहान्त हुआ। उसके पुत्र विम ने कुषाण-राज्य को और पूरब बढ़ाना चाहा। जान पड़ता है, राजा हाल के बाद (२०–२१ ई०), मगध-मध्यदेश से सातवाहन-राज्य समाप्त हो गया। कुषाण और विम कदफिस के सिक्के इलाहाबाद के दक्खिन भीटा (प्रचीन सहजाति) और बनारस (सारनाथ) में मिले हैं। इससे भी इस बात की पुष्टि होती है। इसके अतिरिक्त नैपाल के लिच्छिवि राजाओं के लेखों से मालूम होता है कि उनका पूर्वज सुपुष्प ईसवी सन् के शुरू में पाटलिपुत्र का राजा था। संभवतः कुषाण या उसके पुत्र विम के आक्रमणों का लाभ उठाकर लिच्छिवियों ने—जिनके गण की पृथक् सत्ता, ५०० बरस तक मगध-साम्राज्य के अधीन रहने के बावजूद भी, नहीं मिटी थी—इस समय मगध पर कब्जा कर लिया। यह भी हो सकता है कि उक्त लिच्छिवि सातवाहनों की तरफ से ही मगध के शासक रहे हों और सातवाहनों की इस विपत्ति का फायदा उठाकर स्वतंत्र बन बैठे हों।

जो भी हो, लगभग २० ई० में, कुषाण और विम के आक्रमणों के फलस्वरूप सातवाहन-राज्य का बिहार से उठ जाना निश्चित-सा जान पड़ता है। विम का ६४ ई० तक जीवित रहना

उसके अभिलेखों से प्रमाणित है। ६४–६८ ई० के बीच विम की मृत्यु हुई।

परन्तु सातवाहन-राजशक्ति इतनी जल्दी दबनेवाली न थी। राजा हाल के वंशज राजा कुन्तल शातकर्णि ने एक बार फिर ऋषिकों के हाथ से उत्तर भारत का उद्धार किया। एक बहुत प्रचलित पुरानी कहानी है कि सिरकप—श्री (विम) कप्स—का उत्तराधिकारी रिसालू था। सिरकप और रिसालू के समय में पंजाब की प्रजा पच्छिम से आए हुए आत्याचारी शक से पीड़ित हो उठी। राजा विक्रमादित्य ने मुलतान तथा लोनी के कोटले के बीच करोड़ स्थान में उसे मारकर प्रजा का उद्धार किया। यह घटना अनुश्रुति के अनुसार विक्रमादित्य के १३५ बरस बाद हुई।

विम के बाद १०–१२ वर्ष तक उसके किसी उत्तराधिकारी का पता नहीं मिलता। इस प्रकार ५७ ई० पू० की पुरानी घटना एक बार फिर दुहराई गई और पुराने विक्रम-संवत् की तरह इस घटना को भी स्मरण रखने के लिए एक नया संवत् चला, जिसे हम अब शालिवाहन या शक-संवत् के नाम से जानते हैं। मगध पर लिच्छिवियों के अधिकार का इसके बाद क्या हुआ, यह जानने का हमारे पास अभी कोई साधन नहीं है।

परन्तु सातवाहनों की यह विजय भी चिरस्थायिनी न हुई। ऋषिक लोग ज्यादा दिन चुप न रहे। विम के उत्तराधिकारी

देवपुत्र कनिष्क

कनिष्क ने खोतन के राजा विजयसिंह के पुत्र विजयकीर्त्ति की मदद से मध्यदेश पर आक्रमण

किया। सातवाहनों को पीछे हट जाना पड़ा। इन १०-११ वर्षों में सातवाहन-गद्दी पर महेन्द्र, कुन्तल और सुन्दर शातकर्णि—ये तीन राजा हो गए। इससे यह अनुमान किया जा सकता है कि उनपर बड़ी कठिनाई आ पड़ी थी।

कनिष्क ने शीघ्र ही गान्धार और सारा पंजाब दखल कर मध्यदेश पर चढ़ाई की। उसकी सेनाओं ने साकेत और पाटलिपुत्र को आ घेरा। मगध के राजा को हराकर कनिष्क मगध-राज-सभा के अलंकार महाकवि अश्वघोष को अपने साथ लेता गया। राँची तक में कनिष्क के सिक्कों के ढेर पाए गए हैं, जिनसे अनुमान किया गया है कि सारा बिहार उसके अधीन था।

कनिष्क के सिक्कों पर देवपुत्र शाहि शाहानुशाहि लिखा पाया जाता है। शाहि शब्द ऋषिक-भाषा का है और उसका अर्थ सरदार होता है—शाहानुशाहि अर्थात् सरदारों का सरदार।

कनिष्क से पहले तक कुषाण-वंशजों की राजधानी बदख्शाँ (कम्बोज) में थी। बिहार तक अधिकार कर लेने के बाद कनिष्क ने गान्धार में नई राजधानी पुरुषपुर (पेशावर) की नींव डाली। मगध-विजय से लौटने के बाद कनिष्क ने अपने पच्छिम और दक्खिन हरउवती (कन्दहार) के पह्लव-राज्य का बचा-खुचा अंश भी समाप्त कर दिया, एवं ईरान के पार्थव राजा के आक्रमण का सफलता-पूर्वक मुकाबला भी किया।

कनिष्क बौद्ध था। अशोक ने धर्म-विजय की जो नीति

चलाई थी उसके फलस्वरूप इस समय तक मध्यएशिया में भारतीय संस्कृति की जड़ अच्छी तरह जम चुकी थी। इसके अतिरिक्त खोतन में, जहाँ से कनिष्क आया था, अशोक के समय से एक आर्यावर्त्ती उपनिवेश था, यह लिख चुके हैं *। उस उपनिवेश के राजा विजयकीर्त्ति के साथ ही कनिष्क ने मध्यदेश पर चढ़ाई की थी। खोतन-उपनिवेश भारत की उत्तरी सीमा से लगा हुआ था। यह कहा जा सकता था कि उस समय भारत की सीमा थियानशान पर्वत या तारीम नदी तक थी, और खोतन का राज्य भी उसके अन्तर्गत था। ऋषिक-राज्य की पहली नींव डालनेवाला राजा कुषाण भी वहीं का—सीता के काँठे का—बौद्ध था। किन्तु उसका बेटा विम शैव था। कुषाण ने ही पहले-पहल बौद्धधर्म का सन्देश चीन भेजा।

महाकवि अश्वघोष

महाकवि अश्वघोष कनिष्क का गुरु था। उसके उपदेशों से प्रेरित हो कनिष्क ने मध्यएशिया आर चीन में बौद्ध धर्म के प्रचार के लिए वही काम किया जो अशोक ने भारत में किया था। अश्वघोष के गुरु पार्श्व और वसुमित्र के नेतृत्व में उसने बौद्धों की चौथी संगीति कश्मीर में कराई, जिसमें बौद्धधर्म के चुने हुए ५०० भिक्षुओं ने भाग लिया।

अश्वघोष पटना या अयोध्या का रहनेवाला था। उसका 'बुद्धचरित' महाकाव्य संस्कृत-साहित्य में एक उत्कृष्ट रचना है।

---

* दे० ऊपर—पृ० १०६।

कविता में प्रसादगुण और शैली की परिष्कृति की दृष्टि से अश्वघोष कालिदास का अग्रगामी है। कालिदास की कविता पर उसकी गहरी छाप है।

कनिष्क ने लगभग २१ या २३ वर्ष राज किया। उसके मगध-मालवा जीत लेने के बाद सातवाहन-राज्य विन्ध्याचल के दक्खिन ही रह गया। मालवा में कनिष्क की तरफ से ज़ामोतिक* का पुत्र चष्टन महाक्षत्रप नियुक्त था। उसकी और उसके उत्तराधिकारियों की, सातवाहनों से, उठा-पटक इस युग के अन्त तक जारी रही।

खरपल्लान और वनस्फर

साम्राज्य के विभिन्न मंडलों पर शासन करने के लिए कनिष्क ने महाक्षत्रप और उनके नीचे हरएक जनपद में क्षत्रप नियुक्त किए। इस प्रकार मथुरा से पूरब सारे पूरबी मंडल में खरपल्लान नाम का महाक्षत्रप नियुक्त था, और उसके अधीन बिहार पर फिर वनस्फर नाम का क्षत्रप था। मिर्जापुर के बनाफरे राजपूत उसी वनस्फर के वंशज हैं।

महाक्षत्रप खरपल्लान के बाद, लगभग ९० से १२० ई० में, बिहार का क्षत्रप वनस्फर सारे पूरबी मंडल का महाक्षत्रप हुआ। वह एक पराक्रमी शासक था। उसके नेतृत्व में कुषाण-राज्य दक्खिन में पद्मावती तक पहुँच गया। "नपुंसकों-सी आकृतिवाले, युद्ध में विष्णु के समान बली उस महासत्त्व विश्वस्फाति

---

* मध्य एशिया के ज़ उच्चारण के लिए हमारी लिपि में तब कोई संकेत न था, इसलिए चष्टन के पिता का नाम य्सामोतिक लिखा जाता था।

(वनस्फर) ने सब पार्थवों का उत्सादन कर कैवर्त्त, पंचक, पुलिन्द, यउव, मद्रक आदि दूसरे नीच वर्णों को पार्थव बनाया।" "अधिकांश प्रजा को उसने ब्राह्मणों को न माननेवाली बना दिया। क्षत्र को उखाड़कर उसने दूसरा क्षत्र बनाया और जाह्नवी-तीर पर देवों और पितरों का भली भाँति तर्पण कर संन्यास ले शरीर छोड़ स्वर्ग सिधारा।"

हुविष्क और वासुदेव

कनिष्क के उत्तराधिकारियों में हुविष्क (लग० १०९–१४० ई०) और वासुदेव (१४०–१७३ ई०) प्रसिद्ध हुए। हुविष्क के समय में कुषाण-सत्ता पूरब में पुरी तक पहुँच गई थी।

चम्पा-उपनिवेश

महाजनपद-युग में समुद्र-पार के पूर्वी देशों और द्वीपों में भारतवासियों का जो आना-जाना शुरू हुआ था, उसके फल-स्वरूप मौर्य, शुंग और सातवाहन युगों में अनेक आर्य उपनिवेश उन देशों में स्थापित हो गए। इस उपनिवेश-स्थापन के कार्य में बिहारियों का बहुत बड़ा भाग था। अराकान की अनुश्रुति है कि वहाँ का पहला राजा बनारस से आया था। वहाँ के सन्दोवै जिले में वेसालि नाम की बस्ती अब भी है। जावा द्वीप के पूरबी द्वीप में अब भी एक सरयू नदो है। पहली शताब्दी ई० में आधुनिक हिन्द-चीन के पूरबी छोर तक भारतीय उपनिवेश बस गए थे। इनमें सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण चम्पा का उपनिवेश था, जिसका नाम अंग देश के लोगों ने अपनी चम्पा नगरी (भागलपुर) के नाम

पर रक्खा था। चम्पा-उपनिवेश के कौठार, पाण्डुरङ्ग, अमरावती, विजय आदि कई प्रान्त थे और उसकी राजधानी इन्द्रपुर थी। चम्पा के पश्चिम एक और बहुत बड़ा भारतीय उपनिवेश था, जिसमें आजकल का समग्र कम्बुज (कम्बोदिया), स्याम आदि देश सम्मिलित थे। इस उपनिवेश का मूल संस्कृत नाम अभी तक मालूम नहीं हो सका। चीनी लोग इसे फूनान कहते थे। यह उपनिवेश दक्खिन भारत के लोगों का बसाया हुआ था।

चम्पा-राज्य इसके बाद बारह सौ वर्षों तक बड़ी समृद्ध दशा में बना रहा। उसके बाद १८२२ ई० तक वह किसी-न-किसी रूप में जारी रहा। वहाँ के आग्नेय जाति के मूल निवासियों ने भारतीय आर्यों की शिक्षा-दीक्षा अपना ली थी। वे लोग अबतक चम कहलाते हैं।

सातवाँ अध्याय

नाग और वाकाटक

[लग० १७५—३४४ ई०]

शुंगों के पतन के बाद विदिशा (भेलसा) में नागों का एक राजवंश उठा था। शकों ने उससे विदिशा छीन ली थी। नह-

भारशिव-नाग

पान के बाद सातवाहनों द्वारा शकों के उखाड़े जाने पर विदिशा और मथुरा में उन नागों के राज्य फिर स्थापित हुए थे; पर कुषाणों के हमलों के आगे नागों को अपनी स्वाधीनता बचाने के लिए विंध्याचल के जंगलों में भाग जाना पड़ा था। वहाँ उन्हीं के नाम से वर्त्तमान नागपुर का नाम पड़ा। महाक्षत्रप वनस्फर के समय कुषाण-राज्य जब अमरावती (बरार) तक पहुँच गया तब इन नागों को और अधिक दबना पड़ा। पर वनस्फर के बाद (९२० ई०) वासुदेव के समय में कुषाण-साम्राज्य शिथिल पड़ने लगा। तब उक्त प्रदेश में नाग लोगों ने फिर सिर उठाया। वासुदेव के अन्तिम दिनों में, नवनाग के नेतृत्व में, उन्होंने बघेलखण्ड के रास्ते चढ़ाई कर कुषाण-साम्राज्य पर कौशाम्बी के आसपास चोट की और वासुदेव के बाद मथुरा तथा सारे गंगा-जमना-दोआब, अवध और संभवतः पूर्वी पंजाब से भी कुषाण-राज-

सत्ता उखाड़ फेंकी। नवनाग की राजधानी कान्तिपुरी (मिर्जापुर की पुरानी बस्ती कन्तित) थी।

आर्यावर्त्त से ऋषिक-राज्य को उखाड़नेवाले नाग राजा, अपने उत्तराधिकारी वाकाटकों के अभिलेखों के अनुसार, अपने को शिव का भार कन्धों पर उठानेवाले नन्दी समझने के कारण, भारशिव कहते थे। उन्होंने गंगा-जमना-दोआब का उद्धार करने के कारण गंगा-जमना के संकेतों को अपना राजचिह्न बनाया। नवनाग (लग० १४०—७० ई०) से भवनाग (लग० २९०-३१५ ई०) पर्यन्त भारशिवों के सात राजा हुए, जिन्होंने बनारस में दस बार अश्वमेध कर सारे भारत में अपनी प्रभुता घोषित की। कान्तिपुरी के अतिरिक्त मथुरा, पद्मावती (ग्वालियर-राज्य में पदम-पवायाँ) आदि में उन्होंने अपने शाखावंश स्थापित कर दिए।

लगभग २४५ ई० में फूनान-उपनिवेश का एक दूत पटना में आया। उसने वहाँ 'मुलुन' (मुरुण्ड) राजा को शासन करते पाया था। मगध के उस शक (मुरुण्ड) राजा ने उस दूत के साथ युइशि (ऋषिकों) के देश के चार घोड़ों सहित अपने दूत को फूनान भेजा था। मुरुण्ड एक शक-शब्द का संस्कृत रूप है; उसका अर्थ है स्वामी। शक-ऋषिक लोग अपने सरदारों को मुरुण्ड कहते थे। पाटलिपुत्र का यह मुलुन (मुरुण्ड) राजा वनस्फर का ही कोई उत्तराधिकारी रहा होगा। उक्त उल्लेख से यह बात प्रमाणित होती है कि कम-से-कम मगध में २४५ ई० तक वनस्फर के वंशजों की सत्ता बनी हुई थी।

वर्त्तमान बुन्देलखंड में पन्ना रियासत का सारा पठार, पन्ना शहर के पास बहनेवाली एक छोटी नदी किलकिला के नाम पर, किलकिला कहलाता था। लगभग २४८ से २८४ ई० तक वहाँ विन्ध्यशक्ति नाम का भारशिवों का एक सामन्त हुआ। वाकाट (बागड, चिरगाँव, जिला झाँसी के पास) का होने से उसका वंश वाकाटक या विंध्यक कहलाता है। उसी ने संभवतः मगध से मुरुण्डों के शासन का अन्त किया (लगभग २७८ ई०) *।

मुरुण्ड-वंश

भारशिव-साम्राज्य इस समय गंगा-काँठे से नागपुर-बस्तर के पठार तक फैला था। वाकाटकों के नेतृत्व में अब दक्खिन के राज्य भी जीते गए। भारशिव-साम्राज्य की राज-शक्ति धीरे-धीरे विंध्यशक्ति वाकाटक के हाथ चली आई। उसके पदारोहण (२४८ ई०) से एक संवत् चला, जो वाकाटकों के बाद भी चेदि (बुन्देलखंड, बघेलखंड, छत्तीसगढ़, गोंडवाना) में प्रचलित रहने से चेदि-संवत् कहलाया।

विंध्यशक्ति वाकाटक

---

* पुराणों में १३ मुरुण्डों का वृषलों के साथ २०० वर्ष राज करना लिखा है। वहाँ वृषल से संभवतः लिच्छिवि अभिप्रेत हैं। वनस्फर, कनिष्क के राज्य के तीसरे वर्ष से भी पहले, मगध का क्षत्रप था, यह बात सारनाथ के एक अभिलेख से मिलती है। संभवतः कनिष्क की मगध-विजय के बाद ही वह वहाँ नियुक्त हो गया था। अतः, यदि कनिष्क और उसके उत्तराधिकारियों के अभिलेखों का संवत् प्रसिद्ध शक-संवत् ही है, तो ७८ + २०० = २७८ ई० में मगध से मुरुण्ड-सत्ता का अन्त मानना चाहिए।

विंध्यशक्ति के बाद उसका लड़का प्रवरसेन या प्रवीर उसका उत्तराधिकारी हुआ। भारशिव अब नाममात्र के राजा रह गए थे। साम्राज्य की असली शक्ति प्रवरसेन के ही हाथ में आ गई थी। अन्तिम भारशिव राजा भवनाग ने अपनी इकलौती लड़की प्रवरसेन के पुत्र गौतमीपुत्र से ब्याह दी और उसके पुत्र रूद्रसेन (रूद्रदेव) को अपना उत्तराधिकारी नियत किया। प्रवरसेन संभवतः इस 'शिशुक' राजा का संरक्षक था। प्रवरसेन (प्रथम) के नेतृत्व में भारशिव-वाकाटक-साम्राज्य अपने चरम उत्कर्ष पर पहुँच गया। प्रवरसेन ने चारों दिशाओं में दिग्विजय कर चार अश्वमेध किए और 'सम्राट' पद धारण किया। उसकी दिग्विजयों के फलस्वरूप लगभग २९५ ई० में मालवा, गुजरात, काठियावाड़ के क्षत्रपों को अपना महाक्षत्रप पद छोड़ना पड़ा, और कुषाणराज्य पंजाब से उखाड़ा जाकर सिर्फ काबुल में रह गया। कुषाणों ने तब ईरान के सासानी राजा की शरण ली। सम्राट् प्रवरसेन ने ६० बरस राज किया।

सम्राट् प्रवरसेन

बिहार में मुरुण्ड और लिच्छिवि (वृषलों के) राज्य के बाद कोट नाम के एक नए वंश की स्थापना हुई। लगभग २७५ ई० में, प्रयाग और उसके उत्तर गंगा-पार अवध में, गुप्त नाम के एक सरदार की जागीर थी। गुप्त का बेटा घटोत्कच और उसका चन्द्र गुप्त हुआ। चंद्र गुप्त ने वैशाली की लिच्छिवि-कुमारी कुमारदेवी

गुप्तवंश का उदय

से विवाह किया, और लिच्छिवियों की मदद से पाटलिपुत्र के कोट-राजा को मार मगध दखल कर लिया। वैशाली का राज्य संभवतः कुमारदेवी की तरफ से उसे मिला (३१९–२० ई०)। प्रयाग और साकेत के साथ मगध पर भी अधिकार कर लेने के बाद चन्द्र गुप्त ने महाराजाधिराज-पद धारण किया।

कोट लोग वाकाटकों के सामन्त थे तथा मथुरा के राजा से, जो भारशिव नागवंश की एक शाखा का था, उनका निकट सम्बन्ध था। उधर चन्द्र गुप्त लिच्छिवियों का सहयोगी था, जो कुछ ही पहले बिहार के शासन में मुरुण्डों के साझेदार थे और जिन्हें हराकर भारशिव-वाकाटकों ने कोट-वंश को मगध में स्थापित किया था। इस प्रकार चन्द्र गुप्त का यह काम वाकाटक-साम्राज्य के खिलाफ विद्रोह था। मगध के लोग भी संभवतः उसके शासन को पसन्द न करते थे। इसलिए पाटलि-पुत्र की मंत्रिपरिपद् ने, संभवतः वाकाटक-सम्राट् प्रवरसेन का आदेश पा, मथुरा के यदुकुल की सहायता से, चन्द्र गुप्त की अनुपस्थिति में, राजधानी पर अधिकार कर, वहाँ कोट-वंश की पुनः स्थापना कर दी।

मगध से निकाले जाने के बाद भी चन्द्र गुप्त का अवध पर, और संभवतः लिच्छिवियों की सहायता से तिरहुत पर भी, अधिकार रहा। उसने अपने पुत्रों में सबसे योग्य समुद्र गुप्त को अपना उत्तराधिकारी चुना (३४० ई०)।

आठवाँ अध्याय

गुप्त-साम्राज्य

[३४४—लग० ५४० ई०]

समुद्र गुप्त एक असाधारण सेनापति और प्रतिभावान् व्यक्ति था। अवध में रहकर उसने अपनी तैयारी की और प्रवरसेन के मरते ही वाकाटक-साम्राज्य पर हमला कर दिया। उसने मगध पर चढ़ाई कर पाटलिपुत्र को घेर लिया। पद्मावती, गङ्गा-जमना-काँठे और मथुरा के सरदार पटना को बचाने दौड़े। समुद्र गुप्त ने उन्हें रास्ते में, सम्भवतः कौशाम्बी पर, रोककर पूरी तरह हरा दिया। उधर उसकी सेना ने पाटलिपुत्र में विजय का झंडा फहराकर वहाँ के कोट-राजा को कैद कर लिया।

दिग्विजयी समुद्र गुप्त

इसके बाद उसने वाकाटक-साम्राज्य के दक्खिन-पूरबी पहलू पर चोट की। बंगाल-उड़ीसा के मैदान के रास्ते को छोड़ वह सीधा—मगध के दक्खिन झारखंड, कोशल (छत्तीसगढ़) और महाकान्तार (बस्तर) को पार कर—गोदावरी के मुहाने की ओर बढ़ा। कांची का राजा तथा कलिंग और आन्ध्र के अनेक सरदार हड़बड़ी में उसके मुकाबले को इकट्ठा हुए। कुराल (कोल्लेरु)

झील के पास वे सबके सब लड़ाई में पकड़े गए और अधीनता मानने पर छोड़े गए।

यों साम्राज्य के दोनों पहलू तोड़ समुद्र गुप्त ने वाकाटकों के केन्द्र पर चढ़ाई की, और वीना नदी पर एरकिण (आजकल का एरण, जि० सागर) की प्राचीन बस्ती के पास, एक गहरी लड़ाई में, प्रवरसेन के पोते और अन्तिम भार-शिव महाराज भवनाग के दौहित्र और उत्तराधिकारी रुद्रदेव (रुद्रसेन प्रथम) को, सरदारों समेत मार गिराया।

इन आकस्मिक विजयों से समुद्र गुप्त की धाक दूर-दूर तक जम गई। एक तरफ उसके पूर्व और उत्तर 'प्रत्यन्त' (सीमान्त) के समतट (गंगा का मुहाना), डवाक (त्रिपुरा-चटगाँव), कामरूप, नैपाल, कर्तृपुर (कत्यूर, कुमाऊँ में) आदि राज्य, और दूसरी तरफ पच्छिमी प्रत्यन्त के मालव (पूर्वी राजपूताना), आर्जुनायन (भरतपुर के आसपास), यौधेय (सहारनपुर से सतलज के दोनों तरफ बहावलपुर रियासत तक), मद्रक (स्यालकोट), आभीर आदि सभी गण-राज्य उसे कर देने और उसकी आज्ञा मानने लगे।

समुद्र गुप्त ने वाकाटकों को चेदि (बुन्देलखंड) और महाराष्ट्र में बना रहने दिया। काठियावाड़ का क्षत्रप, प्रवरसेन की मृत्यु के बाद, साम्राज्य की विपत्ति के समय, फिर महाक्षत्रप बन बैठा था (३४५ ई०)। वाकाटक-साम्राज्य से निबटते ही समुद्र गुप्त बिजली की तरह उसके राज्य पर जा टूटा और क्षत्रप-

वंश का अंत कर दिया (३५१ ई०); पर तेरह बरस पीछे उसने उन्हें सामन्त-रूप से फिर स्थापित कर सिक्के निकालने की आज्ञा दे दी। भारत में समुद्र गुप्त का साम्राज्य स्थापित होने पर "देवपुत्र शाहि शाहानुशाहि शक मुरुण्डों" अर्थात् काबुल और तुखार देश (पामीर, बलख, बदख्शाँ) के कुषाण-वंशियों और सिंहल आदि सब भारतीय द्वीपों के राजाओं ने उसे भेंटें भेजीं। उसके 'अंक' (चिह्न) की छाप वाले सिक्के अपने राज्यों में चलाए, और उससे अपने-अपने देश में राज करने के परवाने माँगे। उनमें से किसी को, शायद काबुल के राजा को, अपनी कन्याएँ भी भेंट करनी पड़ीं।

समुद्र गुप्त इस तरह "द्वीपों सहित सारी पृथ्वी (भारत)" का 'महाराजाधिराज परमेश्वर' हुआ। उसने अश्वमेध यज्ञ किया और उसका स्मारक सोने का सिक्का चलाया। वह जैसा अद्वितीय विजेता था वैसा ही सुशासक, विद्वान् तथा काव्य और संगीत में निपुण भी। वह विष्णु का उपासक और अपने इष्टदेव की तरह पराक्रमी, दुष्टों के दलन, प्रजा के पालन एवं मंगल और राष्ट्र की समृद्धि करने में तत्पर था।

चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य

समुद्र गुप्त अपने सबसे छोटे पुत्र चन्द्र गुप्त को अपना उत्तराधिकारी बनाना चाहता था; पर उसके बाद उसके मंत्रियों ने उसके बड़े पुत्र राम गुप्त को ही सम्राट् बनाया। राम गुप्त कमजोर और भीरु था। काबुल और तुखार देश के राजा को समुद्र गुप्त के आगे दबना पड़ा

था। अब उसने बदला लेने का मौका देख गुप्त-साम्राज्य पर चढ़ाई की। राम गुप्त उसका मुकाबला करते हुए, व्यास नदी के पास, हिमालय की बाहरी शृंखला में बने हुए विष्णुपद नाम के पहाड़ी गढ़ में, घिर गया। शकाधिपति (कुषाण राजा) ने उससे उसकी नवविवाहिता रानी ध्रुवस्वामिनी को, सरदारों की कन्याओं समेत, अपने हवाले सौंप देने की माँग की। कायर राम गुप्त इसके लिए तैयार हो गया। पर नवयुवक चन्द्रगुप्त से यह अपमान सहा न गया। उसने अपने भाई और मंत्रिपरिषद् के सामने एक दूसरी योजना रक्खी और स्वयं ध्रुवस्वामिनी का वेश बना तथा अपने साथी नौजवानों को उसकी सहेलियों के वेश में साथ ले, शत्रु के डेरे में घुसा और कुषाण राजा का उसके सरदारों सहित काम तमाम कर दिया। उसका शंख सुनते ही गुप्त-सेना शकों की उस नायक-हीन अव्यवस्थित सेना पर टूट पड़ी। चन्द्र ने 'सिन्धु की सातों धाराएँ' (व्यास से सिन्ध तक पाँच तथा स्वात और काबुल) पार कर ठेठ बलख पर चढ़ाई की और कुषाणों को उनके गढ़ में परास्त किया। बलख की चढ़ाई से पहले कुमार चन्द्र बंगाल के किसी सम्मिलित दल को भी हरा चुका था।

इन घटनाओं के बाद राम गुप्त प्रजा में बहुत अप्रिय हो गया। स्वयं देवी ध्रुवस्वामिनी भी अपने कायर पति से घृणा करने लगी और एक राज्यक्रान्ति के बाद उसने और मगध की

प्रजा ने अपने वीर रक्षक और उद्धारक चन्द्र गुप्त को अपना पति * और भर्त्ता वरण किया।

भेलसा के पास उदयगिरि की चन्द्रगुप्त-गुहा के बाहर स्त्री-रूपिणी पृथ्वी का उद्धार करते हुए नरवराह की प्रतिमा है। इसमें मानों भारतभूमि और ध्रुवस्वामिनी का उद्धार करते हुए चन्द्र गुप्त की कहानी पत्थर पर अंकित की गई है। इस वराहमूर्त्ति का बल और ओज और इसकी दन्तकोटि पर लटकती स्त्रीमूर्त्ति की सुन्दरता और कोमलता देखते ही बनती है। वह दृश्य भारतीय कला के सबसे सुन्दर नमूनों में से है।

राम गुप्त के समय की कमजोरी का फायदा उठाकर गुजरात, काठियावाड़ के शकक्षत्रपों ने स्वतंत्र हो फिर से महाक्षत्रप पद धारण करना शुरू कर दिया था (३८२ ई०)। चन्द्र गुप्त ने उन पर चढ़ाई कर उस राजवंश का भी सदा के लिए लोप कर दिया। इस प्रकार आर्यावर्त्त से शकों को अन्तिम रूप से उखाड़ उसने ५८ ई० पू० के सातवाहन-राजा गौतमीपुत्र शातकर्णि का विक्रमादित्य का विरुद धारण किया। उसकी इन विजयों की स्मृति में विष्णुपद पहाड़ पर एक ३३ फुट ऊँचा लोहे का गरुड-स्तम्भ स्थापित किया गया। ११वीं सदी में उसे राजा अनंगपाल वहाँ से दिल्ली उठा लाया। वहाँ महरौली में उस

---

* प्राचीन आर्यावर्त्त में तलाक और विधवाविवाह की प्रथाएँ साधारण रूप से प्रचलित थीं। तलाक को मोक्ष कहते थे। ध्रुवदेवी ने राम गुप्त का मोक्ष किया या उसकी मृत्यु के बाद चन्द्र गुप्त से विवाह किया, यह अभी नहीं कहा जा सकता।

'लोहे की कील' पर चन्द्र की बलख-विजय की कीर्त्ति अब भी खुदी है।

चंद्र गुप्त की लड़की प्रभावती गुप्ता वाकाटक-राजा रुद्रसेन (द्वितीय) से ब्याही थी। रुद्रसेन की मृत्यु पर वह अपने नाबालिग बेटे के नाम पर महाराष्ट्र में स्वयं राज करती रही (३९५–४१५ ई०)। इस प्रकार उस समय भारत का जो एकमात्र भाग चन्द्र गुप्त के साम्राज्य में न था, उसपर उसकी बेटी राज कर रही थी।

प्रभावती गुप्ता

अपने पिता समुद्र गुप्त की तरह चंद्र गुप्त भी वीर और प्रतिभा-सम्पन्न महापुरुष था। वह अत्यन्त सुयोग्य शासक था। उसके और रानी प्रभावती के समय में भारतवर्ष उन्नति की चरम सीमा पर पहुँच गया। उनके साम्राज्य-जैसी शान्ति और समृद्धि हमारे देश ने न पहले कभी देखी थी और न बाद में देखी।

प्रसिद्ध चीनी यात्री फाहियेन उस समय भारत में आया था। उसने गुप्तों की राजधानी पाटलिपुत्र, वैशाली, बुद्धगया आदि बिहार के सभी तथा भारत के प्रायः मुख्य-मुख्य स्थानों और बौद्ध-केन्द्रों में भ्रमण किया। पटना में उसने दो बरस रह संस्कृत पढ़ी। उसके यात्रा-वृत्तान्त से मालूम होता है कि देश में बड़ी शान्ति और सुखसमृद्धि विराजती थी। चोरी या डाका-जनी नहीं के बराबर थी। चन्द्र गुप्त ने अपने राज्य से प्राणदण्ड उठा दिया था। दूसरे अपराधों के लिए भी गुप्तों की दण्ड-

व्यवस्था बहुत नरम थी, और शारीरिक दण्ड के बजाय जुर्माने आदि की सजा अधिक दी जाती थी। सारी राज्य-संस्था बहुत ही सुव्यवस्थित थी।

चन्द्र गुप्त के समय में साहित्य और कला की भी अभूतपूर्व उन्नति हुई। गुप्त-सम्राट् स्वयं विद्वान् थे। महाकवि कालिदास इसी चंद्र गुप्त के दरबार में था। वह चंद्र गुप्त की तरफ से दक्खिन में कुन्तल के राजा के पास विक्रमादित्य का दूत बनकर गया था। कालिदास के महाकाव्य 'रघुवंश' के रघु-दिग्विजय में हमें समुद्र गुप्त और चन्द्र गुप्त की विजयों की गूँज सुनाई देती और उसकी सारी रचनाओं में गुप्तयुग के आदर्शों की एक स्पष्ट झलक दीख पड़ती है। उसके नाटक 'अभिज्ञान-शाकुन्तल' की नायिका शकुन्तला को जर्मन महाकवि गुइथे ने पृथ्वी और अन्तरिक्ष के माधुर्य का सार कहा है। गुइथे ने उसी से प्रेरणा पाकर वर्त्तमान युग के यूरोपीय साहित्य में एक नए ढंग के प्रक्रम और रसमय जीवन (Romance) की धारा चला दी है।

कालिदास

श्रीजयचन्द्र विद्यालंकार के शब्दों में "कालिदास के काव्यों तथा नाटकों में भारत की आत्मा जिस तरह प्रकट हुई है, उस तरह आजतक और किसी कवि की रचना में शायद नहीं हुई।......प्रातःकाल की उषा की सूचना जैसे चिड़ियों के चहचहाने से मिलती है, वैसे ही गुप्त-युग की नई ज्योति की सूचना कालिदास के जादू-भरे छन्दों से मिलती है।

भारतवर्ष की संस्कृति का पूरा निचोड़ हम उसकी रचनाओं में पाते हैं।"

इस प्रकार कालिदास को हम गुप्तयुगीन कला का पूरा प्रतिनिधि कह सकते हैं। कला के सुप्रसिद्ध आलोचक श्रीराय कृष्णदास के शब्दों में "गुप्तों का कला-प्रेम और उनकी उत्कृष्ट सुरुचि उनके युग की प्रत्येक कृति से टपकती है। गुप्तकालीन कला का उत्कर्ष गुप्त-साम्राज्य के निःशेष हो जाने पर भी लगभग सौ वर्ष तक बना रहा।.........सौन्दर्य क्या है और अपनी कृति में उसकी अभिव्यक्ति कैसे करनी चाहिए, इसके तत्त्व को गुप्तकालीन मूर्त्तिकार पूर्ण रूप से जानते थे। जैसे—कुशल रसोइया छहों रसों के—तीते और कड़वे तक के—स्वादु-से-स्वादु व्यंजन बनाता है, जो आप-आपको एक-से-एक बढ़-कर होते हैं, वैसे ही ये कलाकार भी समस्त रसों की सर्वाङ्गीण अभिव्यक्ति करने में पूर्णरूप से कृतकार्य हुए हैं। उनकी कला में एक साथ भावुकता और आध्यात्मिकता है—गांभीर्य और रमणीयता है। संस्कृत के सुप्रसिद्ध स्तोत्र जगद्धरकृत 'स्तुति-कुसुमांजलि' का पद्यांश—'ओजस्वी मधुरः प्रसाद-विशदः'—उन कलाकारों की कृतियों पर सर्वथा लागू होता है। अलंकरणों का कम-से-कम प्रयोग करके इन कलाकारों ने उसे सार्थक किया है।"*

इस युग की मूर्त्ति-कला के सर्वश्रेष्ठ नमूनों में राय कृष्णदासजी ने सारनाथ और सुलतानगंज (भागलपुर) से पाई गई बुद्ध-

---

* भारतीय मूर्त्तिकला, पृ० ९५-९६।

मूर्त्तियों को भी गिना है। सारनाथ वाली मूर्त्ति के विषय में वे कहते हैं—"स्वभाव से ही इसके उत्फुल्ल मुख-मण्डल पर अपूर्व शान्ति, प्रभा, कोमलता और गम्भीरता है। अंग-प्रत्यंग में काफी सौकुमार्य होते हुए भी ऐहिकता छू नहीं गई है—'मनहुँ सांत रस धरे सरीरा'।"

सुलतानगंज वाली मूर्त्ति के विषय में उन्होंने लिखा है—"यह मूर्त्ति साढ़े सात फुट ऊँची है। समुद्र की तरह महान्, गंभीर और परिपूर्ण एक लोकोत्तर पुरुष प्रतिष्ठित है जिसका दाहना हाथ अभय-मुद्रा में, एक ऊर्मि-भंग की भाँति, कुछ आगे बढ़ा हुआ है। मुख-मंडल पर अपूर्व शांति, करुणा और दिव्यता विराज रही है।" आगे वे कहते हैं—"ऐसा जान पड़ता है कि इनके बनानेवालों ने अपनी सारी भक्ति-भावना को प्रत्यक्ष कर दिखाया है। ऐसा अलौकिक दिव्य दर्शन कराकर उन शिल्पियों ने मानवता को कितना ऊँचा उठा दिया है!"†

लेकिन मानवता को ऊँचा उठानेवाले अपने पूर्वजों की सुन्दर कृतियों को, मानवता को कलंकित करनेवाले ब्रिटिश युग के गुलाम हिन्दुस्तानी, देख भी क्यों पायें? गुलाम की हर चीज कानूनन उसके मालिक की होती है और मालिक जब चाहे उसे ले सकता है—यही सन्देश आज वह सुलतानगंज वाली बुद्ध-प्रतिमा बरमिंघम-म्यूजियम से भेज रही है। बिहार के इतिहास की कलाकृति आज उसके घर में नहीं है!!!

† वहीं, पृ० ९८-९९।

चन्द्र गुप्त के बाद उसके लड़के कुमार गुप्त (प्रथम) ने ४० वर्ष शान्ति-पूर्वक राज किया। उसकी माता देवी ध्रुवस्वामिनी सम्भवतः वैशाली की ही कुमारी थी। कुमार गुप्त के अतिरिक्त उसके गोविन्द गुप्त और घटोत्कच नाम के दो और पुत्र थे। महाराज गोविन्द गुप्त, चन्द्र गुप्त या कुमार गुप्त के समय में, मालवा का शासक था। ध्रुव-स्वामिनी, मालूम होता है, अधिकतर वैशाली में ही रहती थी। वहाँ उसकी और घटोत्कच गुप्त की मुहरें मिली हैं।

कुमार गुप्त

महाराष्ट्र में उस समय प्रभावती के लड़के प्रवरसेन (द्वितीय) का राज्य था (४१५-३५ ई०)। अनुश्रुति है कि महाकवि कालिदास अपने जीवन के अंतिम दिनों में इसी प्रवर-सेन के दरबार में रहा।

पटना और राजगृह के बीच नालन्दा के महाविहार की स्थापना पहले-पहल कुमार गुप्त ने ही की। नालन्दा पीछे सभ्यता और संस्कृति के एक महान् केन्द्र और विद्यापीठ के रूप में प्रसिद्ध हो गया। चन्द्र गुप्त और कुमार गुप्त का राज्य-काल बिहार का एक अद्वितीय शान्ति और समुन्नति का युग था। भारतीय दर्शन, कला और साहित्य का इस समय खुलकर विकास हुआ। और, इस सारे विकास का केन्द्र प्रायः पाटलिपुत्र, नालन्दा, मगध और बिहार के अन्य मुख्य नगर ही थे।

परन्तु यह शान्ति अधिक दिन तक स्थिर न रही। साम्राज्य

के उत्तर-पच्छिमी और दक्खिन-पच्छिमी सीमान्तों पर इस समय दो नई शक्तियों ने उदित होकर गुप्त-राजलक्ष्मी को विचलित कर दिया। इनमें एक तो मालवा का पुष्यमित्रों का गण था, दूसरी तरफ थी उत्तरपूर्वी एशिया की हूण नाम की जाति, जो चन्द्र गुप्त और कालिदास के समय में वंक्षु (आमू दरिया) के उस पार तक पहुँच चुकी थी।

पुष्यमित्र-गण का विद्रोह कुमार गुप्त के शासन-काल के अंत में हुआ। ऐसा जान पड़ता है कि उसी समय हूणों के पहले दल ने भी गुप्त-साम्राज्य पर चढ़ाई की। इस दुहरे धक्के की चोट से एक बार गुप्त-साम्राज्य डगमगा गया। कुमार गुप्त के बेटे स्कंद ने, जो अभी सुकुमार वय का था, बहादुरी से शत्रुओं का मुकाबला किया। एक लड़ाई में उसकी सेना के पैर उखड़ गए और सब सामान छिन गया, तो भी वह डटा रहा और सैनिकों के साथ उसने एक रात जमीन पर सोकर काटी।

इसी विकट परिस्थिति में सम्राट् कुमार गुप्त की मृत्यु हुई (४५५ ई०)। अन्त में स्कन्द गुप्त सब शत्रुओं के जीतने में कामयाब हुआ। गाजीपुर जिले के भीतरी गाँव में उसकी विजयों का स्मारक एक सुन्दर स्तम्भ आज भी खड़ा है। उसपर लिखा है कि अपने पिता के स्वर्ग सिधारने के बाद स्कन्द गुप्त जब विजय का समाचार लेकर वापस लौटा तब आँखों में आँसू भरे उसकी माता ने उसका वैसा ही स्वागत किया, जैसा (कंस-वध के बाद लौटने पर)

स्कन्द गुप्त क्रमादित्य

कृष्ण का देवकी ने किया था। इसके बाद ३० बरस तक हूणों को भारत की तरफ आँख उठाने की हिम्मत न हुई, और अगले ५० बरसों तक उन्होंने फिर गुप्त-साम्राज्य से छेड़छाड़ नहीं की। हूणों को हराने के बाद स्कन्द ने साम्राज्य के सब सीमान्त प्रदेशों की रक्षा के लिए गोप्ता (रक्षक) नियुक्त किए और राज्य में एक बार फिर पूर्ण शान्ति और व्यवस्था कायम की।

५ वीं सदी ई० में हूणों के हमलों से सारे सभ्य जगत् में तहलका मच गया था। रोम-साम्राज्य उनके मुकाबले में तहस-नहस हो गया और ईरान ने भी पछाड़ खाई। उस युग के सभ्य जगत् में यदि किसी से हूणों ने हार खाई तो एक स्कंद गुप्त से ही। स्कन्द के १२ बरस (४५५–४६७ ई०) के शासन में गुप्त-साम्राज्य का पुराना गौरव और सुख-समृद्धि बराबर बनी रही। लगभग ४६७ ई० में ३० वर्ष की छोटी उम्र में उसका शरीरान्त हुआ।

स्कन्द गुप्त के दो और भाई पुर गुप्त और बुध गुप्त थे। स्कन्द गुप्त के बाद पुर गुप्त का पुत्र नरसिंह गुप्त बालादित्य गद्दी पर बैठा। वह बौद्ध था। उसने अनेक विहार, चैत्य, विश्रामगृह आदि बनवाए। नालन्दा में उसके द्वारा एक मन्दिर बनवाने का पता अभिलेखों से मिलता है। तीस वर्ष की उम्र में वह घर छोड़ प्रव्रजित हो गया, और अपने एक पुत्र की मृत्यु से पागल हो, ३६ वर्ष की उम्र में उसने आत्मघात कर लिया। उसके बाद उसके पुत्र कुमार गुप्त (द्वितीय) ने, और फिर बुध गुप्त

ने, जो संभवतः स्कन्द गुप्त का भाई था, राज किया (४७६–५०० ई०)। उस जमाने तक गुप्त-साम्राज्य की एकता और शान्ति कायम रही।

काबुल के तुखार और ईरान के सासानियों ने स्कंद गुप्त द्वारा भारत से खदेड़े गए हूणों से मुकाबला जारी रक्खा। ४८४ ई० में हूणों ने ईरान के शाह फीरोज को लड़ाई में मार डाला। इसके बाद अफगानिस्तान की हरी-भरी और आबाद बस्तियों को उजाड़कर उन्होंने गान्धार पर कब्जा कर लिया, और ५०० ई० के बाद उनके राजा तोरमाण 'षाही जऊव्ल' ने गुप्त-साम्राज्य की कमजोरी का फायदा उठा पंजाब से मालवा तक के प्रदेश पर अधिकार कर लिया।

गुप्त साम्राज्य का ह्रास

बुध गुप्त के बाद बंगाल से मालवा तक के प्रदेश पर इस समय भानु गुप्त का अधिकार था। संभवतः उसी का विरुद बालादित्य था। लगभग ५१० ई० में गोपराज नाम का, भानु गुप्त का, एक प्रधान सेनापति हूणों के खिलाफ लड़ता हुआ मारा गया। हूण-राजा ने मगध तक हमले किए। प्रकटादित्य नाम के गुप्त-राजकुमार को, जिसे अज्ञात कारणों से भानु गुप्त के सेनापति गोपराज ने कैद कर रक्खा था, अपनी तरफ से मगध की गद्दी पर बिठा हूण-राजा वापस लौटा। रास्ते में गङ्गा के किनारे बनारस में उसका देहान्त हो गया और मिहिरकुल उसका उत्तराधिकारी हुआ। बालादित्य ने उसकी अधीनता मान सुलह कर ली।

मिहिरकुल की राजधानी शाकल थी और वह अपनेको पशुपति (शिव) का उपासक कहता था। उसने प्रजा पर, खासकर बौद्धों पर, बहुत अत्याचार किए। भानु गुप्त-बालादित्य इस बीच १५ वर्षों में मगध में अपनी शक्ति का पुनः संगठन करता रहा। अब उसने हूणों का आधिपत्य मानने से इनकार कर दिया। मिहिरकुल ने उसपर चढ़ाई की। बालादित्य पहले हारने का बहाना कर उसे गंगा के कछारों में कहीं भटका ले गया, और तब अचानक पलटकर उसकी पथभ्रष्ट असंगठित सेना पर टूट पड़ा। मिहिरकुल कैद होकर बालादित्य के सामने पेश हुआ। पर उसने अभिमान-पूर्वक बालादित्य की तरफ से अपना मुँह फेर लिया। बालादित्य ने तब उसे सूली पर चढ़ाने का निश्चय किया; पर अन्त में अपनी माता के कहने से उसे जीवन-दान दिया।

हूण-विजय की इस खुशी के उपलक्ष में बालादित्य ने नालन्दा-विहार में जाकर एक विशाल मंदिर बनवाया। संभवतः इसके कुछ समय बाद ही बालादित्य का देहान्त हुआ, और उसका लड़का प्रकटादित्य गद्दी पर बैठा (लगभग ५२० ई०)।

बुध गुप्त के उत्तराधिकारी मगध के गुप्त-राजा जब देश की प्रजा को विदेशियों के आक्रमण से बचाने में असमर्थ रहे, तब पंजाब, राजपूताना और मालवा की जनता के नेता यशोधर्मा विष्णुवर्द्धन नामक एक साधारण कुल के व्यक्ति ने उठकर वह काम कर दिखाया जो गुप्त-

यशोधर्मा विष्णुवर्द्धन

सम्राटों से न हो सका था। उसने देश से हूणों की जड़ उखाड़, एवं पूरब के नामधारी मिथ्या सम्राटों को हटाकर देश का शासन अपने हाथों में लिया और सच्चे अर्थों में सम्राट् बना। पूरब में "लौहित्य (ब्रह्मपुत्र) और महेन्द्र पर्वत (उड़ीसा) से लेकर हिमालय और पच्छिम समुद्र के बीच उन सभी प्रदेशों में—जिन्हें सारी वसुधा को अपने प्रताप से आक्रान्त करनेवाले गुप्त भी न भोग पाए, और राजाओं के मुकुटों पर बैठनेवाली हूण-राजाओं की आज्ञा भी जिनमें न पहुँची थी"—उसका अधिकार माना जाने लगा।

यशोधर्मा की विजयों के फलस्वरूप गुप्त-साम्राज्य एक अरसे के लिए लुप्त हो गया (लग० ५३३ ई०)।

नवाँ अध्याय

पिछले गुप्त-राजा

[लग० ५४०—लग० ७४० ई०]

यशोधर्मा ने किसी राजवंश की स्थापना न की। उसकी मृत्यु (लग० ५४० ई०) के बाद उसका साम्राज्य देश के विभिन्न नेताओं और सेनापतियों में बँट गया। इनमें मुख्य थानेसर के बैस और कन्नौज के मौखरि* थे, जो उसी की तरह सर्वसाधारण में से आगे आए थे।

गुप्त-मौखरि-संघर्ष

बिहार और गौड में तब गुप्त-साम्राज्य पुनरुज्जीवित हो उठा। उत्तरी बंगाल (पुण्ड्रवर्धन) से प्राप्त हुए ५४४ ई० के एक लेख में 'महाराजाधिराज··'गुप्त' पढ़ा जाता है। महाराजाधिराज का नाम वहाँ मिट गया है। वह संभवतः भानु गुप्त बालादित्य का पुत्र प्रकटादित्य होगा, जो अब से करीब आधी सदी तक नाममात्र को उत्तर-भारत का सम्राट् कहलाता रहा। उसके नाम पर असल राज करनेवाले गुप्त-वंश की एक छोटी शाखा के राजा थे। इन्हें हम

* मौखरि लोग बहुत पुराने जमाने से गया जिले में रहते थे। गया से उनकी एक मुद्रा मिली है जिसपर तीसरी शताब्दी ई० पू० की लिपि में 'मौखलीनम्' लिखा है।

'पिछले गुप्त' नाम से पुकारते हैं। इन गुप्तों का अधिकार बंगाल-बिहार (बनारस तक) में ही सीमित था। यह वंश छठी शताब्दी से इतिहास में प्रकट होता है।

कन्नौज के मौखरियों और थानेसर के बैस-वंशी राजाओं के साथ इन पिछले गुप्तों के रिश्ते-नाते शुरू से थे। कृष्ण गुप्त की लड़की हर्ष गुप्ता दूसरे मौखरि राजा आदित्य वर्मा से ब्याही थी। उसके लड़के ईश्वर वर्मा की स्त्री उपगुप्ता भी कोई गुप्तवंशीय राजकुमारी प्रतीत होती है। उनका पुत्र ईशान वर्मा बड़ा शक्तिशाली हुआ। वह मगध के पिछले गुप्त-राजा कुमार गुप्त (तृतीय) का समकालिक था। उसके समय में मौखरि लोग साम्राज्य के लिए गुप्तों के प्रतिस्पर्धी हो उठे। ईश्वर वर्मा या ईशान वर्मा हूणों का पराभव करने में यशोधर्मा विष्णुवर्धन का सहयोगी था।

यशोधर्मा के मरते ही गुप्तों ने भारत के सम्राट्-पद का दावा करना शुरू किया और उड़ीसा, बंगाल और मगध से प्रयाग तक अधिकार कर लिया। उधर मौखरि लोग अपनेको यशोधर्मा का उत्तराधिकारी समझते प्रतीत होते हैं। ईशान वर्मा के अभिलेख से मालूम होता है कि सुराष्ट्र-मालवा तक के प्रदेश उसके अधीन थे। मौखरियों ने जब पूरब की ओर बढ़ना चाहा तब गुप्त-सम्राट् की तरफ से कुमार गुप्त (तृतीय) (५३५–५० ई०) ने प्रयाग के भी और पच्छिम उसे रोकने का प्रयत्न किया। इसके बाद कुमार गुप्त ने किसी कारण—शायद ईशान से हारने

के अनुताप में—प्रयाग में अग्नि-समाधि ले ली। कुमार का पुत्र दामोदर गुप्त भी ईशान के पुत्र शर्व वर्मा के साथ लड़ता हुआ मारा गया। इसके बाद मौखरि-सत्ता मगध तक फैल गई, और गुप्तों को उसके और पूरब गौड (उत्तर-पच्छिम बंगाल) में हट जाना पड़ा।

लगातार एक हजार बरस तक भारतीय साम्राज्य की राजधानी पाटलिपुत्र में रही थी; ईशान और शर्व वर्मा के समय (लग० ५५० ई०) में वह एक बार फिर गङ्गा-जमना-दोआब में चली गई। गुप्त-महाराजाधिराज भी पच्छिमी शक्तियों द्वारा होनेवाले बार-बार के हमलों के कारण अब पाटलिपुत्र छोड़ अधिकतर गौड में रहने लगे।

महासेन गुप्त

गुप्त-महाराजाधिराज का अधिकार तब आसाम से संभवतः अंग तक सीमित रह गया। तिरहुत में गुप्तों या मौखरियों में से किसका अधिकार था, यह ज्ञात नहीं। गुप्तों की इस कमजोरी का लाभ उठा प्राग्ज्योतिष (आसाम) के राजा सुस्थित वर्मा ने भी महाराजाधिराज-पद धारण कर स्वाधीन होना चाहा। पर दामोदर के पुत्र महासेन गुप्त ने लौहित्य तक चढ़ाई कर उसे गुप्त-महाराजाधिराज की अधीनता मानने को वाध्य किया। शर्व के बाद मौखरियों की शक्ति कुछ ढीली पड़ने पर सुयोग पाकर गुप्त-महाराजाधिराज ने महासेन गुप्त को मालवा का राज्य सौंप दिया। उसने मौखरियों के बढ़ते हुए प्रताप को रोकने के लिए

अपने पड़ोसी थानेसर के बैस-वंशी राजा आदित्यवर्द्धन से अपनी बहन महासेन गुप्ता का विवाह कर उनसे मैत्री-सम्बन्ध स्थापित किया। मौखरि-राजा पर इस तरह तीन तरफ से दबाव पड़ने लगा।

आदित्यवर्द्धन और महासेन गुप्ता का पुत्र 'प्रभाकर बहुत प्रतापी था। उसने उत्तरापथ को तरफ अपनी शक्ति बढ़ाई, हूणों को कश्मीर-तुखारिस्तान से भी खदेड़ दिया तथा राजपूताना और सिन्ध के राजाओं को काबू किया। मालवा के राजा को उसके सामने झुकना पड़ा और लाट देश (दक्खिनी गुजरात, भरुच-सूरत) तक उसका आधिपत्य माना जाने लगा। मालवा के महासेन गुप्त ने अपने दो पुत्र कुमार गुप्त और माधव गुप्त, जो प्रभाकर के पुत्र राज्यवर्धन और हर्षवर्धन के समवयस्क थे, प्रभाकर को सौंप दिए। बैसों के चढ़ते हुए प्रताप को देख मौखरि-राजा ग्रहवर्मा ने प्रभाकर की लड़की राज्यश्री से विवाह की प्रार्थना की।

राज्यश्री और ग्रहवर्मा के सम्बन्ध के बाद, थानेसर और कन्नौज के राजवंशों के मिल जाने से, मगध का गुप्त-राज्य उनके मुकाबले में फिर कमजोर पड़ गया। उड़ीसा का केसरी-वंश भी, जिसे प्रकटादित्य ने राज्य के आरंभिक दिनों में उखाड़ दिया था, अब वहाँ फिर स्थापित हो गया। प्रकटादित्य की मृत्यु (लग० ५८८ ई०) के बाद गौड-मगध में विप्लव मच गया। उसके विभिन्न उत्तराधिकारियों का

शशाङ्क

पक्ष लेकर गौड़-मगध के सरदार और मंत्री आपस में लड़ने-झगड़ने लगे। लगभग १३–१४ बरस की उस विप्लवावस्था के बाद वहाँ शशांक नाम के एक व्यक्ति ने बंगाल, बिहार और उड़ीसा को जीतकर एक दृढ राज्य स्थापित किया और बनारस के परे तक आधिपत्य जमा लिया। इसके बाद वह पूर्वी मालवा के गुप्त-राजाओं से मिलकर गंगा-यमुना-प्रदेश पर भी अधिकार जमाने का अवसर देखने लगा।

इसी समय प्रभाकरवर्धन की मृत्यु हुई (६०५ ई०)। उसके दोनों लड़के राज्यवर्धन और हर्षवर्धन अभी किशोरावस्था को मुश्किल से पार कर पाए थे। प्रभाकर की मृत्यु का समाचार पाते ही पूर्वी मालवा के गुप्त राजा देवगुप्त ने कन्नौज पर धावा बोलकर ग्रहवर्मा को मार डाला और उसकी रानी राज्यश्री को कैद में डाल दिया। तब वह गौडाधिपति शशांक से मिलकर थानेसर पर चढ़ाई की तैयारी करने लगा। खबर पाते ही प्रभाकर का बड़ा लड़का राज्यवर्धन, जो उसी समय हूणों के विरुद्ध कश्मीर पर चढ़ाई कर लौटा था, दस हजार सवार साथ लेकर उसके मुकाबले के लिए बढ़ा। "मालवा की सेना को खेल-ही-खेल में जीत" वह शशांक की तरफ मुड़ा। शशांक ने उससे मैत्री प्रकट की, और अपनी कन्या देने के बहाने उसे अपने डेरे पर बुला, भोज के समय, धोखे से, साथियों समेत, मार डाला। शशांक कट्टर शैव था। कहते हैं कि बौद्धों पर उसने अत्याचार किए

कन्नौज की रानी राज्यश्री

और बोधिवृक्ष को उखड़वा फेंका; परन्तु बुद्धगया का प्रसिद्ध मंदिर उसी के एक ब्राह्मण मंत्री का बनवाया हुआ है।

राज्यवर्धन के खून का समाचार मिलते ही हर्ष थानेसर से बड़ी तेजी से बढ़ा। शशांक के राज्य की पूर्वी सीमा प्राग्ज्योतिष (आसाम) राज्य की सीमा से लगी हुई थी। वहाँ के राजा भास्करवर्मा ने शशांक के विरुद्ध संदेश लेकर अपना दूत हर्ष के पास भेजा, जो थानेसर से एक पड़ाव आगे ही उससे मिला। कन्नौज के पास पहुँचने पर उसके मामा का लड़का सेनापति भण्डि, मालवा की सेना के कैदियों को लिये हुए, आया। उसी से उसे समाचार मिला कि उसकी बहन राज्यश्री, कन्नौज के कारागार से निकलकर, निराशा के कारण, विन्ध्य के जंगलों में चली गई है। शशांक के विरुद्ध सेना की चढ़ाई का भार भण्डि को सौंपकर हर्ष स्वयं बहन की खोज में चला, और शबरों की सहायता से ढूँढ़ता हुआ ठीक उस समय वहाँ पहुँचा जब राज्यश्री सब तरह निराश हो चिता-प्रवेश की तैयारी में थी। हर्ष के समझाने-बुझाने पर उसने चिता में जलने का विचार छोड़ भिक्षुणी बनना चाहा। पर हर्ष ने उसे समझाया कि डर के मारे अपनी राज्य की जिम्मेदारी को यों छोड़ भागना कायरता है; और उसे तबतक भिक्षुणी बनने का अधिकार नहीं है जबतक अपने राज्य को सुव्यवस्थित करके शत्रुओं से बदला न चुका ले।

राज्यश्री इसपर अपनी राजकीय जिम्मेवारी उठाने को

तैयार हो गई। उसे साथ लेकर हर्ष अपनी सेना से, जो तब गंगा के उत्तरी तट पर पड़ाव डाले पड़ी थी, आ मिला। संस्कृत-गद्य के प्रसिद्ध लेखक बिहारी कवि बाणभट्ट से वहीं उसकी भेंट हुई। बाण, सोन के तट का रहनेवाला था। उसके लिखे हर्ष-चरित नामक ग्रन्थ में इस समय तक की घटनाओं का वृत्तान्त विशद रूप से दर्ज है।

सम्राट् हर्षवर्धन

अपनी बहन के प्रतिनिधि-रूप में हर्ष अब थानेसर और कन्नौज दोनों राज्यों का राजा था। दोनों राज्यों की सम्मिलित सेनाओं के साथ उसके पूरब बढ़ने पर शशांक को अन्तर्वेद से लौट आना पड़ा। हर्ष ने उसकी राजधानी पुण्ड्रवर्धन तक उसका पीछा किया। हर्ष के अभिलेखों से मालूम होता है कि राज्य-प्राप्ति के बाद छ वर्ष तक उसकी सेना की वर्दियाँ बराबर कसी रहीं। इस बीच प्राग्ज्योतिष के राजा भास्करवर्मा का उसने स्वयं अभिषेक किया, सिन्धुराज को कुचलकर उसका राज्य छीन लिया और तुखार पहाड़ के राजा से कर वसूला।

पच्छिम से हर्ष और पूरब से कामरूप के राजा भास्करवर्मा के आक्रमणों के कारण शशांक ने पुण्ड्रवर्धन (=वर्त्तमान पुर्णिया और राजशाही जिले) छोड़कर दक्खिनी बिहार के पहाड़ी प्रदेश में आश्रय लिया। उसकी शक्ति बिलकुल टूट न गई थी। गंगा के दक्खिन, भागीरथी (बंगाल में गंगा की शाखा) से सोन

तक, सारा प्रदेश अब भी उसके अधिकार में था, और उड़ीसा के राजा अन्त तक उसे अपना अधिपति मानते रहे।

पूरब के लोगों ने, मालूम होता है, हर्ष का वैसा स्वागत न किया, अतः उसने शशांक के हाथ में तब जितना प्रदेश था उतना बना रहने देकर उससे संधि कर ली। और, शशांक फिर आगे न बढ़ सके, इसका पूरा प्रबन्ध कर उसने अपनी जीत पर संतोष किया।

शशांक का केन्द्र इसके बाद वर्त्तमान शाहाबाद जिले में रोहतास के समीप वारुणिका (देवबर्नाक) में रहा प्रतीत होता है। वहाँ वह संभवतः हर्ष के सामन्त-रूप में राज करता था। रोहतास में पहाड़ को चट्टानों पर उसकी मुद्रा ढालने का एक साँचा बना है जिसमें 'श्रीमहासामन्त शशांक देव' का अभिलेख है। दक्खिनी उड़ीसा (जिला गंजाम) में वह अपने अंतिम दिनों (६१९ ई०) तक भी महाराजाधिराज ही कहलाता रहा। '१७ वर्ष, ५ महीने, ८ दिन' राज करने के बाद, ६१९ ई० के पीछे, किसी समय उसका देहान्त हुआ।

इसके बाद "गौड-राजतंत्र आपसी झगड़ों से क्षुब्ध हो उठा। लोग सदा एक दूसरे को गिराने के लिए हथियार उठाने लगे। सप्ताह-भर एक, तो दूसरा महीने भर, फिर गणतन्त्र; यही दशा चलती रही। गंगा के तीर पर स्थित विहारों से विभूषित भूमि (मगध) में शशांक का लड़का मानव आठ महीने और साढ़े पाँच दिन जीता रहा"।

शशांक के बाद संभवतः सारा बिहार हर्ष के अधिकार में चला गया। उधर कामरूप के राजा ने अपना अधिकार बंगाल में कर्णसुवर्ण (मुर्शिदाबाद के पास) तक बढ़ा लिया। ६३७ ई० में चीनी यात्री य्वानच्वाङ् बिहार में पहुँचा। उसके वृत्तान्त से मालूम होता है कि शशांक की मृत्यु उसके आने से कुछ ही पहले हो चुकी थी, और कजंगल (सन्थाल परगना) तथा पुण्ड्रवर्धन तक का सारा प्रदेश हर्ष के अधिकार में था।

य्वानच्वाङ् के अनुसार शशांक ने, जो एक कट्टर शैव और बौद्ध-धर्म का द्वेषी था, बौद्धों पर बड़े अत्याचार किए। बोधिवृक्ष उसने कटवा दिया और पटना में बुद्ध के पदचिह्नों से अंकित पत्थर को—जिसकी बौद्ध लोग पूजा करते थे—गंगा में फेंकवाने का जतन किया; परन्तु बोधिवृक्ष संभवतः प्रयाग के अक्षय-वट की तरह सूख चुका था और आस-पास में छोटे-मोटे स्तूपों की इतनी भरमार थी कि बुद्धगया का मन्दिर बनाने के लिए उन सबको हटाना जरूरी था।

य्वानच्वाङ् के समय बनारस, वैशाली, बुद्ध-गया, हिरण्य पर्वत (मुंगेर), चम्पा (भागलपुर) और पुण्ड्रवर्धन (पुर्णिया) खूब समृद्ध नगर थे। वैशाली और उत्तरी बिहार में बौद्धधर्म का प्रभाव बहुत कम था; पर मगध में बौद्ध महायान का पूरा जोर था। उसका केन्द्र कुमार गुप्त द्वारा स्थापित और बुधगुप्त बालादित्य, प्रकटादित्य आदि गुप्त राजाओं की संरक्षकता में पोषित और पल्लवित नालन्दा का विहार था, जिसके भिक्षु

और आचार्य अपनी विद्या और ज्ञान के लिए सारे भारत में प्रसिद्ध थे। सुदूर देशों से विद्यार्थी वहाँ पढ़ने और संशय मिटाने आते थे। विद्यापीठ का पाठ्यक्रम बहुत उच्च कोटि का था। वहाँ प्रविष्ट होने से पूर्व विद्यार्थियों को द्वारपंडित के प्रश्नों का उत्तर देना पड़ता, जिसमें बहुत कम—१० में दो-तीन—विद्यार्थी ही उत्तीर्ण हो पाते थे। वहाँ के पढ़े हुए लोगों का देश में सर्वत्र सम्मान होता। य्वानच्वाङ् मगध में पाँच बरस तक रहा और नालन्दा में बहुत दिनों तक अध्ययन करता रहा। वहाँ के अपनेसे पूर्व के और समसामयिक आचार्यों में गुणमति, धर्मपाल तथा अपने गुरु एवं धर्मपाल के शिष्य धर्मशील का नाम उसने बड़े आदर से लिया है।

बिहार पर अपने अधिकार को दृढ करने के बाद हर्ष ने उड़ीसा-राज्य पर भी हमले किए और ६४३ ई० में उसके दक्खिन के गंजाम-प्रदेश पर भी अधिकार कर लिया।

हर्ष जैसा विजेता था, वैसा ही सुयोग्य शासक भी। हूणों के आक्रमणों और हाल में हुई बार-बार की राज्यक्रान्तियों से देश में काफी अव्यवस्था फैल रही थी, जिसके मिटाने में उसने अपना सारा समय लगाया। बरसात के सिवा वह सारा समय अपनी सेना और कर्मचारियों के साथ राज्य में दौरा करने और लोगों के दुःख-दर्द सुनने में बिताता था। जहाँ-कहीं वह पड़ाव डालता, फूस के झोपड़े बना दिए जाते। राजकाज में वह अपना आराम, भूख और नींद तक भूल जाता। शील और

सच्चरित्रता की वह मूर्त्ति था। इस तरह उसका शीलादित्य नाम सार्थक था। उसने आजीवन एकपत्नीव्रत निबाहा। बिहार की प्रजा उसके राज्य में सुखी और समृद्ध थी। ६४७ ई० में उसकी मृत्यु हुई।

शशांक के मरने पर, दक्खिनी बिहार जीतकर, हर्ष ने माधवगुप्त को, जो संभवतः मालवा के गुप्त-राजा महासेन गुप्त का छोटा लड़का था, वहाँ का शासक नियुक्त किया था। उत्तरी बिहार में इसी तरह अर्जुन नाम का कोई दूसरा गुप्त-सरदार उसका सामन्त था। हर्ष का अपना कोई उत्तराधिकारी न था, अतः उसकी मृत्यु के बाद उसका साम्राज्य टुकड़ों में बँट गया। अपनी मृत्यु से पहले उसने अपने दूत चीन भेजे थे, जिसके जवाब में चीन-सम्राट् के दूत उसकी मृत्यु के बाद भारत पहुँचे। उन्हें उत्तरी बिहार के राजा अर्जुन ने सताया; पर वे भागकर नेपाल-राज्य की शरण में चले गए। नेपाल के उत्तर तिब्बत इस समय सभ्य हो रहा था। वहाँ ६३० ई० में पहले-पहल सम्राट् स्रोङ्चन-गम्बो के नेतृत्व में एक संगठित राज्य की स्थापना हुई। स्रोङ् ने नेपाल के राजा अंशुवर्मा की, और चीन-सम्राट् की, लड़की से विवाह किया था। नेपाल और तिब्बत के राजाओं ने अर्जुन के भगाए हुए चीनी दूतों की मदद की, और एक बड़ी सेना के साथ तिरहुत पर धावा बोलकर अर्जुन से बदला लिया।

माधवगुप्त और अर्जुन

मगध में माधवगुप्त के बाद आदित्यसेन राजा हुआ।

शशांक के समय से ही दक्खिनी बिहार की राजधानी शाहाबाद जिले में वारुणिका (देवबर्नाक) चली आती थी। हर्ष के बाद फैली हुई अव्यवस्था और गड़बड़ी को मिटाकर आदित्यसेन ने शीघ्र ही मालवा से बंगाल तक सारे उत्तर भारत में फिर एक साम्राज्य कायम किया, तथा कर्णाटक के चालुक्यों तक पर चढ़ाई की। वहाँ से लौटकर उसने तीन बार अश्वमेध यज्ञ किया। परन्तु आदित्यसेन के पुत्र देवगुप्त को चालुक्य विक्रमादित्य (प्रथम) के पुत्र विनयादित्य (६८०–९६ ई०) से हारना पड़ा।

आदित्यसेन और देवगुप्त

विनयादित्य के पुत्र विजयादित्य ने संभवतः मगध तक पर चढ़ाई की। ६९० ई० में चीनी यात्री हुनलुन मगध आया था। उसने वहाँ राजा आदित्यसेन के पुत्र देववर्मा (देवगुप्त) को राज्य करते पाया। हुनलुन ने नालन्दा के पास आदित्यसेन के बनवाए हुए एक मन्दिर का जिक्र किया है। उसमें दक्खिन देश के भिक्खुओं के रहने की व्यवस्था थी। नालन्दा से पच्छिम वह एक दूसरे मंदिर का भी जिक्र करता है, जो दक्खिन के किसी चालुक्य-राजा का बनवाया हुआ था। यह चालुक्य-राजा संभवतः विजयादित्य ही रहा होगा, जिसने आदित्यसेन के मरने के बाद 'सकल उत्तरापथ के नाथ' को हरा कर उससे 'परमेश्वरत्व' के निशान—गङ्गा-जमना के चिह्नों से अंकित ध्वज—छीन लिये थे।

गुप्तों की इस कमजोरी का फायदा उठाकर कन्नौज का राज्य

स्वतंत्र हो गया। वहाँ के राजा यशोवर्मा ने, जो पहले आदित्य-सेन का 'भृत्य' (सामन्त) था, मगध और गौड पर चढ़ाई की। उसने सोन के तट पर मगध-राज को हराया, गौड-राज का पीछा कर उसे मार डाला तथा शक्तिशाली वंगराज को अपनी अधीनता मानने के लिए विवश किया। मगध का राजा इस समय संभवतः देवगुप्त था, जो शत्रुओं से चारों तरफ घिरकर मारा गया। गौड-मगध आठ बरस तक यशोवर्मा के अधिकार में रहे। उसके बाद अराजकता छा गई।

गुप्त-वंश का अन्त और अराजकता

इस अराजकता के बीच भूतपूर्व गुप्त-राज्य के जनपद पड़ोसी राज्यों से ठोकरें खाते रहे। दक्षिण कोशल (छत्तीसगढ़) के शैलोद्भव-वंश के दो सरदारों ने इस समय काशी से पुण्ड्रवर्धन (पूर्णिया, राजशाही) तक पर चढ़ाई की। गुप्त-वंश में देव गुप्त के बाद विष्णु गुप्त चन्द्रादित्य 'शत्रुओं के हाथों मारा गया'। कश्मीर का राजा ललितादित्य मुक्तापीड (७३३–७६९ ई०) गौड़ के राजा को कैद कर ले गया—शायद यह राजा गुप्त-वंश का अन्तिम राजा जीवित गुप्त (द्वादशादित्य) था, जिसका अभिलेख देवबर्नाक से मिला है। कामरूप के राजा श्रीहर्ष (७४५–४८ ई०) ने गौड़, अंग और उड़ीसा का अधिपति बनने का दावा किया। लेकिन ये पड़ोसी आक्रान्ता भी हमले ही करते रहे, और बिहार तथा पड़ोसी जनपदों को पूरी तरह अपने अधीन कर उनमें कोई व्यवस्थित शासन खड़ा न कर सके।

आदित्यसेन और देव गुप्त के समय में नालन्दा और अन्य विद्यास्थानों की उन्नत अवस्था बनी रही। चीनी विद्वान् इचिङ्, जिसने संस्कृत-चीनी-कोश लिखा, ६७५ से ६८५ ई० तक, नालन्दा में विद्यार्थी था। उस समय वहाँ ३५०० से ५००० तक विद्यार्थी रहते थे। उनमें एक विद्यार्थी शान्तरक्षित भी था। उसका जन्म लगभग ६५० ई० में सहोर में हुआ था, जिसका दूसरा नाम तिब्बती ग्रन्थों में भगल लिखा है। श्रीराहुल सांकृत्यायन ने सिद्ध किया है कि सहोर भागलपुर जिले का पूरबी अंश, अर्थात् कहलगाँव का प्रदेश था। ६७५ ई० में शांतरक्षित ने नालंदा के आचार्य ज्ञानगर्भ के पास प्रव्रज्या ली। उसका नाम शांतरक्षित प्रव्रज्या के बाद का ही है। पीछे शांतरक्षित अपने जमाने का प्रसिद्ध तर्कशास्त्री और दार्शनिक हुआ। उसने अपने ग्रन्थ में अपने समय तक के सभी दार्शनिक सिद्धान्तों की गंभीर आलोचना की है।

आचार्य शान्तरक्षित

तिब्बत के पहले सम्राट् स्रोङ्-चन-गम्बो का उल्लेख हो चुका है। उसके पाँचवें उत्तराधिकारी ने शान्तरक्षित की ख्याति सुन, अपने दूत भेजकर उन्हें तिब्बत आने के लिए आमन्त्रित किया। शान्तरक्षित तब ७५ वर्ष के बूढ़े थे, तो भी तिब्बत के दुर्गम प्रदेश उनके उत्साह को कम न कर सके। ७२४ ई० में वे नेपाल से होकर पहली बार ल्हासा पहुँचे। उनके धर्मोपदेश का वहाँ गहरा प्रभाव पड़ा। तिब्बत का पुराना धर्म भूत-प्रेत-पूजकों का था। उस धर्म के पुरोहितों ने शान्तरक्षित का विरोध किया।

उसी समय देश में बीमारी आदि के उपद्रव हुए। लोगों ने इसे बौद्ध धर्म के प्रचार के कारण रुष्ट तिब्बती देवताओं का प्रकोप बता कर शान्तरक्षित के खिलाफ़ आन्दोलन उठाया। इसपर उन्हें नेपाल लौट आना पड़ा।

परन्तु कुछ दिन बाद तिब्बत के सम्राट् ने शान्तरक्षित से फिर लौट आने के लिए आग्रह किया। तब वे दूसरी बार ल्हासा पहुँचे (७२६ ई०)। इस बार उन्होंने तिब्बती भूतप्रेतों को शान्त रखने के लिए भारत से तांत्रिक आचार्य पद्मसंभव को भी वहाँ बुलाया। सम्राट् ने शान्तरक्षित के रहने के लिए, उनके इच्छानुसार, ल्हासा से दक्खिन दो दिन के रास्ते पर नालन्दा-विहार के नमूने पर, सम्ये नाम का विहार बनवाया (७३८ ई०)।

शान्तरक्षित ने तिब्बत में बौद्ध धर्म का प्रचार किया और तिब्बती भाषा में पाली और संस्कृत से अनेक ग्रन्थों का अनुवाद कर उसके साहित्य की नींव डाली। लगभग चौथाई सदी तक परिश्रम करने के बाद, करीब सौ बरस की उम्र में, शान्तरक्षित का देहान्त हुआ। उनकी खोपड़ी, पात्र, चीवर आदि स्मृति-चिह्न सम्ये-विहार में अब भी सुरक्षित हैं, और तिब्बतियों को अपने उस महान् गुरु की स्मृति दिलाते हैं।

दसवाँ अध्याय

पहले पाल-राजा

[७४३–१०२३ ई०]

गुप्त-राजवंश के अन्त के साथ बिहार-बंगाल की राज्यसंस्था एकदम चौपट हो गई। सारा प्रदेश छोटे-छोटे सरदारों में बँट गया। "हरएक ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य अपने पास-पड़ोस में राजा बन बैठा।" ये छोटे-छोटे राजा आपस में लड़ते-झगड़ते और प्रजा को लूटते। इस अव्यवस्था को मिटाने के लिए बीच-बीच में गौड की जनता के नेताओं ने, जिनमें कई तथाकथित नीच (शूद्र) जातियों में से थे, कई प्रयत्न किए। पर संभवतः बाहरी हमलों के कारण उन्हें पूरी सफलता न मिल सकी। इस दशा से ऊबकर बिहार-बंगाल की "प्रजा ने इस मछलियों की-सी दशा का अंत करने के लिए श्रीगोपाल के हाथ में राज-लक्ष्मी सौंप दी" (लग० ७४३ ई०)।

गोपाल का राजा चुना जाना

गोपाल के पिता का नाम बाप्यट और दादा का नाम दयितविष्णु था। दयित संभवतः वारिन्द्री का रहनेवाला एक 'सर्वविद्यावदात' विद्वान् था। बंगाल-बिहार की तात्कालिक

अराजक अवस्था ने उसके पुत्र बाप्यट को शस्त्रजीवी बनने के लिए मजबूर किया। उसे दुश्मनों के दबाने में कुछ प्रसिद्धि मिली। इसी से उसके मरने के बाद उस अराजक अवस्था से ऊबे हुए लोगों का ध्यान उसके पुत्र गोपाल की तरफ आकृष्ट हुआ और उसे 'राजलक्ष्मी' का पाणिग्रहण कराया गया।"

गोपाल ने सारे बिहार-बंगाल को अपने अधिकार में कर एक सुसंगठित और सुदृढ राज्य की स्थापना की। उसकी राजधानी उदन्तपुर या उद्दण्डपुर (वर्त्तमान बिहारशरीफ) में थी, जहाँ से "कुछ दूर नालंदा में उसने एक बौद्ध मन्दिर बनवाया" था। "वह बड़ा शक्तिशाली, दयालु और न्यायप्रिय शासक था। उसने अपने राज्य में बहुत-से विहार, चैत्य, बाग-बगीचे, बावड़ियाँ और सत्रागार (अन्नक्षेत्र) बनवाए।" २७ वर्ष राज करने के बाद, ८० वर्ष की उम्र में, उसका देहान्त हुआ। उसके धर्मपाल और वाक्पाल नाम के दो लड़के थे।

धर्मपाल

धर्मपाल (७६९–८०९ ई०) अपने पिता से बढ़कर प्रतापी हुआ। उसके नेतृत्व में बिहार-बंगाल का वह राज्य भारत की एक साम्राज्य-कामी महाशक्ति हो गया।

मध्यदेश के साम्राज्य की राजधानी, गुप्त-साम्राज्य के पतन तथा यशोधर्मा और मौखरियों की विजयों के बाद से, मगध से उठकर कन्नौज में चली गई थी, यह कहा जा चुका है। आदित्यसेन ने उसे फिर मगध में लाने का यत्न किया था, पर

उसके बेटे को कन्नौज के यशोवर्मा के सामने मुँह की खानी पड़ी थी। किन्तु यशोवर्मा का वह साम्राज्य भी ज्यादा दिन टिक न पाया। अपने अंतिम दिनों में उसे कश्मीर के राजा ललितादित्य से नीचा देखना पड़ा (लग० ७३७ ई०)। कश्मीरियों ने उससे नेपाल की सीमा तक का हिमालय का प्रदेश छीन लिया। उसके बाद, कन्नौज पर, हर्षवर्द्धन के मामा के पुत्र भण्डि के वंशज वज्रायुध का अधिकार हो गया।

धर्मपाल के समय में कन्नौज की गद्दी पर इन्द्रायुध था। धर्मपाल ने ७८३ ई० के बाद उसके प्रतिद्वन्द्वी चक्रायुध का पक्ष लेकर कन्नौज के मामले में हस्तक्षेप किया, और इन्द्रायुध को गद्दी से उतारकर चक्रायुध को बिठाया। पंजाब, मालवा और उत्तर-पूर्वी राजपूताना के सभी जनपदों के "सामंत राजाओं को काँपते हुए राज-मुकुटों समेत आदर से झुककर उसे स्वीकार करना पड़ा। पांचाल के वृद्धों ने उसके लिए सोने के अभिषेक-घट खुशी से पकड़े।" इस प्रकार कन्नौज का सम्राट्, जिसका आधिपत्य सारे उत्तर-भारत पर माना जाता था, अब धर्मपाल के हाथ की कठपुतली बन गया।

मगध में गुप्त-राज्य के अन्त के साथ सिन्ध में अरब-राज्य की स्थापना हो चुकी थी। बिहार-बंगाल में जिस समय पाल-राज्य की स्थापना हुई उसी समय दक्खिन में राष्ट्रकूट-वंश का और गुर्जर देश (पच्छिमी राजपूताना और गुजरात) में प्रतिहार-वंश का उदय हुआ। प्रतिहारों की राजधानी भिन्नमाल

(जोधपुर-राज्य के दक्खिन में स्थित भीनमाल) में थी। भिन्न-माल के राजाओं का कोई पूर्वज किसी राजा का प्रतिहार (द्वारपाल) था, इसी से वे प्रतिहार कहलाए। उनका राज्य मारवाड़ से भरुच तक फैला था।

धर्मपाल का समकालिक भीनमाल का राजा वत्सराज धर्म-पाल की ही तरह महत्त्वाकांक्षी था। धर्मपाल द्वारा कन्नौजसाम्राज्य के मामलों में किए गए हस्तक्षेप को वह चुपचाप न सह सका। उसने धर्मपाल को चुनौती दी और 'गंगा-जमना के बीच भागते हुए गौड़-राजा को हराकर उसके राजचिह्न छीन लिये।' परन्तु स्वयं वत्सराज को, दक्खिन के राष्ट्रकूट-राजा ध्रुव धारावर्ष (७७९–९४ ई०) से, जिसने इसी समय उत्तर-भारत पर चढ़ाई की, * हारकर मारवाड़ के रेगिस्तान में भागना पड़ा।

ध्रुव की मृत्यु (७९४ ई०) के बाद, उसके उत्तराधिकार-सम्बन्धी झगड़ों के कारण राष्ट्रकूट-शक्ति के कुछ कमजोर पड़ने पर, कन्नौज-साम्राज्य के नेतृत्व के लिए पालों और प्रतिहारों का झगड़ा फिर शुरू हुआ। वत्सराज के पुत्र नागभट (द्वितीय) ने, चक्रायुध और धर्मपाल दोनों को हराकर, कन्नौज पर अधिकार कर लिया। इसी बीच ध्रुव के पुत्र गोविन्द ने

---

* धर्मपाल का विवाह दक्खिन की एक राष्ट्रकूट रण्णदेवी से हुआ था। पहले यह अन्दाज किया जाता था कि वह ध्रुव धारा-वर्ष को ही बेटी होगी ; पर अब यह मालूम हो चुका है कि वह विदिशा (भेलसा) के राष्ट्रकूट सरदार परबल की लड़की थी।

दक्खिन में सुस्थापित हो, फिर उत्तर-भारत पर आक्रमण किया। नागभट को फिर हारना पड़ा और गोविन्द की सेनाएँ हिमालय तक पहुँचीं। धर्मपाल और चक्रायुध दोनों को उसके सामने झुकना पड़ा (८०७–८ ई०)।

धर्मपाल बौद्ध था, तो भी उसने बंगाल-बिहार में "सब वर्गों को पुनः अपने-अपने काम में स्थापित किया।" इसका अभिप्राय यह है कि उसके राज्य में पूरी शान्ति स्थापित हो जाने से वे जनसाधारण, जिन्हें अराजक अवस्था के समय आत्मरक्षा के लिए हथियार उठाने पड़ते थे, अब अपने स्वाभाविक जीविकोपार्जन में लग गए।

धर्मपाल विद्या का बड़ा प्रेमी था। उसी ने पहले-पहल चम्पा (भागलपुर) के पास विक्रमशिला * महाविहार की स्थापना की, जो नालन्दा की तरह प्रसिद्ध हुआ।

धर्मपाल के दो लड़कों—भुवनपाल और देवपाल—के नाम मिलते हैं। देवपाल (लग० ८१०–५१) भी अपने पिता की तरह ही योग्य और प्रतापी था। उसने मगध के राज्य को पूर्वी भारत का साम्राज्य बना दिया। उसके चचा वाक्पाल के पुत्र राज्यपाल ने, जो उसका सेनापति था, उत्कल (उड़ीसा) और प्राग्ज्योतिष (आसाम) जीत लिया। कश्मीर के ललितादित्य और जयापीड की पूर्वी विजयों के

देवपाल

---

* स्व० डा० सतीशचन्द्र विद्याभूषण ने तथा राहुलजी ने इसका स्थान सुलतानगंज माना है।

सिलसिले में पूर्वी हिमालय और उत्तरी बंगाल में कश्मीरी और कम्बोजों की एक बस्ती बस गई थी। देवपाल ने उनपर चढ़ाई की और उन्हें हराया।

८१४ ई० में गोविन्द के मरने के बाद नागभट (द्वितीय) ने चक्रायुध को भगाकर कन्नौज अपने कब्जे में कर लिया। ८३३ ई० में उसके मरने के बाद उसके निर्बल उत्तराधिकारी रामभद्र को हराकर कुछ काल के लिए देवपाल सारे उत्तरी भारत का प्रमुख राजा बन बैठा। विन्ध्य में उसने गोविन्द के उत्तराधिकारी राष्ट्रकूट-राजा अमोघवर्ष को हराया और संभवतः उड़ीसा के दक्खिन द्राविड़-राज्यों से भी उसकी कभी-कभी मुठभेड़ होती रही।

परन्तु ८३६ ई० के लगभग, रामभद्र के बेटे भोज या मिहिर-भोज के गद्दी पर बैठने के साथ ही स्थिति ने फिर पलटा

मिहिर भोज

खाया। देवपाल को हराकर उसने शीघ्र ही कन्नौज वापस ले लिया और भिन्नमाल की जगह कन्नौज को ही अपनी राजधानी बनाया। अब से गुर्जर-प्रतिहार राजा कन्नौज के सम्राट् हो गए। हिमालय में कश्मीर की सीमा तक का सारा प्रदेश जीत कर मिहिर भोज ने अपने राज्य में शामिल कर लिया, और अपनी पच्छिमी सीमा वहाँ से मुलतान के अरब-राज्य तक पहुँचा दी। सुराष्ट्र (काठियावाड़) भी इसके साम्राज्य के अन्तर्गत था।

पूरब में मिहिर भोज की राज्य-सीमा बिहार तक थी। राजा

देवपाल से उसने पच्छिमी बिहार (प्राचीन मल्ल देश) छीन लिया। पालों की रोकथाम के लिए शाहाबाद जिले में अपने नाम से उसने भोजपुर किले की स्थापना की। उसी भोजपुर के नाम से आज पच्छिमी बिहार की जनता और उनकी बोली भोजपुरी कहलाती है *।

अपनेसे पूर्ववर्त्ती गुप्तों की तरह पाल-राजाओं का भी भारत के पूर्वी उपनिवेशों से बराबर सम्बन्ध बना था। पाल-राजा

आचार्य वीरदेव

बौद्ध थे, और उनकी संरक्षकता में बिहार, बौद्ध संस्कृति और विचारों के केन्द्र-रूप में, बराबर उन्नति कर रहा था। नालन्दा और विक्रमशिला समस्त बौद्धजगत् के विचार-केन्द्र और शिक्षा-केन्द्र बने हुए थे।

पाँचवीं सदी में सुवर्ण-द्वीप (सुमात्रा-जावा) में शैलेन्द्र नामक एक नया राजवंश स्थापित हुआ था। इनकी राजधानी श्रीविजय (सुमात्रा में आधुनिक पालेम्बांग) में थी। कई शताब्दियों तक इन्होंने सुवर्णद्वीपों में एक सुदृढ विशाल और सुव्यवस्थित साम्राज्य बनाए रक्खा। देवपाल के समकालिक शैलेन्द्र राजा बलपुत्र देववर्मा ने देवपाल की आज्ञा लेकर नालन्दा में सुवर्णद्वीपी विद्यार्थियों के लिए अपनी तरफ से एक छात्रावास

---

* 'भोजपुर' राजा भोज का बसाया है, यह बात जनता में आज तक प्रचलित है। लेकिन कन्नौज के सम्राट् मिहिर भोज को भूल जाने के कारण लोग आज धारा (मालवा) के राजा भोज को उसका संस्थापक मान बैठे हैं। मालवा का परमार राजा भोज महमूद गजनवी का समकालिक था, और बिहार से उसका कोई सम्बन्ध न था।

बनवाया। उसके खर्च के लिए देवपाल ने गया और राजगृह के पास पाँच गाँवों की आय दे दी। इस बात का उल्लेख उसके ३९वें वर्ष के मुंगेर से प्रचारित एक ताम्रपत्र में है।

देवपाल के समय में नालन्दा के पीठस्थविर आचार्य वीरदेव नामक एक अफगान ब्राह्मण थे। वे नगरहार * जनपद के रहने वाले थे। उनके पिता का नाम इन्द्रगुप्त और मा का रज्जेका था। वे वेदशास्त्र में पारंगत होने के बाद पेशावर के कनिष्क महाविहार में पढ़े, और आचार्य सर्वज्ञान शान्ति के शिष्य बने। वहाँ से वे महाबोधि (गया) की यात्रा करने आए और यशोवर्मपुर (संभवतः बिहारशरीफ के पास घोसरवा गाँव) में एक स्वदेशीय भिक्षु के पास ठहरे। 'भुवनाधिपति देवपाल' ने उनकी पूजा की और उन्हें नालन्दा-महाविहार का पीठस्थविर नियत किया। वीरदेव द्वारा नालन्दा में वज्रासन के लिए एक बहुत ऊँचे भवन के बनवाए जाने का उल्लेख एक अभिलेख में है।

देवपाल के बाद उसके पुत्र विग्रहपाल ने तीन बरस राज कर अपने लड़के नारायणपाल को गद्दी सौंप दी, जिसने ५४ वर्ष (८५४–९०८ ई०) राज किया। अपने

बिहार—कन्नौज-साम्राज्य में

राज्य के १७वें वर्ष तक नारायणपाल का अधिकार तिरहुत और मगध दोनों पर था—गण्डक और सोन नदियाँ प्रतिहारों और पालों की राज्य-

---

* खैबर और काबुल के बीच आधुनिक निंग्रहार, अफगानिस्तान का जिला जलालाबाद।

सीमाएँ थीं। पर इसके बाद शीघ्र ही तिरहुत और पुण्ड्र (पुर्णिया-राजशाही) नारायणपाल से छिन गए। मगध और हजारीबाग पर भी (सम्भवतः राँची के पठार तक) प्रतिहारों का कब्जा हो गया और उधर उनकी सीमा कलिंग से जा मिली। इस प्रकार नारायणपाल का अधिकार सिर्फ अंग (मुंगेर, भागलपुर, संथालपरगना) और दक्खिनी बंगाल में रह गया। उसकी राजधानी मुद्गगिरि (मुंगेर) या चम्पा में रही प्रतीत होती है। उसके अधिकांश लेख वहीं से प्रचारित हुए हैं।

मिहिर भोज के ५५ वर्ष (८३६–९० ई०) तथा उसके पुत्र महेन्द्र के १७ वर्ष (८९०–९०७ ई०) के शासन में अंग को छोड़कर प्रायः सारा बिहार कन्नौज के प्रतिहार-साम्राज्य का अंग रहा। महेन्द्र का बेटा महीपाल जब कन्नौज की गद्दी पर बैठा तब उसका शासन कलिंग से काठियावाड़ और कुल्लू तक माना जाता था।

नारायणपाल ने अन्तिम दिनों में मगध का उत्तरी भाग वापस ले लिया। उसके ५४वें वर्ष का एक लेख उद्दण्डपुर (उदन्तपुर या बिहारशरीफ) से मिला है। दक्खिन में इसी समय राष्ट्रकूट-सम्राट् गोविन्द के लड़के अमोघवर्ष (८१५–७७ ई०) और उसके लड़के कृष्ण (८७७–९११ ई०) का राज्य था। उसके उत्तर राँची से पंजाब तक प्रतिहारों का साम्राज्य फैला हुआ था। उनसे राष्ट्रकूटों की चढ़ा-ऊपरी बराबर चलती रहती थी।

राष्ट्रकूटों ने प्रतिहारों के खिलाफ अरबों से, जो सिन्ध-मुलतान में दखल जमा चुके थे और प्रतिहारों के दुश्मन थे, दोस्ती कर ली थी। पालों की भी राष्ट्रकूटों से मैत्री रही मालूम होती है। नारायणपाल के पुत्र राज्यपाल का विवाह राष्ट्रकूट तुंग की पुत्री से हुआ था। अमोघवर्ष के बाद कृष्ण ने मगध, अंग और गौड से 'पूजा प्राप्त की' थी। यह घटना संभवतः महेन्द्रपाल की मृत्यु (९०७ ई०) के बाद की है। राष्ट्रकूट तुङ्ग धर्मावलोक का एक लेख बुद्धगया से मिला है। संभवतः वह भी राष्ट्रकूटों की इस चढ़ाई का द्योतक है।

महेन्द्रपाल के बाद महीपाल के समय में कन्नौज-साम्राज्य की घटती कला शुरू हुई। कृष्ण का पोता और उत्तराधिकारी इन्द्र नित्यवर्ष था। उसने ९१६ ई० में उत्तर-भारत पर चढ़ाई की और कन्नौज नगर को उजाड़ा। उसने महीपाल का प्रयाग तक पीछा किया और उसके एक सेनापति ने 'गङ्गा-सागर' में अपने घोड़ों की प्यास बुझाई। महीपाल प्रतिहार ने ९१६ ई० के पीछे यद्यपि अपनी शक्ति के पुनः संगठन का पर्याप्त उद्योग किया, तथापि वह अपने साम्राज्य को फिर न सँभाल सका। मालवा, जझौती (बुन्देलखण्ड) आदि के सामन्त-राज्य अब स्वतंत्र हो गए थे।

नारायणपाल के बाद राज्यपाल (९०८–३२ ई०) और गोपाल (द्वितीय) (९३२–४९ ई०) राजा हुए। इन्होंने कन्नौज-साम्राज्य की कमजोरी का फायदा उठा मगध पर फिर अधिकार

कर लिया। पर गोपाल को शीघ्र ही पच्छिम की एक नई शक्ति के मुकाबले में फिर अपना राज्य खोना पड़ा।

जझौती का चन्देल-राज्य अब प्रबल हो उठा था। वहाँ के राजा यशोवर्मा चन्देल (९२०–५० ई०) ने अपने दक्खिन-पूरब का डहाला (बघेलखण्ड) प्रदेश लेकर मगध, मिथिला और गौड तक हमले किए और पूर्वी हिमालय (पुण्ड्रवर्धन) के कम्बोज-राज्य को हराया। उसके पुत्र धंग (लग० ९५०–९५ ई०) के समय तक अङ्ग और गौड पर चन्देल-आधिपत्य था।

चन्देलों के आक्रमण के कारण गोपाल और उसके लड़के विग्रहपाल (द्वितीय) (राज्यकाल ९४९–७५ ई०) को फिर

महीपाल

मुंगेर के पहाड़ों तथा दक्खिनी और पूर्वी बंगाल का आश्रय लेना पड़ा। पर धंग के बाद चन्देलों की शक्ति फिर मन्द पड़ने लगी। विग्रहपाल (द्वितीय) के बाद, १० वीं सदी के अन्त और ११ वीं सदी के शुरू में, उसके पुत्र महिपाल (प्रथम) ने राज किया (९७५–१०२६ ई०)। उसने धीरे-धीरे अपने पूर्वजों के राज्य का पुनरुद्धार करना आरम्भ किया। उसके तीसरे राज्य-वर्ष का एक अभिलेख पूर्वी बंगाल के त्रिपुरा (कुमिल्ला) जिले के उत्तर से मिला है। वहाँ से उसने पहले कम्बोजों को हराकर उत्तरी बंगाल लिया। उसके बाद मगध, और अंत में, जब अन्तर्वेद और जझौती के राज्य गजनी के सुल्तान महमूद के—जो सिन्ध, मुलतान और पंजाब के राज्यों को समाप्त करने के बाद गंगा-जमना-दोआब के समृद्ध प्रदेशों

पर धावा कर रहा था—हमलों के शिकार हो रहे थे (१०१८–२१ ई०), तब मिथिला को भी ले लिया और काशी तक अपना अधिकार फैलाया *। पर इसी समय उसे दक्खिन-पूरब की एक नई आपत्ति का मुकाबला करना पड़ा।

राजेन्द्र चोल की चढ़ाई

प्रतिहारों के पतन के बाद जिन दिनों बिहार का पाल-राज्य फिर उठने की कोशिश कर रहा था, उन्हीं दिनों दक्खिन में राष्ट्रकूट-साम्राज्य भी एकाएक टूट गया और उसके स्थान में सन् ९७३ ई० में कल्याणो का चालुक्य-राज्य खड़ा हुआ। लेकिन उत्तर और पच्छिम भारत के राज्यों को जब गजनी के तुर्कों की चोटें खानी पड़ीं, तभी इस चालुक्य-राज्य तथा दक्खिन और पूर्व-भारत के अन्य सब राज्यों को तांजोर के तामिल चोल-राजाओं के प्रहार सहने पड़े। चोल-राजा राजराज (९८५–१०१२ ई०) के समय में पाण्ड्य (मदुरा-तिरुनेवली), केरल, सिंहल, लका-दिव, मालदिव आदि उसके साम्राज्य में मिल चुके थे। कर्णाटक

* मालूम होता है, चन्देलों से मिथिला का राज्य, जो धंग के बाद स्वतंत्र हो चुका था, डहाला के कलचुरियों ने छीना। रामायण की एक नेपाली हस्तलिखित प्रति के अनुसार विक्रमी १०७६ (१०१९ ई०) में तीरभुक्ति (तिरहुत) में एक सोमवंशोद्भव गौड़ध्वज महाराजाधिराज गांगेयदेव शासन कर रहा था, जिसका कलचुरि-राजा गांगेयदेव (१०१५–४१ ई०) होना अनुमान किया गया है। उसने, जझौती और कन्नौज के राज्य जब महमूद का मुकाबला करने में व्यस्त थे, डहाला से बढ़कर काशी और प्रयाग पर अपना अधिकार कर लिया था। महीपाल ने संभवतः कलचुरियों को हटाकर ही काशी और तिरहुत पर अधिकार किया होगा।

में कल्याणी के चालुक्यों का राज्य भी उससे नीचा देख चुका था। उसके बाद उसके लड़के राजेन्द्र चोल ने जंगी बेड़े के साथ श्रीविजय (बरमा, मलाया प्रायद्वीप, सुमात्रा, जावा आदि) के साम्राज्य पर चढ़ाई की, और शैलेन्द्र-राजाओं को हराकर भारतीय उपनिवेशों का अधिकांश अपने अधीन कर लिया। तब (१०२३ ई०) उसने भारत के पूर्वी तट के साथ-साथ उत्तर बढ़कर कलिंग के रास्ते दक्खिनी राढ़ (मेदिनीपुर, बाँकुड़ा जिले) के राजाओं को परास्त किया और राजा महीपाल को भी हराया तथा उसके शिविर को लूटा। फिर "मोतियों से भरे समुद्र के समान उत्तर राढ़" (बर्दवान, मुर्शिदाबाद जिलों) को लेकर, गङ्गा के प्रशस्त घाटों पर अपने हाथियों को नहला, 'गंगैकोण्ड' पद धारण किया।

हमने देखा है कि पाल-युग में नालन्दा और विक्रमशिला विहार समस्त बौद्धजगत् की विद्या और संस्कृति के केन्द्र थे।

पाल-युग की संस्कृति और कला

किन्तु उस विद्या में और उस युग के ज्ञान में प्रगति का अभाव था। गुप्त-युग के अन्त तक भारतवासी अपने ज्ञान में जहाँ तक पहुँच चुके थे उसके आगे उसमें बहुत ही कम उन्नति हुई। छठी शताब्दी में उनका जो कुछ ज्ञान था, आगे प्रायः उसी की व्याख्याएँ और टीका-टिप्पणियाँ होती रहीं। प्रगति के रुक जाने के कारण आठवीं शताब्दी के बाद तो ह्रास के स्पष्ट चिह्न दिखाई देने लगे। शान्तरक्षित के बाद भारतीय दर्शन में बाल की खाल

उधेड़ना और रहस्यवाद ही मुख्य रह गया। रहस्यवाद तो सारे धार्मिक जीवन पर भी छा गया, और उसकी आड़ में गुप्त पाप ने समाज में घर कर लिया। वज्रयान, मन्त्रयान आदि उस रहस्यवाद के ही भिन्न-भिन्न रूप थे।

गुप्त-युगवाली कला की सजीवता आठवीं-नवीं शताब्दी तक बनी रही। उसका लालित्य और भी बढ़ा हुआ ही दिखाई देता है; किन्तु गुप्त-युग का-सा ओज इस युग के नमूनों में नहीं दिखाई देता। दसवीं शताब्दी से उसमें स्पष्ट ह्रास और अवनति के चिह्न दिखाई देने लगते हैं। सजीव कल्पना का स्थान बँधे हुए नियम और अलङ्कारों की भूषा ले लेती है। यही बात साहित्य और कविता में तथा हमारी जाति के सारे जीवन में झलकती है।

पहले पाल-युग की बनी हुई बहुत-सी सुन्दर मूर्त्तियाँ बिहार और बंगाल में अनेक स्थानों से मिली हैं। इस युग की बिहार-बंगाल की मूर्त्ति-शैली में दूसरे प्रान्तों से कुछ विशेषता है, जिसके कारण वे फौरन् पहचानी जाती हैं। उनमें जो पत्थर की मूर्त्तियाँ हैं वे सभी गया के काले पत्थर की होती हैं। कुर्किहार (गया) में मिली पीतल की मूर्त्तियाँ भी, जो अब पटना-म्यूजियम में हैं, पाल-मूर्त्ति-शैली का अच्छा नमूना हैं।

ग्यारहवाँ अध्याय

पिछले पाल, कर्णाट और गाहड्वाल

[१०२३–११९९ ई०]

तुर्कों और तामिलों के आक्रमणों के कारण ग्यारहवीं सदी के शुरू में उत्तरभारतीय मैदान की सभी प्रमुख राजशक्तियों को ऐसा धक्का लगा कि यत्न करने पर भी फिर वे सँभल न सकीं। कन्नौज के प्रतिहार-सम्राटों का वंश तो इसके बाद समाप्त ही हो गया। चन्देलों को भी महमूद के सामने नीचा देखना पड़ा था। इन दोनों के स्थान पर कुछ समय के लिए डहाला का कलचुरि-वंश, जो यशोवर्मा के समय से चंदेलों का सामन्त था, अब प्रबल हो उठा। बिहार में राजेन्द्र चोल के आक्रमण के बाद भी महीपाल का अधिकार बना रहा।

चेदि-मगध-संघर्ष

उसका उत्तराधिकारी नयपाल हुआ (लगभग १०२६–४१ ई०)। उसके समय में डहाला में कलचुरि गांगेयदेव का लड़का कर्ण अपने जमाने का भारत का सबसे प्रतापी राजा और विजेता था। गद्दी पर बैठते ही कर्ण (१०४१–७३ ई०) ने मगध पर चढ़ाई की। विक्रमशिला के आचार्य दीपंकर श्रीज्ञान ने उन दोनों राजाओं को समझाया कि जब सीमान्त पर तुर्क-आतंक उपस्थित है तब उनका यों आपस में लड़ना उचित नहीं है, और उन दोनों के बीच में पड़कर संधि करा दी (१०४१ ई०)।

नयपाल के बाद उसके उत्तराधिकारी विग्रहपाल (तृतीय) (१०४१-५४ ई०) के समय में कर्ण ने मगध पर फिर आक्रमण किया। अन्त में दोनों में संधि हो गई, और कर्ण ने अपनी बेटी यौवनश्री का विवाह विग्रहपाल से कर दिया।

इसके कुछ काल बाद कल्याणी के चालुक्य-राजा सोमेश्वर (१०४०-६९ ई०) ने कर्ण को हराया और सोमेश्वर के पुत्र विक्रमाङ्क ने उत्तर-पूर्वी भारत पर चढ़ाई कर मगध और कामरूप के राजाओं को परास्त किया और नेपाल की सीमा तक का प्रदेश जीता।

स्मृतिज्ञान और दीपङ्कर

शांतरक्षित ने तिब्बत जाकर तिब्बती भाषा में बौद्ध ग्रंथों के अनुवाद का जो सिलसिला चलाया उसे नालंदा और विक्रमशिला के विद्वानों ने जारी रक्खा। इन प्रक्रमी विद्वानों की परम्परा में स्मृतिज्ञान और दीपङ्कर श्रीज्ञान के नाम उल्लेखनीय हैं।

स्मृतिज्ञान १०३० ई० में एक तिब्बती दुभाषिया के साथ तिब्बत के लिए रवाना हुए। नेपाल पहुँचकर उनका दुभाषिया मर गया। लेकिन उन्होंने आगे ही जाने का निश्चय किया और तिब्बत पहुँचकर तिब्बती भाषा पर अधिकार करने के लिए ब्रह्मपुत्र-काँठे में एक धनी पशुपालक के घर नौकरी कर ली। दिन-भर उन्हें अपने मालिक की भेड़ें चरानी पड़तीं और रात में देर तक घरवालों के लिए सत्तू कूटना पड़ता था। उस घर की मालकिन बहुत ही कड़े स्वभाव की थी, अतः स्मृतिज्ञान

को लगातार भूख, सर्दी और लाञ्छनाएँ सहनी पड़ती थीं। तिब्बती भाषा सीखने के बाद स्मृतिज्ञान तिब्बती भाषा में संस्कृत-ग्रंथों का अनुवाद करते रहे। तिब्बत में ही उनका देहान्त हुआ। उनके शरीर के अवशेप पूर्वी तिब्बत के एक स्तूप में अब तक रक्खे हैं।

स्मृतिज्ञान तिब्बत में ही थे कि दीपङ्कर श्रीज्ञान भी तिब्बत में आमन्त्रित किए गए। दीपङ्कर सहोर (कहलगाँव) के उसी वंश के थे, जिसमें शांतरक्षित हुए थे। ३१ वर्प की अवस्था तक विक्रमशिला, नालंदा और बुद्धगया में धर्म और तन्त्र की पूरी शिक्षा पाने के बाद वे सुवर्णद्वीप (सुमात्रा) के प्रसिद्ध दार्शनिक धर्मपाल के पास दर्शन का अध्ययन करने चले गए। १२ वर्ष बाद वहाँ से लौटने पर वे विक्रमशिला-विहार के मुख्य आचार्य नियत हुए। उनकी ख्याति सुनकर तिब्बत के एक राजा ने अपने दूत भेजकर उन्हें बुलाया। १०४२ ई० में, ६१ वर्ष की उम्र में, वे वहाँ पहुँचे और ७३ वर्ष की आयु में वहीं उनका देहान्त हुआ। ल्हासा के रास्ते के एक मन्दिर में अब भी उनका भिक्षापात्र, कमण्डलु और खदिरदण्ड रक्खा है।

कैवर्त्त-विद्रोह

विग्रहपाल (तृतीय) के तीन लड़के हुए—महीपाल (द्वितीय), शूरपाल और रामपाल। महीपाल अत्याचारी, क्रूर और अदूरदर्शी राजा था। उसने गद्दी पर बैठते ही अपने दोनों भाइयों को कैद में डाल दिया। उसके अत्याचार से तंग आकर वारेन्द्री के कैवर्त्तों ने दिव्योक के नेतृत्व में

विद्रोह कर गौड से पाल-राज्य उठा दिया। महीपाल अपने मंत्रियों की सलाह के विरुद्ध उनसे लड़ता हुआ मारा गया। तब मंत्रियों ने शूरपाल और रामपाल को कैद से छुड़ाकर शूरपाल को गद्दी दी।

पाल-राज्य की इस विपत्ति के समय बंगाल और बिहार के बहुत-से सामन्त भी स्वतन्त्र और विद्रोही हो उठे थे। शूरपाल सिर्फ एक या दो साल राज कर पाया। उसके बाद रामपाल गद्दी पर बैठा। उसने गद्दी पर बैठते ही अपने मामा—अंग के सामन्त राष्ट्रकूट मथनदेव—की सहायता से मगध के विद्रोही सामन्त देवरक्षित * को दबाया। उसके बाद उसने अपने सामन्त-चक्र और छोटानागपुर के अटवी-राज्यों की सहायता से कैवर्त्त विद्रोहियों को दबाकर सारे बंगाल और बिहार पर अपना अधिकार फिर से जमा लिया। कामरूप का राज्य जीतकर उसने वैद्यदेव नाम के अपने सामन्त को वहाँ स्थापित किया।

रामपाल

रामपाल के दरबार में सन्ध्याकर नन्दी नाम का एक कवि था, जिसने रामचरित नामक संस्कृत का द्व्यर्थक काव्य लिखकर

---

* कन्नौज में प्रतिहारों के बाद गाहड्वाल (गहरवार) राजवंश स्थापित हुआ। गाहड्वाल राजा गोविन्दचन्द्र (११९४–११५५ ई०) की रानी कुमारदेवी के सारनाथ-अभिलेख से विदित होता है कि देवरक्षित मगध में पीठी (गया जिला) का सामन्त था। मथन की लड़की शंकरदेवी का विवाह देवरक्षित से हुआ था, जिसकी लड़की कुमारदेवो थी।

रामायण की कथा के सहारे रामपाल का जीवनवृत्तान्त भी दिया है। कैवर्त्त-युद्ध में रामपाल के सहायकों में मगध, राढ़, पूर्वी-बंगाल और उड़ीसा की सीमा तक के राजाओं या सामन्तों का उल्लेख मिलता है। रामपाल ने ४६ बरस (१०५७–११०२ ई०) राज किया।

राजेन्द्र चोल और विक्रमाङ्क चालुक्य के हमलों के समय से उनकी सेना के बहुत-से कर्णाट (कनाडे) सिपाही दक्खिन-पूर्वी बंगाल में बस गए थे। कैवर्त्त-युद्ध में रामपाल के बहुत-से सहायक सामन्तों में कइयों के कर्णाट होने का अनुमान किया जाता है। उनमें से निद्रावल के विजयराज या विजयसेन ने कुछ काल बाद बंगाल में सेनवंश की स्थापना की।

बंगाल और मिथिला के कर्णाट

रामपाल के बाद विजयसेन ने शीघ्र ही बंगाल से पाल-राज्य उखाड़ डाला और रामपाल के उत्तराधिकारी कुमारपाल तथा मदनपाल को हराकर गौड छीन लिया। तिरहुत में इसी समय नान्यदेव नाम का एक दूसरा कर्णाट सरदार स्थापित हो गया। विजयसेन ने गौड छीनने के बाद नान्यदेव को भी कैद करके अपनी अधीनता मानने के लिए वाध्य किया।

कन्नौज के प्रतिहार-सम्राट् गजनवी सुल्तान को कर देने लगे थे। उनकी प्रजा ने इस पर विद्रोह किया और लगभग १०९० ई० में चन्द्र गाहड्वाल ने कन्नौज में नया राज्य स्थापित किया। उसने कर्ण कलचुरि के उत्तराधिकारी यशःकर्ण (लग० १०७३–११२५ ई०) से बनारस भी छीन लिया।

विजयसेन ने जब रामपाल के पोते मदनपाल से मगध भी छीनना चाहा तब चन्द्र ने मदनपाल की सहायता की। संभवतः नान्यदेव ने भी इस समय गाहड्वालों का अवलम्ब पाकर सेनों का जुआ उतार फेंका (लग० १०९६-९७ ई०)। उसके उत्तर नेपाल में इसी समय ठाकुरी-वंश का राज्य समाप्त होकर (१०९० ई०) अराजकता फैली हुई थी। नान्यदेव ने नैपाल पर चढ़ाई कर उसे जीत लिया और स्वतंत्र रूप से तिरहुत की गद्दी पर बैठा (१८ जुलाई, १०९७ ई०)।

११०० ई० में बनारस में चन्द्र गाहड्वाल की मृत्यु हुई। उसका लड़का मदनपाल कन्नौज की गद्दी पर बैठा। मदनपाल के बाद, लगभग १११४ ई० में, उसका लड़का गोविन्दचन्द्र कन्नौज और काशी का राजा हुआ। उधर बंगाल में इसी समय विजयसेन के बाद बल्लालसेन राजा था। उनके बीच तिरहुत में नान्यदेव का और मगध में पालवंशी मदनपाल का राज्य था।

गोविन्दचन्द्र गाहड्वाल

गाहड्वालों ने डहाला के कलचुरियों से यद्यपि बनारस और प्रयाग के इलाके छीन लिये थे, तो भी कलचुरियों का राज्य अभी काफी शक्तिशाली था। उसकी पूर्वी सीमा पलामू में मगध से मिलती थी, जहाँ से वे बनारस पर आक्रमण कर सकते थे। उन्हें और बंगाल के सेनों को दबा रखने के लिए गाहड्वालों ने पालों के अतिरिक्त सुदूर दक्खिन के चोलों और उड़ीसा के गंगवंश से भी मैत्री बनाए रक्खी। उधर तिरहुत का नान्यदेव

भी सेनों से पनाह पाने के लिए गाहड्वालों से मैत्री किए हुए था। इस प्रकार पूर्वी भारत में, राजनीतिक समतुलन के लिए, गाहड्वालों की दृष्टि से, बिहार के इन दोनों राज्यों को बनाए रखना लाभकारी था।

बल्लालसेन की मृत्यु (१११८ ई०) के बाद उसका लड़का लक्ष्मणसेन गद्दी पर बैठा। कलचुरि-राजा यशःकर्ण ने उससे पालों और गाहड्वालों के विरुद्ध मैत्री कर काशी पर चढ़ाई की (११२०-२१ ई०)। उस सिलसिले में उसने चंपारन तक धावे मारे। गोविन्द ने एक बार उसे बनारस से निकाल दिया; परन्तु तब लक्ष्मणसेन ने गोविन्दचन्द्र के सामन्त पाल-राजा से मगध छीनकर फिर बनारस और प्रयाग तक चढ़ाई की और वहाँ अपनी विजय के स्मारक खड़े किए।

११२४ ई० तक गोविन्दचन्द्र ने फिर बनारस वापस ले लिया और ११२६ तक उसने लक्ष्मणसेन से मगध भी ले लिया। लक्ष्मणसेन ने मिथिला पर भी हमले किए थे, पर नान्य ने गोविन्द से मदद पाकर मिथिला से सेन-सेना को खदेड़ दिया। गोविन्द जब सेनों और कलचुरियों से उलझा हुआ था, तभी अजमेर का चौहान-राजा विग्रहराज (उर्फ बीसलदेव), गजनवी तुर्कों से दिल्ली के पच्छिम का हाँसी-प्रदेश छीनकर, अपनी राज्य-सीमा हिमालय तक पहुँचा रहा था।

गोविन्दचन्द्र प्रतापी राजा था। इन्द्रप्रस्थ से बिहार की सीमा तक के प्रदेश उसे अपने पिता से मिले थे। मगध और

अंग पर उसने स्वयं अधिकार किया। मिथिला का राजा नान्यदेव भी सेनों के डर से अब उसकी संरक्षकता में आने को बाध्य हुआ। यह बात गोविन्दचद्र के आदेश से लिखे गए कल्पतरु नामक धर्म एवं व्यवहार-ग्रन्थ के मिथिला में भी लागू किए जाने से प्रकट होती है। इस प्रकार उसके समय में कन्नौज का साम्राज्य फिर प्रतिहार-राजा भोज और महेन्द्रपाल के समय की याद दिलाने लगा। उसने ५४ वर्ष तक (१४ वर्ष अपने पिता के समय युवराज के रूप में और ४० वर्ष के अपने राज्यकाल में) गजनवी तुर्कों को पंजाब से मध्यदेश को तरफ बढ़ने से रोके रक्खा। वह शैव था, पर बौद्ध और दूसरे धर्मावलम्बियों की तरफ भी उसका भाव उदार था। स्वयं उसकी रानी मगध की कुमारदेवी बौद्ध थी। उसने सारनाथ और श्रावस्ती के बौद्ध विहारों की मरम्मत कराई। उसकी राजधानी कन्नौज और बनारस दोनों जगह थी। अधिकांश समय उसका बनारस में ही बीतता था। बौद्ध संस्कृति के लिए जैसे मगध और अंग की प्रसिद्धि थी, वैसे ही गाहड़्वालों के समय में बनारस वैदिक-पौराणिक विद्या और संस्कृति का केन्द्र बन गया। गोविन्दचन्द्र के ४२ से भी अधिक दानपत्रों और अभिलेखों से, तथा सोने और चाँदी के सैंकड़ों सिक्कों के मिलने से, उसके समय की समृद्धि एवं ऐश्वर्थ का पता चलता है।

गोविन्द के बाद उसका पुत्र विजयचन्द्र (११५५–७० ई०) और उसका पुत्र जयचन्द्र (११७०–९३ई०) भी योग्य राजा हुए।

तिरहुत में कर्णाट-वंशी राजा नान्यदेव का, ५२ वर्ष राज करने के बाद, लगभग ११५० ई० में, देहान्त हुआ। कोसी और गंडक के बीच आजकल के समूचे उत्तरी बिहार के अतिरिक्त नेपाल पर भी उसका अधिकार था। वह एक वीर और नीति-कुशल व्यक्ति था। अपने लंबे राज्यकाल में उसने पाल, कलचुरि, सेन और गाहड्वाल—इन चार राज्यों के घटने-बढ़ने और पारस्परिक संघर्षों के बीच अपनी दूरदर्शिता, नीति-कुशलता और बहादुरी से अपने राज्य को न सिर्फ स्थापित किया, बल्कि उत्तरोत्तर शक्तिशाली भी बनाया। उसकी राजधानी सिमरौन (जि० चम्पारन) में समझी जाती है। अन्तिम दिनों में शायद उसने नाम मात्र को गोविन्दचन्द्र की अधीनता मान ली थी।

नान्यदेव

नान्यदेव की मृत्यु के बाद उसका लड़का गंगदेव मिथिला का राजा हुआ। वह कन्नौज के राजा विजयचन्द्र का समकालिक था। नान्य का एक दूसरा लड़का मल्लदेव कन्नौज में विजयचन्द्र के पुत्र जयचन्द्र की सेवा में था।

गोविन्द के बाद विजयचन्द्र ने दिल्ली से बिहार तक सारे मध्यदेश का साम्राज्य विरासत में पाया (११५५–७० ई०)। इस समय जापिला-रोहतास का खदिरपाल-(खयरवाल)-वंशी राजा गाहड्वालों का सामन्त था। इस समय के उसके दो लेख सहसराम और रोहतास के पास से मिले हैं।

बिहार—कन्नौज के आधिपत्य में

यह बात समझ लेने की है कि गोविन्दचन्द्र के बाद से मगध गाहड्वालों के आधिपत्य में था और पाल-राजा अब गाहड्वालों की संरक्षकता में मगध के जमींदार मात्र रह गए थे। मदनपाल के बाद ११६१ ई० से वहाँ राजा गोविन्द पाल गद्दी पर था। ११६५ ई० तक नालन्दा में उसका आधिपत्य था। ११७५ ई० में हम उसका गया पर भी अधिकार पाते हैं। पर वह केवल स्थानीय शासक था, और ११२५-२६ ई० से, जब गोविन्दचन्द्र ने मगध जीता, कन्नौज-साम्राज्य के पतन तक बिहार बराबर कन्नौज-साम्राज्य के अन्तर्गत रहा। ✻

* गोविन्दचन्द्र की मृत्यु ११५४ ई० में हुई। उसके बाद विजयचन्द्र ने ११७० ई० तक और जयचन्द्र ने ११७० से ११६४ ई० तक राज किया। ठीक ११७० और ११६४ ई० के गया के दो अभिलेखो में लक्ष्मणसेन-संवत् का प्रयोग हुआ है, जिससे विद्वानों ने यह अनुमान किया है कि बीच-बीच में बंगाल के सेन-राजा गाहड्वालों से मगध छीन लेते रहे। यदि यह बात ठीक हो तो कहना होगा कि ११७० ई० में विजयचन्द्र के मरने पर उन्होंने मगध पर आक्रमण किया, पर जयचन्द्र ने गद्दी पर स्थापित होते ही सेनों से मगध वापस ले लिया, और फिर जब ११९३ ई० में जयचन्द्र का ध्यान पच्छिम में अपने देश को तुर्कों से बचाने की तरफ लगा था तब सेनों ने मगध पर फिर हमला किया। परन्तु सिर्फ दो अभिलेखों में लक्ष्मणाब्द के प्रयोग मात्र से यह परिणाम निकाल लेना युक्तिसंगत प्रतीत नही होता। बंगाल और मगध एक दूसरे से लगे हैं, अतः मगध में किसी एक व्यक्ति का बंगाली संवत् का प्रयोग कर देना बंगाली राज्य के विना भी हो सकता है।

बारहवाँ अध्याय

कर्णाट-राज्य और पहली तुर्क-सल्तनत

[११९४–१३२० ई०]

सात सौ बरस पहले जिस हूण-जाति के आक्रमण के कारण मगध का गुप्त-साम्राज्य डाँवाडोल हो गया था, उसकी एक शाखा का नाम बाद में तुर्क पड़ गया। वह शाखा पाँचवीं सदी में चीन के सबसे पच्छिमी प्रांत कानसू में एक पहाड़ के पास रहती थी, जिसकी शकल नोकीली फौजी टोपी (हूण-भाषा में 'तुर्कु') सरीखी होने के कारण उसका नाम तुर्क पड़ा। भारत में हूणों का अंतिम पराभव यशोधर्मा ने किया था (५३३ ई०)। उसके बाद ५६५ ई० में ईरान के राजा नौशेरवाँ ने इस तुर्क-फिरके की मदद से, जो ५४५ ई० से प्रबल हो उठा था, दूसरे हूणों की शक्ति मध्य एशिया में भी तोड़ दी। तुर्क अगले सौ बरसों में (६३० ई० तक) कानसू से मर्व तक फैल गए। तुर्क-फिरके की प्रबलता के कारण विदेशी लोग सभी हूणों को तुर्क कहने लगे। धीरे-धीरे हूण नाम की जगह तुर्क नाम ही प्रचलित हो गया। मध्य एशिया में खोतन और अन्य

तुर्कों का इस्लाम की शरण जाना

भारतीय उपनिवेशों के तथा शक-ऋषिक-तुखार जातियों के, जो अब शिक्षा-दीक्षा से पूरी तरह भारतीय बन चुकी थीं, सम्पर्क में आने के कारण तुर्क लोग अब बौद्ध धर्म को अपना चुके तथा सभ्य बन गए थे। उनकी नसों में शक-तुखारों और ईरानियों का आर्य खून मिल जाने से उनकी शकल-सूरतें भी बदल गई थीं। वे अब पुराने हूण न रहे थे।

इसी समय अरब में इस्लाम का उदय हुआ (६२२-३२ ई०), जिसकी शिक्षा और प्रेरणा से अरबों में एक नई जागृति पैदा हुई और अरब-रेगिस्तान के असंगठित खानाबदोश फिरके एक झण्डे के नीचे एकत्र हो शस्त्र और धर्म से विश्व की विजय करने निकले।

उनके धार्मिक जोश और अदम्य उत्साह के आगे ईरान का प्रतापी सासानी-राज्य, जो अन्दर ही अन्दर खोखला और बोदा हो चुका था, एक ही टक्कर में ढह गया। रोम-साम्राज्य से उन्होंने फिलिस्तीन, सीरिया और मिस्र देश छीन लिये। अगले सौ वर्षों में सिंध से स्पेन तक भूमध्यसागर के दक्खिन-दक्खिन उनका साम्राज्य फैल गया। मध्य एशिया में उन्हें चीन तथा खोतन और कश्मीर के हिन्दू-राज्यों ने मिलकर करीब आधी सदी तक रोके रक्खा; पर ७५१ ई० में समरकन्द के पास चीनियों का पराभव होने पर वह प्रदेश भी अरबों के अधिकार में चला गया। तब से वहाँ के बौद्ध तुर्क इस्लाम की शरण में जाने लगे और अगले तीन सौ बरस में मध्य एशिया में बौद्ध धर्म का स्थान इस्लाम ने ले लिया।

९५० ई० के बाद से तुर्कों के फिर प्रबल होने पर अरबों का साम्राज्य टूट गया। और, उन सब प्रदेशों पर तुर्क-सल्तनतें छा गईं, जो कभी अरबों के खिलाफत-राज्य के अन्तर्गत थे। इस प्रकार हरात, सिजिस्तान और कन्दहार के इलाके, जो अरबों द्वारा जीते जा चुके थे, अब बुखारा की तुर्क-सल्तनत के अधीन हो गए। पर कन्दहार के सिवा समूचा अफगानिस्तान तब भी हिन्दू था। दसवीं सदी के उत्तरार्द्ध में बुखारा के एक तुर्क हाजिब (प्रतिहार) अलप्-तगीन ने गजनी में एक तुर्क-सल्तनत की नींव डाली। अलप्-तगीन के उत्तराधिकारी सुबुक्-तगीन और महमूद ने समूचा अफगानिस्तान जीतकर वहाँ के हिन्दू अफगानों को मुसलमान बनने के लिए मजबूर किया। महमूद गजनवी के पंजाब ले लेने और मध्य-देश पर भी हमले करने का उल्लेख पहले हो चुका है।

अन्तर्वेद में तुर्क-सल्तनत की स्थापना

महमूद के बाद गजनी की तुर्क-सल्तनत धीरे-धीरे क्षीण होती गई। गजनी से हरात के रास्ते पर फरारूद नदी की दून में गोर नाम का प्रदेश है। वहाँ के अफगान महमूद गजनवी के समय तक हिन्दू थे और इस बीच मुसलमान हो गए थे। उनके सरदार अलाउद्दीन और उसके भतीजे शहाबुद्दीन मुहम्मद गोरी द्वारा महमूद के वंशजों से ११६० ई० तक गजनी और ११८६ ई० तक पंजाब भी छीन लिये जाने पर उनकी पूर्वी सीमा अजमेर और दिल्ली के चौहान-राज्य से आ मिली। वहाँ का राजा पृथ्वीराज (तृतीय) अपने पच्छिमी सीमान्त पर होनेवाली इन महत्त्वपूर्ण घटनाओं

की तरफ से गाफिल हो अपने दक्खिन-पूरब जझौती के चन्देलों से जोर आजमाने में व्यस्त था।

पृथ्वीराज का पूर्वज विग्रहराज, जिसने दिल्ली के पास का हरियाना का इलाका महमूद के वंशजों से वापस लिया था, दिल्ली की अशोकवाली लाट पर अपने वंशजों के लिए यह संदेश खुदवा-कर छोड़ गया था कि आर्यावर्त्त के बाकी हिस्से अर्थात् पंजाब को भी तुर्कों से वापस लेने की कोशिश जारी रखना। गजनी के पिछले क्षीण सुल्तानों से पंजाब वापस लेना शायद उतना कठिन भी न होता। लेकिन पृथ्वीराज ने न केवल बीसल-देव की शिक्षा की बिलकुल उपेक्षा की, प्रत्युत चौहान और चन्देल दोनों राज्यों को कमजोर बनाया। इसके बाद की घटनाएँ सुपरिचित हैं। शहाबुद्दीन गोरी ने चौहान-राज्य का अन्त कर अपने गुलाम कुतबुद्दीन को दिल्ली में स्थापित किया।

चंद बरदाई नामक भाट के लिखे 'पृथ्वीराज-रासा' काव्य के आधार पर जनता में यह कहानी प्रचलित है कि शहाबुद्दीन गोरी ने सम्राट् जयचन्द्र के बुलाने से पृथ्वीराज पर चढ़ाई की। समकालिक मुस्लिम इतिहास-लेखकों ने यह बात कहीं नहीं लिखी। रासा के अनुसार जयचन्द्र की लड़की संयोगिता जिस प्रकार पृथ्वीराज को चाहती थी, उसी प्रकार आबू के राजा नाहड़-देव की लड़की भी उसपर अनुरक्त थी, और वह उन दोनों को बारी-बारी से भगा लाया था। रासा में यह भी लिखा है कि मेवाड़ का राजा समरसिंह भी, जो पृथ्वीराज का बहनोई था,

उसके झण्डे के नीचे लड़ता हुआ तरावड़ी के मैदान में मारा गया। आधुनिक खोज से प्रकट हुआ है कि ये सब बातें निरे तोता-मैनाओं के किस्से हैं। समरसिंह पृथ्वीराज के डेढ़ सौ वर्ष पीछे हुआ; और राजपूताना की ख्यातों का प्रसिद्ध राजा नाहड़देव प्रतिहार-सम्राट् नागभट है, जो पृथ्वीराज से शताब्दियों पहले हो चुका था। संयोगिता एक कल्पित नायिका है। पृथ्वी-राज-रासा का लेखक अपनेको पृथ्वीराज का समकालिक कहता है। किन्तु समकालिक लेखक ऐसी गलती नहीं कर सकता। कश्मीरी कवि जयानक पृथ्वीराज के दरबार में था। उसके संस्कृत नाटक 'पृथ्वीराज-विजय' में ऐसी कोई भी बात नहीं लिखी है। चंद बरदाई की दी हुई सारी तिथियाँ और चौहानों की वंशावली भी गलत है। तेरहवीं-चौदहवीं शताब्दी के जैन लेखकों के लिखे ऐतिहासिक निबन्धों में पृथ्वीराज और जयचन्द्र पर कई निबन्ध हैं। उनमें प्रत्येक से चन्द की बातें अप्रामाणिक सिद्ध होती हैं। इन युक्तियों के आधार पर महामहोपाध्याय डाक्टर गौरीशंकर-हीराचन्द ओझा ने सिद्ध किया है कि रासा १६ वीं सदी से पहले की रचना नहीं है।

अस्तु। चौहान-राज्य के पतन के बाद गजनी के तुर्क-पठान-साम्राज्य की सीमाएँ कन्नौज के साम्राज्य से आ मिलीं। गोरी ने ११९४ में एक बड़ी सेना के साथ कन्नौज के गाहड़्वाल-साम्राज्य पर भी हमला किया। राजा जयचन्द्र इटावा के पास चन्दावर पर उसका मुकाबला करता हुआ मारा गया और गोरी ने बनारस

तक हमला कर उसे लूटा। समूचे गंगा-जमुना-दोआब, गंगा-पार बदायूँ और सम्भल तथा दक्खिनी अवध पर शीघ्र ही उसका अधिकार हो गया।

पर इतने से कन्नौज-साम्राज्य की शक्ति बिलकुल टूट न गई। जयच्चन्द्र के लड़के हरिश्चन्द्र ने, जो इस समय सिर्फ १८ वर्ष का था, देश की रक्षा का प्रयत्न जारी रक्खा। राजधानी कन्नौज पर उसने तुर्कों का अधिकार अपने जीते-जी न होने दिया और गंगा के उत्तर अवध में हटकर लड़ाई जारी रक्खी। बनारस और अन्य मुख्य नगरों के तुर्कों के अधिकार में चले जाने से, साम्राज्य की एकता नष्ट हो जाने के बावजूद भी, गाहड्वालों के सामन्त और 'पालक' गंगा के दोनों तरफ एक अरसे तक अपने-अपने प्रदेश में कान्यकुब्जाधिपति का अधिकार मानते और उसके नाम से तुर्कों से युद्ध करते रहे।

काशी-कन्नौज का राज्य जीतने के बाद शहाबुद्दीन ने जो सिक्का चलाया उसपर गाहड्वाल सिक्कों की तरह लक्ष्मी की मूर्त्ति और नागरी-अक्षरों में उसका नाम लिखा रहता है।

तुर्क जिन प्रदेशों को जीतते, उन्हें अपने सरदारों और सैनिकों को जागीर के रूप में बाँटते गए। इस प्रकार दक्खिनी

मुहम्मद-बिन-बख्तियार का मगध-गौड जीतना

अवध के विजित इलाके में मलिक इसामुद्दीन आगुलबुक नाम का एक सरदार स्थापित हुआ। उसने लगभग ११९६ ई० में अपने एक भृत्य

† दे० 'इतिहास-प्रवेश', पृ० २४४।

इख्तियारुद्दीन मुहम्मद-बिन-बख्तियार (अर्थात् बख्तियार के बेटे इख्तियारुद्दीन मुहम्मद) को चुनार के आसपास का प्रदेश सौंपा। चुनार के दक्खिन बलखरा का पालक राणक (राना) विजय-कर्ण कम-से-कम ११९७ ई० तक •कान्यकुब्जाधिपति के नाम पर शासन करता था।

पर इख्तियारुद्दीन मुहम्मद ने शीघ्र ही गंगा और कर्मनाशा के बीच समूचे प्रदेश पर दखल कर लिया। वहाँ से वह कर्मनाशा के पूरब मनेर (जि० पटना) और उद्दण्डपुर तक धावे मारता था, जिनमें अच्छी लूट उसके हाथ लगती। इससे आकृष्ट हो बहुत-से तुर्क और खिलजी सवार उसके पास जमा हो गए।

हम देख चुके हैं कि पिछली सारी सदी में मगध कन्नौज के गाहड्वाल-सम्राटों के आधिपत्य में था। राजा गोविन्दपाल की हैसियत एक साधारण जमींदार से ज्यादा न थी। अब गाहड्वालों के पतन के बाद मगध के सरदार जहाँ-तहाँ स्वतंत्र हो गए, और कोई केन्द्रीय शासन वहाँ खड़ा न हो सका। रोहतास के दक्खिन पलामू के जापिल स्थान में खदिरपाल-(खयरवाल)-वंश के राजा, जो पहले कन्नौज के सामन्त थे, अब स्वतंत्र हो गए। ११९६ ई० का वहाँ के राजा इन्द्रधवल का एक अभिलेख डिहरी (जि० शाहाबाद में सोन के तट पर स्थित) से मिला है। पलामू औरंगजेब के समय तक बराबर स्वतंत्र ही रहा।

मगध में तब कोई स्थिर राज्य-शक्ति न थी, जिसका मुकाबला मुहम्मद-बिन-बख्तियार खिलजी को करना पड़ता। मगध

जिस कन्नौज-राज्य के अन्तर्गत था, वह तो टूट ही चुका था। मुहम्मद के मगध पर धावे उस विघटित राज्य के सीमान्त को त्रस्त करने तथा उसे जीतने के साधन जुटाने के लिए थे। ११९९ ई० में उसने दो सौ सवारों के साथ उद्दण्डपुर पर हमला किया और पहाड़ी पर बने विहार को किला समझ घेर लिया। अपनी रक्षा का और कोई उपाय न देख बूढ़े भिक्षुओं ने आत्म-रक्षा के लिए शस्त्र उठाए। तुर्क सैनिक इन पीले कपड़ों और मुँड़े सिरों वाले बौद्ध भिक्षुओं से दूसरे हिन्दुओं की अपेक्षा अधिक चिढ़ते थे। कारण कि पूर्वी मध्य एशिया (कश्मीर-यारकन्द-खोतन) के तुर्क ११वीं सदी के शुरू तक बौद्ध थे, और महमूद गजनवी के नेतृत्व में बोखारा-समरकन्द के मुस्लिम तुर्कों को उनसे विकट लड़ाइयाँ लड़नी पड़ी थीं। मध्य एशिया में जिन बौद्ध भिक्षुओं से वास्ता पड़ता था, उन्हीं लोगों को फिर आगे आया देख तुर्क सैनिकों का क्रोध भड़क उठा। उन्होंने ढूँढ़-ढूँढ़कर एक-एक भिक्षु को कत्ल किया। युद्ध के बाद जब इख्तियार का दखल 'किले' पर हुआ तब वहाँ किताबों के ढेर के सिवा उसे कुछ न मिला। पूछने पर उसे बताया गया कि वह किला नहीं, एक विहार था। उसने चाहा कि कोई उसे पढ़कर बतावे कि इन किताबों में क्या था; पर सब भिक्षु युद्ध में मारे जा चुके थे, अतः आसपास ढूँढ़ने पर भी जब उसे ऐसा कोई व्यक्ति न मिला तब उसने शताब्दियों से संचित ग्रन्थों के उस बहुमूल्य संग्रह को अग्नि की भेंट चढ़ा दिया।

उस विहार के नाम पर शहर का नाम भी बिहार हो गया और इस युग में मगध की राजधानी वहीं रहने से समूचे मगध का नाम बिहार पड़ गया † ।

मुहम्मद-बिन-बख्तियार का अधिकार चुनार से उद्दण्डपुर (बिहारशरीफ) तक मुख्यतः गंगा के साथ-साथ ही फैला था। उसके दक्खिन रोहतास से खड़गपुर और राजमहल की पहाड़ियों तक के प्रदेश में हिन्दू सरदार अभी तक स्वतंत्र थे। रोहतास के राजा इन्द्रधवल का उल्लेख ऊपर कर चुके हैं। मुंगेर जिले में खड़ग-पुर की पहाड़ियों के दक्खिन इस समय एक इन्द्रद्युम्न नाम के राजा का अधिकार बताया जाता है, जो मगध पर तुर्क-विजय के बाद इन पहाड़ों में आश्रय लिये हुए कुछ काल तक अपनी स्वाधीनता बचाए रहा। पर मुहम्मद ने शीघ्र ही उसे भी हराया और दक्खिन-पच्छिमी बंगाल पर हमला कर सेनों से गौड छीन लिया। बंगाल के बाकी हिस्सों में सेन-राज्य बना रहा। लखनौती के चौगिर्द ४०–४० कोस के प्रदेश पर अपना अधिकार स्थापित कर मुहम्मद-बिन-बख्तियार ने उसे अपनी राजधानी बनाया। इस

† यह ध्यान रखना चाहिए कि पहले तुर्क-काल में सोन के पूरब, राज-महल की पहाड़ियों के पच्छिम तथा गंगा नदी और गया की पहाड़ियों के बीच के प्रदेश का नाम ही बिहार था। पाठ्य पुस्तकों में लोग जो बिहार से उस युग में भी आधुनिक बिहार का अभिप्राय लेते हैं, सो गलत है। आधुनिक समूचे बिहार पर तुर्क-सल्तनत उस युग के अन्त तक भी कायम न हो पाई थी।

प्रकार सिर्फ अपनी सूझ और हिम्मत के बल पर उसने मगध, अंग और गौड में एक नई सल्तनत कायम कर ली। उसने गौड के उत्तर हिमालय के एक राज्य पर धावा किया ; पर वहाँ उसकी बुरी गत बनी, उसकी सारी सेना काटी गई और खुद भी बड़ी मुश्किल से जान बचाकर लौट सका। इस पराजय से वह इतना शर्मिन्दा हुआ कि उसे प्रजा और मरे हुए तुर्क-सैनिकों के परिवारों को अपना मुँह दिखाना तक दूभर हो गया और उसी दशा में उसकी मृत्यु हुई (१२०५ ई०)।

इसी समय गजनी के सुल्तान मुहम्मद गोरी का भी देहान्त हो गया और दिल्ली में कुतुबुद्दीन ऐबक स्वतन्त्र शासक बना।

गियासुद्दीन उवज

लखनौती में मुहम्मद बख्तियार के बाद खिलजी अमीर आपस में झगड़ने लगे, जिसका फायदा उठाकर ऐबक ने लखनौती सल्तनत पर भी अधिकार कर लिया। पर १२१० ई० में ऐबक की मृत्यु के बाद लखनौती फिर स्वतंत्र हो गई। खिलजी सरदारों ने मिलकर गियासुद्दीन उवज को वहाँ की गद्दी पर बिठाया। उसने समूचा गौड जीत लिया तथा जाजनगर (उड़ीसा), वंग, पूर्वी बंगाल, कामरूप और तिरहुत के हिन्दू-राज्यों पर भी हमले किए।

दिल्ली में कुतुबुद्दीन के बाद उसका गुलाम और दामाद इल्तुतमिश गद्दी पर बैठा। उसके समय में दिल्ली-सल्तनत की पूर्वी सीमा गंगा के दक्खिन तरफ कर्मनाशा तक थी। गंगा के उत्तर-दक्खिनी

अवध और बनारस में भी संभवतः उसका अधिकार था। पर उसके उत्तर कन्नौज से तिरहुत तक बराबर हिन्दू-राज्य फैला था। कन्नौज का किला भी अभी तक हरिश्चन्द्र के हाथ में था। हरिश्चन्द्र और उसके सान्मत अवध की सीमा पर तुर्कों से बराबर युद्ध कर रहे थे। वहाँ 'वर्तु' नाम के एक हिन्दू सरदार से लड़ते हुए एक लाख से भी अधिक तुर्क मारे जा चुके थे। दिल्ली-सल्तनत के भीतर तुर्क-सरदारों के विद्रोह जारी थे। उत्तर-पच्छिम से मंगोलों के आक्रमण का भी खतरा हो रहा था। ये मंगोल हूणों और तुर्कों की तरह ही चीन के उत्तरी सीमान्त की एक खानाबदोश जाति थे और अपने असाधारण नेता चंगेज खाँ के नेतृत्व में विश्व-विजय करने निकले थे।

इल्तुतमिश ने शीघ्र अपने विद्रोही सरदारों को दबा कन्नौज पर भी दखल कर लिया। उसने गंगा और घाघरा के बीच का समूचा प्रदेश जीता और बिहार (मगध) पर भी अधिकार कर लिया। १२२५ ई० में उसने लखनौती पर हमला कर गियासुद्दीन उवज को अधीनता मानने के लिए मजबूर किया। गियास ने उसके पीठ फेरते ही विद्रोह किया, और बिहार भी वापस ले लिया। तब इल्तुतमिश ने लखनौती पर फिर चढ़ाई की। गियास लड़ाई में पकड़ा और मारा गया। लखनौती पर इल्तुतमिश का दखल हो गया। वहाँ उसने अपने बेटे नासिरुद्दीन महमूद को शासक नियुक्त किया (१२२६ ई०)। परन्तु डेढ़ बरस बाद बीमारी से महमूद की मृत्यु होने पर वहाँ फिर विद्रोह उठ खड़ा हुआ।

अतः १२२८ ई० में इल्तुतमिश ने लखनौती पर फिर चढ़ाई की, और अलाउद्दीन जानी को वहाँ का शासन-भार सौंपा ।

तब से १२८८ ई० तक बिहार और गौड दोनों दिल्ली की सल्तनत के अधीन रहे । जानी के बाद वहाँ दिल्ली की तरफ से सैफुद्दीन और तोगरल तोमान खाँ और सैफुद्दीन का पुत्र अलाउद्दीन शासक नियुक्त हुए । इल्तुतमिश के बाद (१२३६ ई०) दिल्ली में उसका एक लड़का और लड़की सुलताना रजिया, तब उसका एक और लड़का, क्रम से गद्दी पर बैठे । इस समय तुर्क-राजशक्ति बहुत कमजोर पड़ गई । उधर उड़ीसा के गंग-राजाओं का राज्य इस समय बहुत प्रबल था । राजा नरसिंहदेव (१२३८–६४ ई०) ने गौड़ की तुर्क-सल्तनत पर चढ़ाई की । लखनौती के तुर्कों पर उसका ऐसा आतंक छाया था कि सिर्फ ५० उड़िया सवारों और दो सौ पैदलों के पहुँचते ही तुर्क-सेना सीमान्त का एक किला छोड़कर भाग गई । नरसिंह के एक सेनापति सामन्तराज ने लखनौर पर दखल कर लखनौती को आ घेरा । अवध से नई तुर्क-सेना के आने पर उड़िया-सेना वहाँ से लौटी; पर मेदिनीपुर, हावड़ा और हुगली जिलों पर उड़ीसा के राजा का अधिकार हो गया (१२४३ ई०) । तुर्क-आक्रमण के फलस्वरूप गंगा-काँठे और अन्य उपजाऊ मैदानों के राज्य खोने के बाद वहाँ के बहुत-से राजपूत-सरदार अब विंध्यमेखला के अन्तरंग भागों में प्रविष्ट हो रहे थे । इनके दबाव से उक्त प्रदेशों की मुण्डा, संथाल, कुरुख (ओराँव), खरवार आदि जातियों

बिहार-गौड दिल्ली-सल्तनत में

में भी उथल-पुथल मची। एक के बाद एक वे विंध्याचल को और अधिक दुर्गम प्रदेशों—झारखण्ड-छोटानागपुर—में जाकर बसने लगीं। १२४४ ई० में संथालों ने वीरभूमिराज्य की राजधानी को लूटा।

दिल्ली की गद्दी पर इसी समय रजिया का छोटा भाई नासिरुद्दीन महमूद (१२४६-६६ ई० में) बैठा और इल्तुतमिश का दामाद गियासुद्दीन बलबन उसका वजीर बना। बलबन ने लखनौती में इख्तियारुद्दीन उजबक को नियुक्त किया। उजबक ने उड़ीसा पर चढ़ाई की और लूट में काफी धन प्राप्त किया तथा स्वतंत्र हो अवध तक के प्रदेश पर दखल कर लिया। पर दिल्ली की सेना के बढ़ने की खबर पा वह वापस लखनौती लौट आया। तब उसने कामरूप पर चढ़ाई की जहाँ उसकी वही गत बनी, जो मुहम्मद-बिन-बख्तियार की हिमालय-चढ़ाई में बनी थी। वह कामरूप के राजा की कैद में ही मरा। बिहार-बंगाल के तुर्क-शासक अब नाममात्र को ही दिल्ली के अधीन रह गए थे। नासिरुद्दीन की मृत्यु के बाद बलबन ने गद्दी पर बैठते ही अपना अधिकार वहाँ फिर दृढ़ किया, और अपने एक अत्यन्त विश्वासपात्र व्यक्ति मुगीसुद्दीन तोगरल को शासक नियुक्त किया। उसे कामरूप और उड़ीसा के आक्रमणों में कुछ सफलता मिली और बहुत-सा धन हाथ लगा, जिससे उसका दिमाग फिर गया। बूढ़े सुलतान को पच्छिमी सीमान्त में फँसा देख वह स्वाधीन बन बैठा। बलबन के दो सेनापतियों को उसने रिश्वतें देकर हरा दिया। तब सुलतान स्वयं लखनौती की

तरफ बढ़ा। तोगरल लखनौती से भाग गया। बलबन ने तब पूर्वी और दक्खिनी बंगाल के सेनवंशी राजा दनुजराय से जलमार्ग से उसको न भागने देने का वचन ले तोगरल का पीछा किया, और उड़ीसा की सीमा पर उसे जा पकड़ा। विद्रोहियों को लखनौती के बाजारों में खुली फाँसियाँ लटकवा और अपने बेटे नासिरुद्दीन बुगड़ा को वहाँ का शासक नियत कर बलबन दिल्ली लौट गया (१२८२ ई०)।

अपनी मृत्यु के समय बलबन ने बुगड़ा को दिल्ली की गद्दी सौंपनी चाही। पर उसने उस काँटों के ताज की बनिस्बत लखनौती की सूबेदारी को ही ज्यादा पसन्द किया। अतः बलबन के बाद बुगड़ा का बड़ा लड़का कैकोबाद दिल्ली की गद्दी पर बैठा। उसके स्वेच्छाचार और लम्पटता से तंग आकर चार वर्ष बाद बलबन के एक सरदार जलालुद्दीन खिलजी ने दिल्ली की गद्दी पर अधिकार कर लिया। बलबन की मृत्यु के बाद नासिरुद्दीन बुगड़ा स्वतंत्र हो गया था (१२८८ ई०)। समूचा बिहार तब उसके अधीन था। खिलजियों के समय कड़ा-माणिकपुर (इलाहाबाद जिले में) दिल्ली-सल्तनत का सबसे पूर्वी इलाका था। नासिरुद्दीन बुगड़ा (१२८७–९१ ई०) तथा उसके दो बेटों कैकोस (१३०० तक) और शम्सुद्दीन फीरोज (१३२२ तक) के राज्यकाल में दक्खिन बंगाल का मुख्य नगर सातगाँव और पूर्वी बंगाल का मुख्य नगर सोनारगाँव भी जीते गए, और इस प्रकार सेनवंश का अन्त होकर बंगाल का मुख्य भाग तुर्कों के

नासिरुद्दीन बुगड़ा और उसके वंशज

अधिकार में आ गया। लेकिन तिरहुत और छोटानागपुर तब भी हिन्दू-शासन में रहे। इसी समय दिल्ली की सल्तनत में जलालुद्दीन के बाद उसके भतीजे अलाउद्दीन और उसके सेनापति गुजराती मुसलमान मलिक काफूर की विजयों के फलस्वरूप सुदूर दक्खिन तक के हिन्दू-राज्य झकझोरे गए, और कर्णाटक तक पर दिल्ली का आधिपत्य माना जाने लगा। परन्तु खिलजियों का यह राज्य ३० वर्ष तक ही टिकने पाया। उसके गुजराती मुसलमान सेनापतियों ने अलाउद्दीन के बाद खिलजियों के वंश की बड़ी दुर्गति की। उनके जोर-जुल्म से तंग आकर तुर्कों ने गाजी तुगलक की अध्यक्षता में विद्रोह किया। गाजी तुगलक गियासुद्दीन के नाम से दिल्ली की गद्दी पर बैठा।

लखनौती में शम्सुद्दीन फीरोज के बाद उसके चार लड़कों में सबसे छोटा कतलू खाँ बिहार का शासक था। बाकी तीन शहाबुद्दीन बुगड़ाशाह, गियासुद्दीन बहादुर और नासिरुद्दीन इब्राहीम लखनौती की गद्दी के लिए परस्पर झगड़ने लगे। गियासुद्दीन बहादुर ने लखनौती पर अधिकार कर लिया (१३२१ ई०)। तब शेष दोनों भाइयों ने अपना-अपना पक्ष पुष्ट कराने के लिए गियासुद्दीन तुगलक को बंगाल में आमंत्रित किया।

तेरहवीं शती में तिरहुत

चौदहवीं सदी के शुरू तक उत्तर-भारतीय मैदान का मुख्य अंश, राजपूताना, मालवा, गुजरात, महाराष्ट्र, कर्णाटक, आन्ध्र और तामिल देश दिल्ली और लखनौती की तुर्क-सल्तनतों के आधिपत्य में जा चुके थे। किन्तु

अफगानिस्तान, कश्मीर से लगाकर समूचा पहाड़ी प्रदेश, उत्तर-पच्छिमी पंजाब, कच्छ-काठियावाड़, चेदि (बुन्देलखण्ड-बघेल-खण्ड-छत्तीसगढ़-गोंडवाना), झारखण्ड, बस्तर, उड़ीसा, केरल, बंगाल के अत्यन्त दक्खिन तथा अत्यन्त पूरब और उत्तर के जिले (यशोहर, खुलना, त्रिपुरा, सिलहट, कामतापर), आसाम तथा तिरहुत उन सल्तनतों के बाहर रहे। अफगानिस्तान बौद्ध मंगोलों के हाथ में था जिनकी मनोरंजक कहानी आगे कही जायगी। बाकी प्रन्तों की स्वतंत्रता बनी रही, या तो उनकी दूरी के कारण या उनके जंगलों और पहाड़ों से रक्षित और दुर्गम होने के कारण। परन्तु तिरहुत, भारत के मुख्य राजपथ पर तथा दिल्ली और लखनौती की दो तुर्क-सल्तनतों के ठीक बीच में पड़ता था। वह भारतीय मैदान के सबसे अधिक उपजाऊ और आबाद हिस्सों में से है। गोरखपुर से कोसी तक उसकी सीमाएँ थीं। इस पर भी, जब मेवाड़, जैसलमेर और कर्णाटक-जैसे बीहड़ और दूर के प्रदेश भी जीते जा चुके थे, तिरहुत का अपनी स्वतंत्रता को बराबर बनाए रखना बड़े महत्त्व और गौरव की बात थी।

तिरहुत के कर्णाट-वंश में नान्यदेव के पुत्र गंगदेव का उल्लेख हो चुका है। वंशावलियों के अनुसार उसकी मृत्यु ११९० ई० के लगभग हुई। उसके बाद तेरहवीं सदी में हमें राजा शक्तिसिंह और भूपालसिंह के नाम मिलते हैं। दरभंगा जिले में लहरिया-सराय के पास जयपुर (संभवतः जयनगर)

से एक मांडलिक राजा संग्रामदेव गुप्त † का अभिलेख मिला है। लिपि के आधार पर उसका इसी शती के होने का अनुमान किया जाता है। संग्रामदेव इन कर्णाटों का ही मांडलिक होगा।

कन्नौज, मगध और गौड के तुर्कों द्वारा जीते जाने पर वहाँ के दल के दल ब्राह्मण और श्रमणों ने भागकर तिरहुत, नेपाल और तिब्बत में आश्रय लिया। तिरहुत तब हिन्दू-संस्कृति और विद्या का आश्रय-स्थान और केन्द्र था। संस्कृत के अनेक ग्रन्थ इस युग में वहाँ लिखे गए जिनमें कानून (धर्मशास्त्रों) पर लिखे गए अनेक 'निबन्ध' उल्लेख-योग्य हैं।

नेपाल के द्वारा तिरहुत और तिब्बत का सांस्कृतिक सम्बन्ध भी इस युग में बराबर बना था। मुहम्मद-बिन-बख्तियार के मगध-अंग जीतने के समय शाक्य श्रीभद्र नामक एक कश्मीरी पंडित विक्रमशिला के आचार्य थे। वे वहाँ से भागकर तिब्बत के सस्क्य-विहार में जा रहे। तेरहवीं सदी में जब चंगेज खाँ के नेतृत्व में मंगोल अफगानिस्तान को जीत रहे थे, ठीक तभी शाक्य श्रीभद्र का एक तिब्बती शिष्य मंगोलिया में बौद्ध धर्म का प्रचार करने गया हुआ था। चंगेज के पोते सम्राट् मानकूखान को उसने

† जयपुर के ये गुप्त मांडलिक अपनेको सोमवंशी किसी अर्जुन का वंशज मानते और गुप्त-सम्राटों के सब पद धारण करते थे। हमारा अनुमान है कि हर्षवर्द्धन के बाद चीनी दूत को सतानेवाले जिस अर्जुन का उल्लेख हम ऊपर कर चुके हैं वे उसी के वंशज थे। इससे अर्जुन के गुप्तवंशी और तिरहुत का शासक होने का अनुमान पुष्ट होता है।

बौद्ध धर्म की दीक्षा दी। मंगोलों ने इस समय समूचे मध्य और पच्छिमी एशिया के तुर्कों और अरबों के राज्यों को उखाड़ दिया और बगदाद में खिलाफत का अन्त कर दिया। इस प्रकार भारत के तुर्क-राज्यों का मध्य एशिया के तुर्कों से सम्बन्ध पूरी तरह टूट गया। भारत में आए हुए तुर्क अब यहाँ की भापा और रीति-रिवाजों को अपनाकर भारतीय बन चले थे। मलिक खुसरो नामक कवि उसी समय हुआ (१२५३-१३२५ ई०)। वह हमारी खड़ी बोली का सबसे पहला कवि है। उसकी कविता इस बात का प्रमाण है कि तुर्क अब भारत में विदेशी न रहे थे; वे भारतीय बन चुके थे।

तेरहवीं सदी के अन्त में (लग० १३९८ ई०) राजा हरिसिंहदेव तिरहुत की गद्दी पर बैठा। 'विवादरत्नाकर' नामक कानूनी ग्रन्थ का रचयिता चंडेश्वर और उसका चचा गणेश्वर उसके मन्त्री थे। चंडेश्वर उसका महासान्धिविग्रहिक (आधुनिक भाषा में युद्धसचिव) था। उसने १३१४ ई० से पहले नेपाल पर चढ़ाई की। नेपाल नान्यदेव के समय कर्णाटों के आधिपत्य में था। उसके बाद जब कर्णाटों का ध्यान देश को तुर्कों से सुरक्षित करने की तरफ लगा था, वहाँ के सरदार संभवतः स्वाधीन हो गए थे। उन्हें जीतकर चंडेश्वर ने हरिसिंहदेव का आधिपत्य नेपाल पर फिर से स्थापित किया।

तेरहवाँ अध्याय

तुगलक, ठाकुर और शर्की

[१३२०–१५१८ ई०]

गियासुद्दीन तुगलक ने लखनौती के आपसी झगड़ों में दखल देने का निमंत्रण पा एक बड़ी सेना के साथ पूरब पर चढ़ाई की।

तुगलकों का बिहार जीतना

वह दिल्ली-साम्राज्य के पूर्वी सीमान्त—अवध—को सँभालकर गङ्गा के उत्तर-उत्तर तिरहुत के रास्ते बंगाल की तरफ बढ़ा।

हरिसिंहदेव ने उसका मुकाबला किया; पर उसे रोकने में असमर्थ रहा। बंगाल जीतने और वहाँ लखनौती, सातगाँव तथा सोनारगाँव के तीन प्रान्त बनाने के बाद लौटते हुए गियास ने तिरहुत पर फिर हमला किया। वहाँ उसने मिथिला की राजधानी को लूटकर बरबाद कर दिया। तब राजा हरिसिंहदेव नेपाल भाग गया (१३२४ ई०)। बंगाल-तिरहुत की चढ़ाई से लौटकर गियासुद्दीन मर गया और उसका लड़का जूना, मुहम्मद तुगलक के नाम से, दिल्ली की गद्दी पर बैठा। गियास के चले जाने पर हरिसिंहदेव ने नेपाल से लौटकर तिरहुत में दो वर्ष और राज किया (१३२६ ई० तक)। उसके बाद उसका बेटा नरसिंहदेव

गद्दी पर बैठा। १३३० ई० में बंगाल में सोनारगाँव के शासक ने विद्रोह किया जिसे दबाने के सिलसिले में मुहम्मद तुगलक ने तिरहुत पर भी चढ़ाई कर उसे दिल्ली का करद बनाया और वहाँ अपने नाम से तुगलकपुर-टकसाल की स्थापना की।

मुहम्मद तुगलक को अपने पिता से, सिन्ध से बंगाल और कर्णाटक तक फैला, विशाल साम्राज्य विरासत में मिला। वह एक पढ़ा-लिखा विद्वान, परन्तु क्रूर, सनकी और मूर्ख व्यक्ति था। उसके राज-काल में साम्राज्य के बहुत-से अंश स्वतंत्र हो गए। १३३९ ई० में बंगाल में फिर विद्रोह हुआ। शम्सुद्दीन इलियास नाम के एक व्यक्ति ने लखनौती को दखल कर तिरहुत और नेपाल तक पर चढ़ाई की, और काठमांडू को लूटा और उजाड़ा (दिसम्बर १३४६ ई०)। इलियासशाह ने तिरहुत, बिहार और बनारस पर भी अधिकार कर लिया। मुहम्मद तुगलक के उत्तराधिकारी फीरोज तुगलक ने १३५४ ई० में उसके खिलाफ़ चढ़ाई की। फीरोज गोरखपुर और तिरहुत के रास्ते बढ़ा। रास्ते में उसने गोरखपुर इलाके के उच्छृंखल राजाओं से कर वसूला, और उस सीमान्त की देखरेख के लिए जूना (मुहम्मद तुगलक) के नाम पर जौनपुर की स्थापना कर वहाँ मलिक-उस्-शर्क (पूरब का सरदार) नामक हाकिम नियुक्त किया। तिरहुत को फीरोज ने अब दिल्ली का एक प्रान्त बना दिया और वहाँ कर वसूलने के लिए अपने कर्मचारी नियुक्त किए (१३५४ ई०)।

इलियासशाह और फीरोज तुगलक

राजा नरसिंहदेव इस समय जीवित था या उसका उत्तराधिकारी रामसिंहदेव तिरहुत का राजा माना जाता था, सो नहीं कहा जा सकता। रामसिंहदेव १३९० तक जीवित था; परन्तु तुर्कों के बार-बार के आक्रमणों के फलस्वरूप इन राजाओं का अधिकार अब सिमरौन के आसपास नेपाल की तराई में ही मुश्किल से रहा होगा।

फीरोज के कोसी पार करने पर इलियासशाह ने गौड़ के एक किले में शरण ली। फीरोज उस किले को नहीं जीत सका और सन्धि करके लौट आया। सन् १३५८ में उसने फिर बंगाल पर चढ़ाई की, और फिर उसी तरह विफल हो सन्धि कर लौट आया। उसके बाद १५३८ ई० तक दिल्ली के किसी सुलतान ने बंगाल पर चढ़ाई नहीं की। बंगाल दिल्ली से स्वतंत्र रहा; पर बिहार (मगध-अंग) इस युग में दिल्ली-सल्तनत के अन्तर्गत रहा।

मैथिल अनुश्रुति के अनुसार इसी समय कामेश्वर नाम के एक ब्राह्मण ने मिथिला में एक नया राजवंश चलाया। मिथिला में इस वंश की याद अब तक ठाकुर-वंश नाम से की जाती है। कामेश्वर का पुत्र भोगीश्वर फीरोज का मित्र था। उसने या उसके लड़के कामेश्वर ने नवस्थापित तुर्क-राजसत्ता को तिरहुत से उखाड़ फेंका। १३७० ई० में गणेश्वर दिल्ली या बंगाल के सुलतान की सेना से लड़ता हुआ मारा गया। परन्तु उसके लड़के कीर्तिसिंह ने (मैथिल कवि विद्यापति के शब्दों में) "पिता के बैरियों से

ठाकुर-वंश का उदय

अपनी राज्यलक्ष्मी की रक्षा की।" विद्यापति ने अपनी 'कीर्त्तिलतिका' में उसी की कीर्त्ति गाई है। कीर्त्तिसिंह के बाद कामेश्वर के छोटे लड़के भवसिंह या भवेश (१४००–५ ई०), देवसिंह 'गरुडनारायण' (१४०९ ई० तक) और शिवसिंह रूपनारायण के समय तिरहुत-राज्य दिन-दिन शक्तिशाली होता गया।

शिवसिंह और इब्राहीम शर्की

फीरोज के पीछे दिल्ली-सल्तनत क्षीण हो गई। उधर मध्य एशिया में तैमूर के नेतृत्व में तुर्क फिर उठे और १३७० तक उन्होंने मंगोल-राज्यों की सफाई कर दी। १३९८ ई० में तैमूर ने दिल्ली पर चढ़ाई कर उसे लूटा। इसके बाद दिल्ली की पूरबी सरहद के रक्षक जौनपुर के हाकिम 'मलिक-उस्-शर्क' अर्थात् पूरब के सरदार स्वतन्त्र हो गए (१३९९ ई०)। मुबारकशाह शर्की (१३९९–१४००) का भाई इब्राहीम शर्की तिरहुत के राजा शिवसिंह का समकालिक था। दिल्ली-सल्तनत के कन्नौज से पूरब के तिरहुत और बंगाल की सीमा तक के इलाके अर्थात् बिहार भी शुरू से उसके अधीन थे। इब्राहीम ने कन्नौज के पच्छिम सम्भल (रुहेलखण्ड) और बुलन्द-शहर तक गङ्गा-जमना-दोआब और कालपी को जीता। उसने तिरहुत पर भी चढ़ाई की। पर राजा शिवसिंह ने उसे हरा दिया। सन् १४०९ ई० में बंगाल में गणेश नामक सरदार इलियास-शाही-वंश से सल्तनत छीनकर स्वयं राजा बन बैठा। गणेश का बेटा यदु

उसके बाद मुसलमान हो गया। उसने अपना नाम जलालुद्दीन रक्खा। वह भी शिवसिंह से लड़ाई में हारा।

इस प्रकार शिवसिंह एक प्रवल राजा था। उसके समय मिथिला खूब समृद्ध थी। मैथिल कवि विद्यापति उसी के दरबार में था। शिवसिंह के सोने के सिक्के अबतक मिलते हैं। शिव-सिंह के बाद उसके भाई पद्मसिंह और हरसिंहदेव क्रमशः गद्दी पर बैठे। इसके बाद चम्पारन में एक नये राजवंश की स्थापना हुई, जिससे तिरहुत दो राज्यों में बँट गया।

कपिलेन्द्र, मदनसिंह और हुसेन शर्की

उड़ीसा में इसी समय गंग-वंश का अन्त हुआ। अन्तिम गंग राजा के मंत्री कपिलेन्द्र ने एक नए वंश की नींव डाली (१४३५ ई०) जो सूर्यवंश के नाम से प्रसिद्ध हुआ। कपिलेन्द्र के नेतृत्व में (१४३५-७० ई०) उड़ीसा राज्य दक्खिन-पूर्वी भारत की एक महाशक्ति बन गया। दक्खिन में उसका राज्य त्रिचिनापल्ली तक पहुँचा और बिदर के बहमनी सुलतान उससे कई बार हारे। उत्तर में कपिलेन्द्र ने दामोदर नदी और गंगा के बीच के प्रदेश को लेकर भागलपुर के पास अपनी सीमा जौनपुर की रियासत से मिला दी। इस प्रकार संथाल परगने तथा हजारीबाग और राँची के बड़े अंश पर अब उड़ीसा का अधिकार हो गया।

जौनपुर में इब्राहीम शर्की का बेटा महमूदशाह और महमूद के बेटे मुहम्मद शाह (१४५७-५८ ई०) तथा हुसेनशाह कपिलेन्द्र के समकालिक थे। पच्छिम में संभल (आधुनिक रुहेलखण्ड

प्रदेश की राजधानी) और ग्वालियर से लेकर गंगा के दक्खिन भागलपुर तक के प्रदेश पर उनका अधिकार माना जाता था। १४५१ ई० में बहलोल लोदी नामक पठान ने दिल्ली में एक नई सल्तनत स्थापित की। उसका शर्कियों से संघर्ष शुरू हो गया।

इसी समय चम्पारनवाले नये वंश में तीसरी पीढ़ी पर राजा मदनसिंह 'दैत्यनारायण' (१४५३–५७ ई०) हुआ। उसका राज्य गोरखपुर तक था। उसके सिक्के हिमालय की तराई के साथ-साथ तिरहुत से दिल्ली तक मिले हैं, जिससे उसका प्रतापी राजा होना सूचित होता है। हुसेनशाह शर्की ने अपने पूरब के हिन्दू राज्यों के दबाव के कारण बहलोल लोदी से चार वर्ष के लिए संधि कर तिरहुत पर हमला किया और फिर तीन लाख फौज एकत्र कर पूर्वी सीमान्त पर उपस्थित उड़ीसा के खतरे का मुकाबला किया * (१४६५ ई०)।

* कैम्ब्रिज हिस्टरी ऑफ इंडिया, जि० ३, पृ० २५४ पर सर वूल्सी हेग लिखते हैं कि ऐतिहासिक निजामुद्दीन अहमद का कथन है कि महमूदशाह शर्की ने उड़ीसा से युद्ध किया था; पर उन्हें यह बात ठीक नहीं लगती कि "दूर विदेशों में निरर्थक साहस की बेवकूफी" की हो। अगले पृष्ठ पर वे हुसेनशाह शर्की की उड़ीसा-चढ़ाई के विषय में यह कल्पना करते हैं कि वह बंगाल सल्तनत की सरहद के साथ-साथ उड़ीसा गया होगा। ये दोनों कथन उक्त ग्रंथ के सम्पादक के जौनपुर और उड़ीसा राज्यों की सीमाओं के विषय में अज्ञान के कारण हैं। स्वर्गीय राखालदास बन्द्योपाध्याय ने अपने 'बांगलार इतिहास' में दिखाया है कि जौनपुर राज्य भागलपुर तक था। उन्होंने अपने उड़ीसा के इतिहास में दिखाया है कि दामोदर नदी और गंगा के बीच के प्रदेश पर कपिलेन्द्र का दखल हो चुका था।

उड़ीसा से निपटकर १४६६ ई० में हुसेन शर्की ने ग्वालियर पर चढ़ाई की, और नव-स्थापित लोदी-वंश को उखाड़कर दिल्ली पर अधिकार करने का जतन करने लगा। पर बहलोल लोदी ने कई लड़ाइयों में उसे हराकर १४७९ ई० में जौनपुर भी छीन लिया। तब हुसेन बिहार भाग आया। शर्की राज्य तब केवल बिहार (मगध-अंग) में बच गया।

तिरहुत और शर्की राज्यों का अन्त

उधर राजा गणेश के पुत्र जलालुद्दीन के बाद इलियास के वंशजों ने बंगाल का राज्य फिर ले लिया था (१४४२ ई०)। १४८७ ई० में उस वंश का राज्य समाप्त होने के बाद वहाँ वैसी ही अराजकता फैल गई जैसी आठवीं शती में गुप्तवंश का अन्त होने पर फैली थी। अंत में १४९३ ई० में अलाउद्दीन हुसेनशाह ने वहाँ एक नया राज-वंश स्थापित किया। बंगाल पर आधिपत्य जमाने के बाद उसने शर्कियों से भागलपुर-मुंगेर का इलाका (अंग देश) छीन लिया।

उधर बहलोल के बाद सिकन्दर लोदी दिल्ली की गद्दी पर

उनकी पुस्तक के नक्शे में कपिलेन्द्र का अधिकार भागलपुर के पूरब राजमहल तक दिखाया गया है। कपिलेन्द्र के एक सामन्त के एक अभिलेख में दो तुरुष्क सुल्तानों को युद्ध में हराने का उल्लेख है। राखालदास जी ने इनमें से एक को बहमनी सुलतान होना सुझाया है जो ठीक है। पर दूसरे को वे पहचान नहीं सके। श्रीजयचन्द्र विद्यालंकार ने 'इतिहास-प्रवेश' (पृ० २१३) में संकेत किया है कि उक्त अभिलेख में शर्की सुलतान की हार की सूचना है।

बैठा। उसने हुसेनशाह शर्की से बिहार भी छीन लिया (१४९४ ई०)। हुसेन तब भागकर हुसेन बंगाली की शरण में चला गया। सिकन्दर ने बंगाली सुलतान पर चढ़ाई की। अन्त में दोनों में सन्धि होकर पटना से ३७ मील पूरब बाढ़ कस्बे पर दोनों सल्तनतों की सीमा तय हुई। इसके बाद हुसेनशाह बंगाली ने तिरहुत पर हमला कर सारन तक का प्रदेश छीन लिया। तब तिरहुत का हिन्दू राज्य सिर्फ हिमालय की तराई में रह गया।

तिरहुत में हरसिंह के बाद ठाकुर-वंश में क्रमशः राजा नरसिंहदेव उर्फ दर्पनारायण, धीरसिंदेव उर्फ हृदयनारायण, भैरवेन्द्र (रूपनारायण या हरिनारायण), रामभद्रदेव और लक्ष्मीनाथदेव (कंसनारायण) के नाम मिलते हैं। इन राजाओं के समय लिखे या नकल किए गए ग्रन्थों की पुष्पिकाओं में उल्लिखित दो-चार तारीखों के सिवा हमें और कोई राजनीतिक घटना ज्ञात नहीं होती। महाकवि विद्यापति ने शिवसिंह के पूर्वज देवसिंह के समय से आरम्भ कर भैरवेन्द्र के समय तक ग्रन्थरचना की।

मिथिला के पिछले राजा

भैरवेन्द्र के लड़के रामभद्रदेव के समय प्रसिद्ध दार्शनिक वाचस्पति मिश्र हुए, जिनकी लिखी अनेक दर्शन-ग्रन्थों की टीकाएँ आज तक पढ़ी जाती हैं। वेदान्त दर्शन के शंकराचार्य-कृत भाष्य पर उनकी टीका भामती अत्यन्त प्रसिद्ध है। कहते हैं, भामती वाचस्पति मिश्र की स्त्री का नाम था। वे पुत्र न होने

से दु:खी रहती थीं। एक बार अपने पति से इसकी चर्चा आने पर उन्होंने कहा कि पुत्र न होने से उनके पीछे उनका नाम लेनेवाला भी कोई न होगा। वाचस्पति मिश्र ने तब अपने सर्वोत्तम ग्रन्थ का नाम भामती रखकर उनके नाम को सदा के लिए अमर कर दिया। श्रीराहुल सांकृत्यायन के अनुसार शंकराचार्य को उत्तर भारत की पंडित-मंडली में सर्वप्रिय बनाने का श्रेय वाचस्पति मिश्र की इस भामती टीका को ही है। राजा रामभद्र की १४९१ से १५०८ ई० तक की तिथियाँ मिलती हैं। उसके बाद लक्ष्मीनाथदेव के राज्य का १५१० ई० तक होना प्रमाणित होता है।

V

मिथिला के ठाकुरवंशी राजाओं का वंशवृक्ष

निश्चित रूप से प्राप्त तिथियों सहित
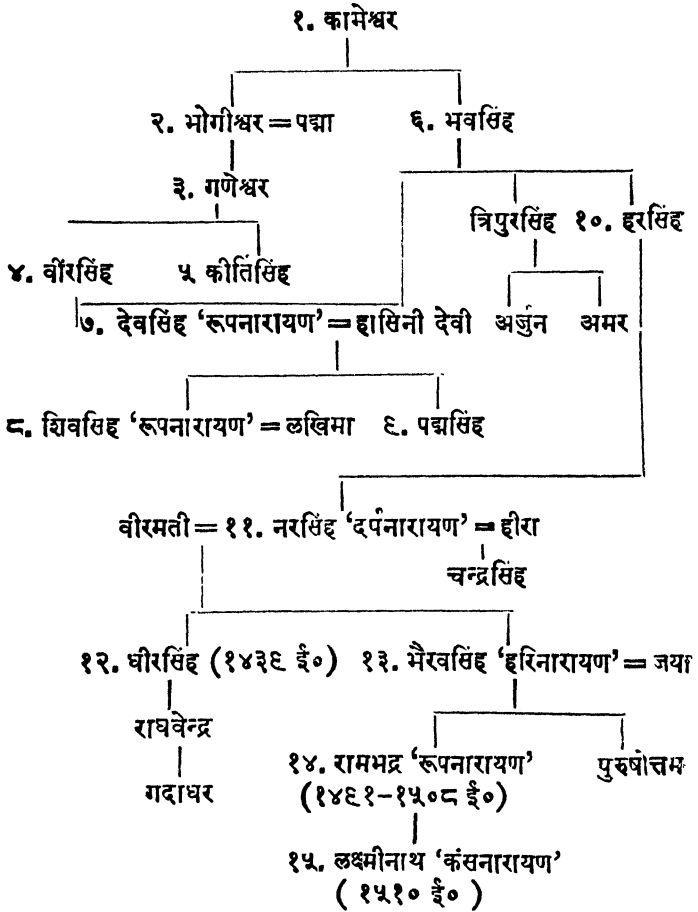
चौदहवाँ अध्याय

पठान-साम्राज्य का उदय और अस्त

[१५१८-१५७६ ई०]

सिकन्दर लोदी का उत्तराधिकारी इब्राहीम लोदी दुरभिमानी और संशयालु प्रकृति का था। उसके दुर्व्यवहार से अनेक पठान सरदार उससे बिगड़ गए। बिहार के शासक दरिया खाँ लोहानी के नेतृत्व में उन्होंने पूरब में विद्रोह किया (१५२१ ई०)। दरिया खाँ के बाद उसका लड़का बहार खाँ लोहानी बिहारशरीफ में पठानों का नेता घोषित किया गया। साम्राज्य के अनेक असंतुष्ट सरदार उससे आ मिले और पच्छिम में गंगा पार सम्भल तक के इलाके पर दखलकर लोहानियों ने इब्राहीम को कुछ महीनों तक कठिन परिस्थिति में डाल दिया। उसी समय हुसेनशाह बंगाली के बेटे नसरतशाह की सेनाओं ने हाजीपुर में छावनी डाली और तिरहुत के बचे हुए हिन्दू राज्य की अन्तिम सफ़ाई कर दी।

बिहार के लोहानी अफगान

इसी समय भारत के उत्तरपच्छिमी सीमान्त पर एक नई

शक्ति प्रकट हो रही थी। इब्राहीम लोदी से असन्तुष्ट होकर

बाबर

उसका एक सम्बन्धी काबुल के तैमूर-वंशी सुल्तान बाबर को बुला लाया। बाबर ने धीरे-धीरे पंजाब जीत लिया। २१ अप्रैल १५२६ ई० को पानीपत पर इब्राहीम लोदी उससे लड़ता हुआ मारा गया।

इब्राहीम लोदी की मृत्यु का समाचार पाकर बहार खाँ लोहानी ने महमूद खाँ नाम धारणकर अपनेको सुल्तान घोषित

मुगलों की तीन पूर्वी चढ़ाइयाँ

किया। तुर्कों की इस नई बाढ़ को रोकने के लिए बिहार के पठान उसके नेतृत्व में कन्नौज के आगे तक बढ़ गए। पर गर्मी की ऋतु में तुर्कों * को आते न देख महमूद खाँ वापस बिहार लौट आया। बाबर के दिल्ली-आगरा दखल करने के बाद पठानों में पारस्परिक फूट प्रकट हुई और दोआब और जौनपुर के बहुत-से पठान सरदारों ने बाबर को अपनी सेवाएँ सौंप दीं। उनकी मदद के भरोसे बाबर ने अपने पुत्र हुमायूँ को उसी चौमासे में एक बड़ी सेना के साथ पूरब भेजा। उसने पाँच महीनों (अगस्त–दिसम्बर, १५२६) में अवध, जौनपुर, और गाजीपुर तक का प्रदेश जीत लिया।

दिल्ली-आगरा लेने के बाद बाबर को, मेवाड़ के राणा साँगा के नेतृत्व में राजपूताने और मालवे के राजपूतों की सम्मिलित

* बाबर और उसके वंशज 'मुगल' कहलाते हैं, पर तैमूर का वंश तुर्कों का था। बाबर की माँ मंगोल थी। तुर्कों और पठानों में बड़ा वैर था।

शक्ति का मुकाबला करना पड़ा। पानीपत की लड़ाई के बाद इब्राहीम का उत्तराधिकारी महमूद लोदी भी साँगा से जा मिला था। १७ मार्च १५२७ ई० को खानवा के तंग मैदान पर राजपूतों की हार हुई। राणा साँगा सिर में एक तीर लगने से बेहोश हो गया था। बाबर की फौज का भी बड़ा संहार हुआ, इसलिए वह जीत के बाद तुरन्त राजपूताना-मालवा पर दखल करने को न बढ़ सका। सन् १५२७ ई० के अन्त में वह मालवा जीतने के लिए निकला, और चन्देरी की तरफ, जो कि साँगा के मुख्य साथी मेदिनीराय का जिला था, बढ़ा। साँगा भी उसे रोकने के लिए बढ़ा; पर रास्ते में कालपी के पास उसके साथियों ने, जो युद्ध से थक गए थे, संघर्ष से बचने के लिए उसे विष दे दिया। बाबर चंदेरी जीतकर (२९-१-१५२८) मालवा के दूसरे किलों को सर करना चाहता था; पर तभी उसे खबर मिली कि पूरबी अफगानों ने विद्रोह कर कन्नौज से मुगल-सेना को निकाल दिया है तथा बंगाल के सुल्तान नसरतशाह ने तिरहुत से आगे बढ़कर आजमगढ़ और बहराइच तक का प्रदेश ले लिया है।

बाबर चंदेरी से सीधा कन्नौज की तरफ लौटा। उसके आने की खबर पा विद्रोही अफगान भाग खड़े हुए। जौनपुर तथा बक्सर तक के इलाके पर बाबर का अधिकार हो गया।

राणा साँगा की मृत्यु के बाद महमूद लोदी पूरब की ओर चला आया था। अतः बाबर के मुँह मोड़ते ही वहाँ फिर विद्रोह सुलगा। लोदी ने लोहानियों से बिहार छीन उसे अपनी

राजधानी बनाया (१५२८ अन्त), तथा बनारस और गाजीपुर से मुगल-सेना को खदेड़ चुनार भी ले लिया। मार्च १५२९ में बाबर फिर पूरब लौटा। विद्रोही लोग तितर-वितर हो गए। लोहानी नेता जलाल खाँ ने एक करोड़ रुपया देकर बिहार की गद्दी पर बैठने की स्वीकृति पाई। उत्तर में बंगाली सेना गंडक के चौबीसों घाट रोके पड़ी थी और गंडक से घाघरा तक भी दखल किए हुए थी। नसरतशाह की सेना में चुस्त बन्दूकची थे। अतः खानवा की तरह बड़ी सावधानी से तैयारी कर बाबर ने उनपर हमला किया और घाघरा को पारकर उनको पूरी तरह हरा दिया (६-५-१५२९)। लेकिन इसके बाद भी एक मास तक मुठभेड़ चलती रही और अन्त में बाबर और नसरत में सन्धि हो गई। इसके अनुसार तिरहुत नसरतशाह के अधिकार में, मगध मुगल-प्रभाव-क्षेत्र में समझा गया। सम्भवतः बाढ़ का कस्बा ही दोनों की सीमा रही। तिरहुत का शासन-केन्द्र इन बंगाली सुल्तानों ने हाजीपुर को बनाया था। वहाँ नसरतशाह ने अपने दामाद मखदूम-ए-आलम को सर-ए-लश्कर नियत किया।

इसी समय बिहार में फरीदुद्दीन उर्फ शेर खाँ नाम के एक प्रतिभावान् व्यक्ति का उदय हुआ। फरीद के पिता हसनखाँ

शेर खाँ का उदय

सूर को सिकन्दर लोदी के जमाने में जौनपुर के शासक जमालखाँ ने शाहाबाद जिले में सहसराम और खवासपुर की जागीर दी थीं, जिसमें मोटे तौर

पर आजकल के शाहाबाद जिले के बरोंग, सहसराम और तिलौथू थाने सम्मिलित थे। फरीद और उसका छोटा भाई निजाम, हसन की पहली अफगान स्त्री से थे; लेकिन उनके पिता ने उसके अतिरिक्त अपनी तीन दासियों से भी निकाह किया था, जिनमें से सबसे छोटी पर वह विशेष अनुरक्त था। फरीद की मा और उसके बेटों से हसन का व्यवहार अच्छा न था। अतः १५ वर्ष की अवस्था में फरीद घर से भागकर जमालखाँ के पास जौनपुर चला गया। वहीं लगभग दस साल तक (१५०१–११ ई०) उसने शिक्षा प्राप्त की और मुल्की इन्तजाम के काम का भी अनुभव प्राप्त किया। अपनी योग्यता और गुणों के कारण फरीद वहाँ सर्वप्रिय हो गया। अपने जाति-बन्धुओं के समझाने पर उसका पिता हसनखाँ जौनपुर में फरीद को मनाने गया। फरीद इस शर्त्त पर घर चलने को राजी हुआ कि जागीर का इन्तजाम विना किसी हस्तक्षेप के पूरे तौर पर उसे सौंप दिया जायगा।

उस समय जागीरों में सैनिक लोग किसान प्रजा पर बहुत जुल्म करते थे। कर-संग्रह करनेवाले मुकद्दम और पटवारी भी किसानों पर जुल्म करने में सैनिकों से दूसरे ही दर्जे पर थे। किसान को भी कर देने के बदले हिफाजत पाने का अख्तियार है, इसका विचार थोड़ों को था। फरीद कृषि को ही सम्पत्ति का मुख्य स्रोत मानता था। उसका कहना था कि यदि राजा कृषकों की रक्षा नहीं कर सकता तो उसे कर लेने का अधिकार

नहीं है। उसने अपनी जागीर के सैनिकों, मुकद्दम-पटवारियों तथा कृषकों को इकट्ठा किया। सैनिकों और मुकद्दम-पटवारियों को चेतावनी देते हुए उसने कहा—"कोई किसानों पर तुर्कों की तरह ज़ुल्म न करे। बोने के समय कृषकों से जो इकरार तुम करो, कर की वसूली के समय उसे मत तोड़ो। यदि मैंने सुना कि तुमने एक पत्ता घास भी कृषकों से अन्याय से लिया है तो मैं ऐसा दंड दूँगा कि याद रक्खोगे।"

किसानों से उसने कहा, नकद या फसल जिस रूप में भी कर देना चाहो, निश्चय कर लो; मैं तुमसे सीधा इकरार करूँगा, न कि मुकद्दमों के द्वारा। कुछ किसानों ने जरीब-पद्धति (जमीन मापकर कर का निश्चय करना) मानी, कुछ ने फसल के बँटवारे को पसन्द किया। फरीद ने उसके अनुसार उनसे स्वीकृति के दस्तखत ले लिये, और खेत मापने और कर-संग्रह करनेवालों का मेहनताना और भत्ता नियत कर दिया। इस प्रकार कृषकों से सीधा सम्बन्ध स्थापित कर मुकद्दमों से उसने स्वयं हिसाब लेना जारी किया और उन्हें आदेश दिया कि माप के समय किसानों से नरमी से बरतें; पर वसूली के समय उन्हें इकरार से टलने न दें।

इस प्रकार आन्तरिक प्रबन्ध की व्यवस्था करने के बाद उसने गाँवों के विद्रोही मुखियों और जमींदारों को दबाने की तरफ ध्यान दिया। फरीद के पास इस काम के लिए सेना न थी। उसने जागीर आदि से रहित पठानों को, खाने आदि का खर्चा

और लूट में हिस्सा देना तय कर तथा वीरता दिखाने पर इनाम का प्रलोभन देकर, जमा किया। किसानों से उसने २०० घोड़े उधार माँगे जो उन्होंने बड़ी खुशी से दिए। यों २०० सवारों की छोटी-सी सेना खड़ी कर उसने विद्रोही मुकद्दमों के गाँवों को सहसा घेर लिया। उनके पशु, स्त्रियाँ, बच्चे आदि पकड़कर उसने अपने संरक्षण में कर लिये ताकि सैनिक उन्हें सता न पावें। मुकद्दमों ने उसकी अधीनता मानी और जमानतें दे दीं।

परन्तु जमींदारों को दबाना उतना आसान न था। वे लोग प्रायः पुराने जमाने के शासक थे, जिन्हें पुराने राजाओं ने कर की वसूली और स्थानीय व्यवस्था रखने के लिए नियुक्त किया था। परन्तु पिछले राजपरिवर्त्तनों के समय फैली अव्यवस्था से लाभ उठाकर उन भू-प्रदेशों के वे मालिक बन बैठे थे, और विना तलवार का जोर आजमाए किसी को कर न देते थे। नए राज्यों द्वारा नियुक्त जागीरदार यदि समर्थ हुए तो उन्हें वे थोड़ा-बहुत खिराज दे देते, पर अपनी सीमा के भीतर, जहाँ जंगलों और पहाड़ों से घिरे उनके अभेद्य गढ़ और कोटले बने थे, वे सर्वेसर्वा थे। इन जमींदारों या स्वतंत्र सरदारों को दबाने के लिए शेर ने पठान सवारों के अतिरिक्त अपने भोजपुरी किसानों की पैदल-स्वयंसेवक सेना खड़ी की। उन्हें उसने आज्ञा दी कि घोड़ा हो तो घोड़ा लेकर, नहीं तो पैदल ही आएँ। उन स्वयं-सेवकों में से आधों को खेती आदि के काम पर छोड़, बाकी को उसने अपने साथ लिया। विद्रोही जमींदारों के स्थान से कोस-

भर दूर पहुँच वह मिट्टी के मोर्चे (किला-ए-खाम) खड़े कर अपने डेरे लगा देता। तब पैदल सिपाहियों से जंगल कटवा, सवारों को आज्ञा देता कि विद्रोहियों को घेरकर त्रस्त करें। जंगल साफ होने पर गाँवों के पास वह फिर वैसे ही मोर्चे खड़े कर उन्हें अच्छी तरह से घेर लेता। विद्रोहियों ने अपनी सदा की नीति के अनुसार अधीनता मान और कर देकर छुटकारा पाना चाहा। पर फरीद ने गढ़ दखल कर विद्रोहियों को मार उनके गढ़ और गाँव उजाड़ डाले, और दूसरे लोगों को लाकर वहाँ बसाया।

फरीद न्याय करने के लिए कठोरता-पूर्वक सदा उद्यत रहता। इन बातों से उसकी जागीर के परगनों की समृद्धि बढ़ी तथा किसान और सैनिक संतुष्ट और खुशहाल हो गए। फरीद की प्रसिद्धि सारे बिहार में फैल गई।

परन्तु अपनी सौतेली मा की डाह के कारण १५१९ ई० में फरीद को फिर अपनी जागीर से निकल नौकरी की तलाश में कुछ दिन के लिए बाहर भटकना पड़ा। वह आगरा चला गया। वहाँ से अपने पिता की मृत्यु के बाद सुल्तान इब्राहीम लोदी से जागीर पर अपनी नियुक्ति का शाही फरमान लेकर वह सहसराम वापस आया (१५२० ई०)।

इसी समय बिहार में लोहानियों ने इब्राहीम लोदी के विरुद्ध विद्रोह किया। तब फरीद इब्राहीम के फरमान को निरर्थक जान बहार खाँ लोहानी की सेवा में चला गया। बहार

ने उसे अपना मंत्री और अपने लड़के जलाल का शिक्षक नियत किया। एक शेर को मारने पर उसे शेरखाँ का नाम दिया गया। उसे पहले-पहल वहीं अपनी शासन-नीति को परखने का अवसर मिला, और उसने बिहार के सारे इलाके में वे सुधार किए जो पहले अपनी जागीर में किए थे। १५२६ ई० में इब्राहीम के पतन के बाद जब बहारखाँ सुल्तान मुहम्मद बन कन्नौज के आगे तक तुर्कों का मुकाबला करने बढ़ा, तब भी शेर उसके साथ था। इसके बाद वह जब अपनी जागीर में था तब उसके प्रतिद्वन्द्वियों के भड़काने पर सुल्तान ने उसपर फौज भेज उसे जागीर से बेदखल कर दिया। शेरखाँ इसपर जौनपुर-बनारस के मुगल शासक की शरण चला गया। खानवा-युद्ध के बाद जौनपुर का शासक उसे बाबर के पास आगरा ले गया। करीब सवा साल वह बाबर के साथ शिविर में रहा और मुगलों की रीति-नीति का अध्ययन करता रहा। १५२८ वाली बाबर की पहली पूरब-चढ़ाई के समय मुगलों की सहायता से उसने अपनी जागीर वापस पाई तथा और भी कई परगने उसे मिले।

बाबर के साथ रहकर तुर्कों के गुण-दोष उसने पहचान लिये थे और उसे निश्चय हो गया था कि उन नए विदेशियों को आसानी से निकाला जा सकता है। तदनुसार उसने अपने भावी कार्य-क्रम की दिशा निश्चित कर ली, ऐसा प्रतीत होता है। इसलिए बाबर के लौटने के बाद शेरखाँ ने अफगानों को समझाया

और मनाया। इसी समय महमूद लोदी राजस्थान से भागकर बिहार आया। उसने अवध के अफगानों से मिल मुहम्मद लोहानी के बेटे जलाल से बिहार छीन लिया। अवध और बिहार मुगलों के विद्रोहियों के अड्डे हो गए। शेरखाँ को लोदियों के नेतृत्व में विश्वास न था; पर उसे मजबूरन उसका साथ देना पड़ा।

१५२९ ई० में महमूद लोदी के भाग जाने के बाद जब जलालखाँ ने बिहार की गद्दी वापस पाई, तब उसने अपने बाप के भूतपूर्व मंत्री और अपने शिक्षक शेरखाँ सूर को अपना मंत्री बनाया। शेर की महत्त्वाकांक्षा अब जाग चुकी थी। सन् १५३० के सितम्बर के करीब हुमायूँ और बाबर की बीमारी के समय उसने चुनार पर दखल कर लिया। उसी साल दिसम्बर के अन्त में बाबर का देहान्त हुआ।

पूरब में अफगानों ने फिर विद्रोह मचाया; पर शेर तटस्थ रहा। जून १५३१ ई० में हुमायूँ विद्रोह को दबाने आया। विद्रोह कुचल देने के बाद उसने चुनार को घेरा। शेरखाँ ने चार महीने जमकर मुकाबला किया। अन्त में उसे हुमायूँ की अधीनता माननी और अपने एक लड़के कुतुब खाँ को ओल देना पड़ा; पर इस मुकाबला करने से पठानों में उसकी थोड़ी-बहुत धाक बैठ गई, और छोटे-मोटे अनेक विद्रोहियों ने उसकी शरण ली।

जलालखाँ लोहानी के अधीन बिहार का नायब रहकर शेर खाँ ने प्रजा को भलाई और सुप्रबन्ध के लिए किसानों से सीधा

सम्बन्ध स्थापित करने की अपनी पूर्व-परीक्षित नीति जारी की। इससे जागीरदारों की स्वच्छन्दता में वाधा पड़ी, और बड़े-बड़े लोहानी सरदार उसके विरोधी हो गए। पर कृषक प्रजा, साधारण सैनिक और कम हैसियत के लोग उसपर अत्यन्त अनुरक्त थे। तिरहुत में नसरतशाह की तरफ से नियुक्त हाजीपुर के सर-ए-लश्कर मखदूम-ए-आलम से भी शेरखाँ ने दोस्ती गाँठी। बंगाल में नसरत के घर में फूट थी, इससे मखदूम भी नसरत के बाद पैदा होनेवाली स्थिति के लिए पहले से तैयार हो रहा था।

सन् १५३२ के अन्त में नसरत की मृत्यु हुई, और उसके लड़के को मार उसका भाई महमूदशाह गद्दी पर बैठा। हाजीपुर के सर-ए-लश्कर मखदूम-ए-आलम ने शेरखाँ से मैत्री कर उसका अधिकार मानने से इनकार कर दिया। तब महमूद ने मुंगेर के नाजिम कुतुब खाँ को उन दोनों के खिलाफ भेजा। शेरखाँ ने कुतुब खाँ को गोरिल्ला-युद्ध में हराकर मार डाला और अपने राज्य की सीमा किऊल तक वढ़ा ली। महमूद ने मखदूम के दमन को तिरहुत पर फिर फौज भेजी। शेरखाँ ने मखदूम को मदद भेजी; पर उसी समय लोहानियों के, जो उसके सुधारों से चिढ़े हुए थे और उसकी बढ़ती हुई शक्ति से शंकित हो उठे थे, उत्कट विरोध के कारण वह स्वयं उसकी मदद को न जा सका। मखदूम मारा गया। उसका धन सब शेरखाँ को मिला।

शेरखाँ के विरोधी लोहानी सरदारों ने जलालखाँ को

भड़काया कि शेरखाँ ने किस तरह अपनी एक फौज बना ली है, और अपने निजी फायदे के लिए बंगाल के शक्तिशाली सुल्तान से लड़ाई मोल लेकर सल्तनत को खतरे में डाल रहा है। उन्होंने कहा कि वह भीतर-ही-भीतर मुगलों से मिला है। बंगाली को विशाल सेना के सामने हमारी जीत कभी हो नहीं सकती; अब तक हम मुगलों के सामन्त हैं, क्यों न हम बंगाल के सुल्तान के सामन्त वन जायँ और अपना मुल्क उसे सौंपकर उससे जागीर-रूप में प्राप्त करें तथा शेरखाँ से छुट्टी पावें। जलाल खाँ लोहानी सरदारों के बहकाने में आ गया। वह भी अपने प्रबल मन्त्री के नियन्त्रण से छुटना चाहता था। उसने बंगाल पर चढ़ाई करने का बहाना किया, और शेरखाँ को मुल्क का इन्तजाम देखने और मुगलों की रोक-थाम के लिए पीछे रहने को कह अपने लोहानी सरदारों समेत महमूदशाह की शरण में भाग गया (सितम्बर १५३३ ई०)।

शेर, बिहार का वेताज सुल्तान

यह समाचार पा शेरखाँ ने अपनी सारी शक्ति सैन्य-संग्रह में लगा दी। जहाँ-कहीं से थोड़े-बहुत अफगान सवारों और किसानों की पैदल सेना बटोर उसने बंगाल की तरफ प्रस्थान किया। महमूद ने कुतुब खाँ के वेटे इब्राहीम के नेतृत्व में हाथियों और तोपखानों समेत एक बड़ी सेना शेर के खिलाफ भेजी। शेर के लिए अपने थोड़े-से पैदल और सवारों के साथ खुले मैदान में उस सेना का मुकाबला करना असम्भव था।

उसने खड़गपुर की पहाड़ियों और गंगा के बीच की तंग घाटी के पच्छिमी छोर पर सूरजगढ़ के पास मिट्टी की मोर्चाबन्दी (किला-ए-खाम) खड़ी कर दुश्मन का रास्ता छेंका। इब्राहीम ने नई कुमुक और जहाजी बेड़ा मँगाया, जिसकी मदद से वह गंगा के रास्ते या खड़गपुर की पहाड़ियों का चक्कर लगाकर शेर के पीछे पहुँच सके। शेरखाँ ने देखा कि कुमुक पहुँचने से पहले इब्राहीम से निबट लेना आवश्यक है। उसने अपने पैदल बन्दूकचियों और अधिकांश सवारों को पहाड़ों के पीछे छिपा थोड़े-से सवारों से दुश्मन पर हमला किया और एकाएक हारने का बहाना कर पीछे भागा। शत्रु-सेना अपनी तोपें छोड़ उसका पीछा करती हुई आगे बढ़ी कि छिपे हुए पदाति और सवार उनपर टूट पड़े और बंगाली सेना का पूरा पराभव हुआ (लग० मार्च १५३४ ई०)।

इस विजय के बाद शेरखाँ बिहार (मगध) का बेताज सुल्तान हो गया। उसने चुनार से सूरजगढ़ तक के प्रदेश पर इन्तजाम को पक्का करने की तरफ ध्यान दिया। किसानों की भलाई पर उसका हमेशा से ध्यान था। निश्चित समय पर नियम से वेतन पाने और दो-दो युद्धों में विजयी होने से सेना उससे बहुत खुश थी। वह न खुद किसी पर जुल्म करता और न किसी को करने देता था। इस प्रकार एक अच्छे शासक और सेनानायक के रूप में उसकी प्रसिद्धि दूर-दूर तक फैल गई। इसपर भी वह सुल्तान बनने के प्रलोभन में नहीं

पड़ा और किसी तरह का राजसी ठाट दिखाने से सावधानी से बचता रहा। अपने देश में वह हुमायूँ के नाम का खुतबा पढ़वाकर अपनेको मुगल-बादशाह का सामन्त ही प्रकट करता रहा; पर वह भावी संघर्ष के लिए सैनिक तैयारी भी कर रहा था। उसकी सेना अबतक मुख्यतः अफगान सवारों की थी। पर अब उसने भोजपुरी किसानों को सुसज्जित कर एक पैदल बन्दूकची सेना भी तैयार कर ली।

शेरखाँ का लड़का कुतुब खाँ अबतक हुमायूँ के पास ओल था। हुमायूँ का ध्यान तब मालवा पर लगा था जहाँ गुजरात के बहादुरशाह का बल बढ़ता जा रहा था। १५३५ ई० में हुमायूँ और बहादुर में छिड़ गई। शेरखाँ ने इस मौके का लाभ उठाने का निश्चय किया।

शेर खाँ का बंगाल-तिरहुत जीतना

उसके इशारे से कुतुब खाँ आगरे से खसक आया। तब शेर ने सूरजगढ़ के पूरब बंगाली सल्तनत के प्रदेशों को जीतना और साथ-साथ बन्दोबस्त करते हुए अपने राज्य में मिलाना शुरू किया। इस प्रकार उसने भागलपुर तक का प्रदेश दखल कर लिया। उधर हुमायूँ के सामने से भागकर बहादुरशाह पुर्तगालियों की शरण चला गया। तब शेरखाँ हुमायूँ की गति-विधि देखने के लिए चुप हो गया। पर इसके बाद भी हुमायूँ बहादुर का पीछा करने में व्यस्त रहा। उसे लौटता न देख १५३६ में शेरखाँ ने गौड़ पर चढ़ाई की। तेलियागढ़ी पर बंगाली सेना ने उसका रास्ता छेंका। वहाँ अपने लड़के जलालखाँ को बंगाली

फौज के मुकाबले को छोड़, शेरखाँ पहाड़ों का चक्कर काट दुमका के रास्ते सीधा गौड़ पर जा टूटा। महमूद इसपर हक्का-बक्का रह गया। गौड़ का किला काफी मजबूत था। महमूद में दम होता तो मजे में ४–५ महीने शेर का मुकाबला कर सकता था। और तब, बरसात के शुरू में शेर को लौटना पड़ता; परन्तु उसने १३ लाख अशर्फियाँ देकर सन्धि कर ली। उन अशर्फियों से वह फौज खड़ी हुई जिसने अगले साल महमूद का राज्य उससे छीन लिया।

सन् १५३६ में हुमायूँ के आगरा लौटने की खबर सुन शेर फिर चुप हो गया। परन्तु हुमायूँ का ध्यान तब भी गुजरात पर लगा था, जिसे बहादुरशाह ने हुमायूँ के लौटते ही पुर्तगालियों की मदद से वापस ले लिया था। बहादुर ने पुर्तगालियों को इस मदद के बदले में बम्बई से बलसाड़ तक कोंकण के तट का फीता दे दिया था; पर अब वह उसे वापस लेने का इरादा करने लगा और इसके लिए उसने दक्खिन के दूसरे सुलतानों से चुपके-चुपके मदद माँगी। पुर्तगाली वाइसराय ने यह खबर पाने पर उसे दीव में निमन्त्रित किया। जब वह लौट रहा था तब उसकी नाव समुद्र में डूब गई (मार्च १५३७ ई०)।

इधर महमूदशाह भी १५३५ से ही पुर्तगालियों * से साँठ-गाँठ जोड़ रहा था; पर गुजरात में फँसे रहने के कारण वे उसकी

* पुर्तगाली लोग पूरब में पहले-पहल १५३३ ई० में चटगाँव में आए थे।

विशेष मदद न कर सकते थे। अब खबर आई कि १५३७ में गुजरात से निबटने के बाद ३८ ई० में मदद भेजी जायगी। शेर के लिए यह आवश्यक हो गया कि इस मदद के पहुँचने से पहले ही वह अपने शिकार से निबट ले। अक्तूबर १५३७ में उसने एक बड़ी सेना के साथ चढ़ाई कर गौड़ को घेर लिया और अपनी सेना की टुकड़ियाँ भेज चम्पारन से चटगाँव तक तिरहुत और बंगाल के प्रत्येक जिले को दखल करने की कोशिश की।

हुमायूँ की बंगाल-चढ़ाई

उसी दशा में शेरखाँ को हुमायूँ का उसके खिलाफ चढ़ाई करने का समाचार मिला (दिसम्बर १५३७ ई०)। गौड़ के घेरे का भार अपने विश्वस्त सेनापतियों पर छोड़ वह चुनार आया और किले में रसद आदि जुटा तथा अपने परिवार को वहाँ से हटाकर, मुगलों को यथासम्भव वहीं व्यस्त रखने की व्यवस्था करके, परिवार के साथ ५० मील दक्खिन-पूरब बहरकुंडा के पहाड़ी इलाके में हुमायूँ की गति-विधि देखने को हट गया। सहसराम के दक्खिन रोहतास के पहाड़ी गढ़ में तब एक हिन्दू राजा का अधिकार था। शेर ने अपने परिवार के लिए किले में आश्रय माँगा और डोलियों में सिपाही भीतर ले जाकर किले पर दखल कर लिया। इसके बाद झारखण्ड के राजा को हराकर बिहार के दक्खिन के सारे पहाड़ी प्रदेश पर उसने अधिकार कर लिया। इस पहाड़ी इलाके में शेरखाँ ने अपना वह आधार बना लिया,

जहाँ से निकलकर वह हुमायूँ के साम्राज्य पर चोट कर सकता और जहाँ वह मुसीबत के वक्त शरण ले सकता था।

हुमायूँ शेर के इच्छानुकूल चुनार सर करने में लग गया (९ जनवरी १५३८ ई०)। उसके हिन्दुस्तानी सरदारों ने चुनार पर थोड़ी सेना छोड़कर गौड़ को बचाने के लिए मुख्य सेना के साथ सीधे आगे बढ़ने की सलाह दी थी। पर उसके मुगल सरदारों ने, जो देश से अपरिचित थे, चुनार लिये विना आगे बढ़ने की हिम्मत न की। उनके कहने में आकर हुमायूँ शेरखाँ के उस फन्दे में फँस गया। इस बीच शेरखाँ के सेनापतियों ने गौड़ को जीत लिया (६ अप्रैल १५३८ ई०)। उसके एक महीना बाद चुनार मुगलों के हाथ आया। गौड़ के पतन के बाद महमूदशाह हाजीपुर भाग आया, और हुमायूँ से आ मिला। हुमायूँ अब गौड़ की तरफ बढ़ा। शेरखाँ उसके आगे-आगे दौड़ता हुआ गौड़ पहुँचा। तेलियागढ़ी पर अपने लड़के जलालखाँ को कुछ सेना के साथ मुगलों को रोकने के लिए छोड़, जून के अन्त तक वह गौड़ जा पहुँचा और गौड़ का खजाना ले, वहाँ के महलों को हुमायूँ के आराम के लिए सजा छोड़कर, खड़गपुर की पहाड़ियों के दक्खिन-दक्खिन झारखण्ड के रास्ते रोहतास की तरफ रवाना हो गया। जलालखाँ को आदेश था कि शेरखाँ जब गौड़ से शेरपुर (तेलियागढ़ी से १२० मील दक्खिन, जिला वीरभूमि में) पहुँच जाय, तब गढ़ी को छोड़कर वह भी झारखण्ड में आ जाय। उसने वैसा ही किया।

यों शेरखाँ ने अपनी सारी सेना झारखण्ड में समेट ली। "बिहार-बंगाल दोनों अब हुमायूँ के हाथ में थे, और शेर झारखण्ड में जा छिपा था" (इ० प्र०, ३३३) ।

गौड़ लेकर हुमायूँ आराम करने लग गया। उधर बरसात भर झारखण्ड का रास्ता तय कर सितम्बर में शेरखाँ रोहतास पहुँचा। उसी जाड़े में उसने पहाड़ों से निकलकर समूचे बिहार और अवध पर कब्जा कर लिया। मुगल फौजदार किलों में उसका मुकाबला करते रहे। उनपर घेरे डाल दिए गए और शेरखाँ के सैनिकों ने प्रजा को सताने या लूटने के बजाय सारे प्रदेश में मालगुजारी की दो किश्तें समय पर वसूल लीं। हुमायूँ का दिल्ली-आगरा से सम्बन्ध कट गया और वहाँ भी शेर के आक्रमण का खतरा हो गया। तब हुमायूँ गौड़ से लौटा। शेर ने कर्मनाशा नदी पर बक्सर के पास चौसा गाँव में उसका रास्ता छेंका। हुमायूँ ने सन्धि की चर्चा चलाई। शेरखाँ का चरित्र इस समय की एक घटना से प्रकट होता है। हुमायूँ का दूत जब संधि का प्रस्ताव लेकर उसके डेरे पर आया तब वह फावड़ा हाथ में लिये अपने साधारण सिपाहियों के साथ खंदक खोदने में व्यस्त था। उसी अवस्था में जमीन पर बैठकर उसने हुमायूँ के दूत से बातचीत की। संधि की बात पर उसने कुछ गोलमटोल जवाब दिया और एक दिन बड़े सवेरे ही जब मुगल-सेना गाफिल थी, नदी पार कर वह उसपर जा टूटा (२७ जून १५३९ ई०)। समूची सेना

गौड़ की गद्दी पर शेरशाह

काटी गई और हुमायूँ बड़ी मुश्किल से एक भिश्ती की सहायता से गंगा पारकर अपनी जान बचा पाया। बंगाल, बिहार, जौनपुर और अवध पूरी तरह शेरखाँ के अधिकार में आ गए। तब ५३ वर्ष की अवस्था में वह शेरशाह के नाम से गौड़ की गद्दी पर बैठा (दिसम्बर १५३९ ई०)।

बंगाल-बिहार का इन्तजाम करने के बाद शेरशाह ने मुगलों को हिन्दुस्तान से निकाल देने की ठानी। फरवरी १५४० में उसने अपने लड़के कुतुब खाँ को एक टुकड़ी सेना के साथ कालपी के रास्ते इस उद्देश्य से मालवा भेजा कि वहाँ के पुराने शासकों का मुगलों के विरुद्ध सहयोग प्राप्त करे और स्वयं कन्नौज की तरफ बढ़ा। पर मालवे में कुतुब खाँ को कोई सहयोग न मिला और वह चन्देरी से वापस लौटता था, जब एक मुगल दस्ते ने आगरे से बढ़कर उसे हराकर मार डाला। हुमायूँ एक भारी सेना के साथ शेर के मुकाबले को आया। कन्नौज के सामने गंगा के उस पार बिलग्राम पर शेरशाह ने उसे रोका। मुगलों ने अपनी रीति के अनुसार जंजीरों से कसी तोपों की पाँत सेना के आगे बीचोबीच जमानी चाही। पानीपत, खानवा और घाघरा की लड़ाइयों में यह चाल परखी जा चुकी थी, और बाबर की उस आग की दीवार पर गिरकर पठान और राजपूत योद्धा पतंगों की तरह भुन गए थे। मुगलों का वह नया हथियार तब भारत में अजेय माना जाता था। शेरशाह ने

शेरशाह, उत्तर भारत का सम्राट्

अपनी सूझ से उसे खिलौना बना दिया। उसने अपनी फौज को दो भागों में बाँटा, और इससे पहले कि मुगल अपनी तोपों को जमाकर रखने पायँ, उनके दोनों बाजुओं पर जोरों से हमला किया और उन्हें तोड़कर चन्दावल समेत समूची मुगल-सेना को केन्द्र की तरफ ठेल दिया। तब वह भागती हुई भीड़ तोपों की जंजीरों पर जा पड़ी और उसकी पाँत को तोड़ आगे निकल गई। "मुगलों की डरावनी तोपों को एक भी गोला फेंकने का अवसर न मिला। अफगानों के हमले के पहले वे जमने भी न पाई थीं और अब उनके सामने अपनी ही सेना के भगोड़े थे !" (इ० प्र०, ३३४)।

हुमायूँ जान बचाकर आगरे की तरफ भागा (१७-५-१५४०)। शेरशाह ने अपने एक सेनापति ब्रह्मादित्य गौड को उसका पीछा करने भेजा और स्वयं विजित प्रदेशों का बन्दोबस्त करता हुआ उसके पीछे-पीछे आगरे की तरफ बढ़ा। उसने मुगलों का पीछा कर पंजाब से भी उन्हें खदेड़ दिया। अक्तूबर १५४० में लाहौर भी उसके अधिकार में आ गया। तब वह मुगलों को खदेड़ता हुआ खुशाब (जिला शाहपुर में जेहलम के दक्खिनी तट पर) तक स्वयं उनके पीछे-पीछे गया। वीर गक्खड़ों के उस देश में उसने एक दूसरे रोहतास की नींव डाली। यह काम उसने टोडरमल खत्री को सौंपा, जिसे उसने लाहौर में अपनी सेवा में लिया था। हुमायूँ सिन्ध की ओर भागा और उसके भाई काम-रान ने पंजाब से काबुल की राह ली।

मार्च १५४१ में बंगाल के शासक खिज्र खाँ ने विद्रोह किया। तब पंजाब से एकाएक लौटकर शेरशाह ने बंगाल की नए सिरे से व्यवस्था की। मुंगेर-भागलपुर का प्रदेश बहुत दिनों से बंगाल में सम्मिलित चला आता था। इस प्रसंग में वह बंगाल से अलग किया गया। १५४२ के अंत में अंग और तिरहुत भी बिहार में मिला दिए गए, और तब से बिहार शब्द का वह अर्थ हुआ जिस अर्थ में आज हम उसे बरतते हैं। बिहारशरीफ की जगह पटना में नया किला बनाकर वह बिहार की राजधानी बनाया गया (१५४३ ई०)। इधर इस बीच मुल्तान, सिन्ध और मालवा भी जीते जा चुके थे। शेरशाह के साम्राज्य में जो प्रदेश आते, उनमें छः मास के भीतर उसकी शासनपद्धति जारी हो जाती थी। उसकी शासनपद्धति की एक मुख्य बात थी—उच्छृङ्खल स्थानीय जागीरदारों को काबू कर राज्य की शक्ति को केन्द्रित करना। जागीरदार लोग वास्तव में स्थानीय शासक थे; पर एक ही इलाके में देर तक—अनेक बार वंशपरम्परा से—बने रहने से वे अपने-अपने इलाकों के मालिक बन बैठे थे। शेरशाह की नीति थी कि उनकी एक जगह से दूसरी जगह जल्दी-जल्दी बदली की जाय, जिससे वे इलाकों के मालिक न बनने पायँ। मालवा जीतने पर उसने वहाँ के कई पठान और राजपूत सरदारों के साथ वैसा ही किया। रायसेन के राय पूरनमल को शेरशाह ने बनारस बदलने का आदेश दिया। पूरनमल ने इसपर विद्रोह किया। मालवा के

दूसरे सरदारों ने भी उसी तरह विद्रोह किया। तब १५४३ ई० में शेरशाह ने रायसेन का किला घेर लिया और पूरनमल तथा अन्य सरदारों की शक्ति वहाँ पूरी तरह तोड़ दी।

राजपूताने में राणा-साँगा के बाद मारवाड़ का राव मालदेव समूचे पच्छिमी मंडल में सबसे प्रबल हो गया था। वह हुमायूँ को फिर बुलाने का षड्यन्त्र भी कर रहा था। सिन्ध और मालवा को काबू करने के बाद शेरशाह ने मालदेव पर चढ़ाई की। मारवाड़ की उस चढ़ाई (१५४४ ई०) में शेरशाह को बड़ी कठिनाई का सामना करना पड़ा। थोड़े-से राजपूतों की वीरता देखकर उसके मुँह से अनायास निकला "मैं मुट्ठी-भर बाजरे के लिए हिन्दुस्तान की सल्तनत खोने लगा था।" तो भी शेरशाह ने मारवाड़ और मेवाड़ दोनों जीत लिये।

राजपूताने को जीतने से सिन्ध से मालवा तक शेरशाह का अविच्छिन्न अधिकार हो गया। अब उसने बुन्देलखंड जीतकर मालवा को झारखंड से मिला देने का इरादा किया। इसके लिए उसने कालंजर पर चढ़ाई की। वह किला घेरकर उसने अपने सेनापतियों को रीवाँ पर अधिकार करने भेजा। सात माह के घेरे के बाद एक दिन बारूद में आग लग जाने से शेरशाह की देह झुलस गई। वह उस दशा में भी अपनी सेना को उत्साहित और संचालित करता रहा। साँझ को किला फतह होने के बाद उसने प्राण छोड़े।

शेरशाह एक कुशल सेनापति और चतुर राजनीतिज्ञ होने

के अतिरिक्त सफल व्यवस्थापक और विधान-निर्माता भी था।

शेरशाह की शासन-व्यवस्था

हिन्दुस्तान का बादशाह बन वह सिर्फ पाँच वर्ष ही राज्य कर सका। पर इतने ही समय में उसने समूचे उत्तर भारत को विदेशी तुर्कों से स्वतंत्र कर दिया तथा राजपूताना, मालवा और बुन्देलखण्ड के प्रमुख भाग को जीतकर एक सुदृढ साम्राज्य खड़ा कर दिया। इसके साथ-ही-साथ उसने अपने साम्राज्य में पुरानी जीर्ण-शीर्ण शासन-व्यवस्था को हटाकर एक नई शासन-योजना खड़ी की।

तुर्क विजेताओं ने जैसे पुराने हिन्दू-मन्दिरों, स्तूपों और विहारों के शिखर उतार उन्हें अपनी मस्जिदों और मकतबों का रूप दे दिया था, वैसे ही देश के पुराने शासन के ढाँचे पर नए तुर्क जागीरदारों को स्थापित कर उन्होंने शासन का भी काम चलाया था। पर, इन जागीरदारों के बोझ के नीचे ग्रामों के पुराने पंचायती शासन की दीवारें जगह-जगह धसकने लगी थीं। शेरशाह ने इस पद्धति में जड़ से सुधार करना आरंभ किया।

उसकी नई योजना की नींव मध्यकालीन हिन्दू-शासन की इकाई—प्रतिजागरणक, परिगणक या परगना थी। परगनों के नीचे पुरानी ग्राम-पंचायतें थीं। पर गाँवों के चौधरी प्रजा को सताने न पावें, इसके लिए उसने उनपर कड़ी निगरानी कर दी। उसने आन्तरिक शान्ति के लिए समूचे गाँव को जिम्मेदार बनाकर

गाँवों को सचेष्ट बनाने और शासन में उनकी सक्रिय सहायता पाने का उद्योग किया। प्रत्येक परगने में अमन-कानून की रक्षा के लिए एक शिकदार और वसूली तथा दीवानी मामलों के लिए एक अमीन नियुक्त किया। बहुत-से परगनों से मिलकर एक 'सरकार' (जिला) बनती थी, जहाँ पाँच हजार तक सेना के साथ एक शिकदार-ए-शिकदारान और मुन्सिफे-मुन्सिफान रहता था। इस प्रधान मुन्सिफ का काम सिर्फ दीवानी मामलों को देखना था—मालगुजारी की वसूली से उसका कोई सरोकार न था। उस बात में परगने के अमीन का सीधा सम्बन्ध बादशाह से था। बहुत-सी सरकारों के शासन का निरीक्षण फिर सूबों के मुख्य अमीन के अधीन था। परगनों और सरकारों के शासक हर तीसरे साल बदल जाते थे।

शेरशाह की शासन-नीति की सबसे बड़ी विशेषता उसकी मालगुजारी की व्यवस्था और सैनिक संगठन में थी। उससे पहले सल्तनत को जागीरदारों में बाँट दिया जाता था। जागीरदार लोग वस्तुतः अपने-अपने इलाके के कर उगाहनेवाले तथा प्रबन्ध करनेवाले राजकर्मचारी थे। वसूले हुए कर के द्वारा अपने-अपने इलाके में सेना रखने का काम उन्हें सौंप दिया जाता था। इस प्रकार सुलतान की शक्ति इन जागीरदारों पर ही निर्भर हो जाती, जो केन्द्रीय शक्ति के जरा कमजोर पड़ते ही विद्रोह करने को तैयार हो जाते थे। राजधानी के नजदीक कुछ उपजाऊ जमीन सुल्तान की 'खालसा' होती थी,

जिसकी आमदनी के सहारे सुलतान की खास सेना तैयार होती थी। सरदारों के विद्रोह करने पर या तो उस सेना के द्वारा या राजभक्त सरदारों के सहयोग से ही उन्हें दबाया जा सकता था। जागीरदारों पर कर की रकम भी प्रायः अनुमान से ही स्थिर की जाती थी। शेरशाह ने अब सैनिकों को वेतन सीधा बादशाह की तरफ से देना शुरू किया, और जमीन की पैमाइश कर 'कर' की दरें सीधी किसानों से निश्चित की। सीमा के प्रान्तों के सिवा उसने कर की वसूली और सेना-संचालन के काम पृथक्-पृथक् कर्मचारियों के हाथ में दिए, और कर वसूलने या शासन करनेवाले फिर किसानों की जमीन के मालिक न बन बैठें, इसलिए वह उनकी बराबर बदली करता रहता था। जो पुराने राजकर्मचारी जागीरदार बन बैठे थे, उनकी भी उसने इसी ढंग से बदली जारी की। उस समय तक लोग इस बात को भूले न थे कि जागीरदार वास्तव में राजकर्मचारी थे जो वसूली और शासन करते-करते मालिक बन बैठे थे। परन्तु एक जमाने से जमी हुई इस अव्यवस्था को दूर करने के लिए शेरशाह के शिकदारों को पुराने जमींदारों और जागीरदारों का दृढता से दमन करना पड़ा और जहाँ-तहाँ उनके कोटले ढाने पड़े।

शेरशाह ने मालगुजारी की वसूली और व्यापार की सुविधा के लिए मुद्रा-पद्धति में भी सुधार किया। पुराने मिश्रित धातु और पेचीदा गणना के सिक्कों की जगह उसने अब सोने, चाँदी और ताँबे के मूल्यों का ठीक अनुपात स्थिर कर जगह-जगह

टकसालें खुलवाईं। कर की अदायगी मुद्रा में या जिन्स में चाहे जैसे हो सकती थी। साम्राज्य में सैनिक और व्यापारिक सुविधा तथा यात्रियों के आने-जाने के लिए उसने जगह-जगह सड़कें निकलवाईं और यात्रियों के ठहरने के लिए सरायें बनवा उनमें हिन्दू-मुसलमानों के खाने-पीने का पृथक्-पृथक् इन्तजाम कराया। साम्राज्य के हर हिस्से से खबरें पाने को उसने थोड़ी-थोड़ी दूर पर घुड़सवार तैनात कर डाक का इन्तजाम किया। हर जगह रास्तों और घाटों पर लगनेवाली चुंगियों को उठाकर उसने सिर्फ सीमान्तों और बिक्री की जगहों पर ही चुंगी रहने दी। इन सब कार्रवाइयों से व्यापार-वाणिज्य खूब चमकने लगा, और आम प्रजा ने उसके राज्य में वह सुख-शान्ति अनुभव की जो सदियों से भूली जा चुकी थी।

शेरशाह के न्याय और प्रजावत्सलता की याद आज तक बनी है। एक साधारण स्त्री की शिकायत पर अपने सबसे बड़े लड़के को कड़े-से-कड़ा दण्ड देने में भी वह न हिचका था। न्याय करनेवाले हाकिमों की रहनुमाई के लिए उसने अनेक कानून और आईन बनाए, और उन्हें शरियत (मुस्लिम धर्म-शास्त्र) के बंधन से मुक्त कर दिया।

सेना को सीधा वेतन नियमित रूप से और नकद मिलता। उनकी नियुक्ति बादशाह की तरफ से ही होती और हथियार, घोड़े आदि भी उन्हें बादशाह की तरफ से ही मिलते। सैनिकों को छावनियों में रहना पड़ता था। एक युद्ध के बाद सेना

छावनी में विश्राम के लिए चली जाती और दूसरी सेना सेवा के लिए बादशाह के पास आ जाती थी। उसकी सेना मुख्यतः पैदल बन्दूकचियों की थी, जिसमें बिहार के भोजपुरी किसानों को प्रधानता थी। शेरशाह के सधाए हुए भोजपुरी बन्दूकची उन्नीसवीं सदी तक बक्सरिया सिपाही के नाम से प्रसिद्ध रहे। उनके अतिरिक्त उसके पास चुस्त रिसाला और तोपचियों का दल भी था। बहुत-सी तोपें उसने खुद ढलवाई थीं।

शेरशाह की फौज में कड़ा नियंत्रण था। सेना के कारण किसानों को जरा भी नुकसान या तकलीफ पहुँचे, यह उसे कभी बर्दाश्त न होता। सेना के प्रयाण के समय रास्ते की तंगी से यदि कहीं खेतों को नुकसान पहुँचता तो वह तुरत नुकसान का तखमीना करा के किसानों की क्षति-पूर्त्ति करा देता। जो सैनिक रास्ते में किसानों को किसी तरह का नुकसान पहुँचाते, उन्हें वह कड़ा दण्ड देता था। एक बार मालवे की चढ़ाई पर जाते हुए एक सवार ने किसी किसान के मटर चुराए। शेरशाह उस सवार को समूची यात्रा में उलटा लटकवा कर ले गया। इस नियंत्रण का परिणाम यह हुआ कि उसके सैनिक खेतों के पास से गुजरने पर स्वयं उनकी रखवाली करते कि कहीं किसी दूसरे की चोरी उनके मत्थे न पड़ जाय। इतना सख्त नियंत्रण होने पर भी शेरशाह के सैनिक उसपर अत्यन्त अनुरक्त थे। कारण कि वह उनके साथ भाई का-सा व्यवहार करता और उनके सुख-दुख और मेहनत-मशक्कत में शरीक रहता था। उनमें

से हरएक के गुणों को वह पहचानता और उन गुणों के अनुसार उनकी पद-वृद्धि करता और पुरस्कार आदि भी देता था।

शेरशाह जिस प्रदेश को जीतता, छ महीने में वहाँ जमीन का माप और बन्दोबस्त हो जाता, सड़कें निकल जातीं, टकसालें खुल जातीं और सब जगह अमन-चैन फैल जाता था।

व्यक्तिगत जीवन में शेरशाह सच्चा मुसलमान था। पर धर्मान्धता या साम्प्रदायिक पक्षपात उसे छू न गया था। मुसल-मानी धर्म और भारतीय संस्कृति तथा आदर्शों का शेरशाह के चरित्र में अद्भुत समन्वय हुआ था। उस समन्वय की अभिव्यक्ति उसकी शासन-योजना और इमारतों में एक समान हुई है। सहसराम में उसका मकबरा, जो उसने स्वयं बनवाया था, इसका नमूना है। शेरशाह ने जो अनेक शहर और किले बनवाए, उनमें से कई प्राचीन इतिहास के प्रसिद्ध स्थानों पर हैं। प्राचीन पाटलिपुत्र के स्थान पर आधुनिक पटना शहर की नींव उसी ने डाली। दिल्ली के पास ठीक प्राचीन इन्द्रप्रस्थ (आधुनिक इन्दरपत गाँव) के स्थान पर शेरगढ़ का किला, जो अब वहाँ पाण्डवों के किले के नाम से प्रसिद्ध है, उसका बनवाया हुआ है। पंजाब में नमक की पहाड़ियों के बीच काबुल और कश्मीर से आनेवाले रास्तों पर नजर रखने और वहाँ के गक्खड़ों पर नियंत्रण करने के लिए उसने टोडरमल से एक किला बनवाया जिसका नामकरण उसने बिहार के रोहतास के नाम पर किया।

शेरशाह के चलाए रुपयों पर, जो हमारे आजकल के रुपयों का पूर्वज है, नागरी और फारसी दोनों में उसका नाम खुदा रहता है। हिन्दी-साहित्य को उसके राज्य में विशेष प्रोत्साहन मिला। मलिक मुहम्मद जायसी ने अपना प्रसिद्ध काव्य 'पद्मावत' उसी के राज्य में लिखा।

शेरशाह की शासन-नीति ऐसी थी कि उससे भारतीय जनता के किसी भी भाग को असन्तुष्ट होने का मौका न था। जातिभेद या सामाजिक पक्षपात से उसने खासकर परहेज रक्खा और उसे अनुत्साहित कर समूची जनता को एक बनाने की कोशिश की। पठानों की फिरकेबंदी प्रसिद्ध है। शेरशाह को उससे घृणा थी। उसके सामने यदि कोई पठान दूसरे का फिरका पूछता तो वह उसे डाँट बताता था। वह यह कहा करता था कि हिन्दुस्तान की सब जातियों को पिछली बातें भूलकर एक हो जाना चाहिए। शेरशाह की गिनती सच्चे अर्थों में भारत के राष्ट्रनिर्माताओं में की जाती है।

शेरशाह की मृत्यु के बाद सरदारों ने उसके बड़े लड़के आदिल खाँ को राज्य के अयोग्य जान उसे सिर्फ बयाना का किला देकर, उसके दूसरे पुत्र जलाल खाँ को इस्लामशाह या सलीमशाह के नाम से, दिल्ली की गद्दी पर बिठाया। इस्लाम शाह ने राज्य पाते ही अपने बड़े भाई को कैद करना चाहा, इसपर उसके बहुत-से सरदार उसके विरुद्ध उठ खड़े हुए। इस्लाम ने उनका दमन

सलीमशाह

किया। इस सिलसिले में शिवालक और कुमायूँ की तराई के हिन्दू-राज्य भी जीत लिये गये। उसके नौ वर्ष के राज्य में शेरशाहवाली नीति जारी रही (१५४५-५४ ई०)।

सलीमशाह के बाद शेरशाह का एक भतीजा सलीम के नाबालिग बेटे फीरोज को मारकर मुहम्मद आदिलशाह उर्फ अदाली के नाम से दिल्ली की गद्दी पर बैठा। इस घटना से सूर-साम्राज्य में खलबली मच गई और बिहार-बंगाल के पठान शासक विद्रोह कर उठे। सलीमशाह के समय में गौड़-तिरहुत में मुहम्मद खाँ सूर तथा मगध में सुलेमान कर्रानी शासक था। अदाली ने अपने एक मेवाती हिन्दू सेनापति हेमचन्द्र या हेमू की सहायता से उनका दमन करना चाहा। मुहम्मद खाँ शम्सुद्दीन मुहम्मदशाह के नाम से सुल्तान बन तिरहुत से जौनपुर लेता हुआ आगरे की तरफ बढ़ा। तब हेमू ने, जो बयाना में एक दूसरे सूर-विद्रोही इब्राहीम को घेरे था, पूरब आकर कालपी से ११ कोस पर सुलेमान कर्रानी के बड़े भाई ताज खाँ और शम्सुद्दीन को हराया। शम्सुद्दीन मारा गया।

अदाली

हेमू उधर जब विद्रोह दबाने में लगा था तभी इब्राहीम सूर ने दिल्ली-आगरा अदाली से छीन लिये। अदाली ने चुनार को राजधानी बनाया। दिल्ली-आगरा उसके बाद शेरशाह के छोटे भाई इब्राहीम से अहमद खाँ ने छीन लिये जो वहाँ सिकन्दर शाह के नाम से गद्दी पर बैठा।

इस प्रकार शेरशाह का विशाल साम्राज्य उसके मरने के बाद

ही पठानों की आपस की फूट के कारण छिन्न-भिन्न हो गया।

हुमायूँ की वापसी और मृत्यु

उधर हुमायूँ ने हिन्दुस्तान से भागकर ईरान के शाह की मदद से काबुल पर दखल कर लिया, और सलीमशाह की मृत्यु तक उसने बदख्शाँ भी जीत लिया था। पठानों को आपस में झगड़ता देख उसने अब पंजाब पर आक्रमण किया और जून १५५५ तक सिकन्दर को सरहिन्द पर हराकर पंजाब के पहाड़ों में भगाने के बाद उसने दिल्ली-आगरा भी फिर से ले लिये। छ महीने बाद उसकी मृत्यु हुई।

हुमायूँ की मृत्यु की खबर पाते ही अदाली सूर ने हेमचन्द्र को दिल्ली फतह करने भेजा। ग्वालियर, आगरा और दिल्ली से

हेमू

मुगलों को भगा और दिल्ली में विक्रमादित्य के नाम से अपना अभिषेक कराके हेमचन्द्र पंजाब की तरफ बढ़ा। किस प्रकार उसके भय से पहले; मुगल लोग फिर हिन्दुस्तान से भागने की तैयारी करने लगे; परन्तु पीछे पानीपत के मैदान में वह मारा गया और दिल्ली-आगरा फिर अकबर के हाथ आए, सो सुपरिचित बातें हैं। मुगलों ने फिर जौनपुर तक जीत लिया।

इसी समय अदाली सूर बंगाल-बिहार की सीमा पर अपने 'विद्रोहियों' से लड़ता हुआ मारा गया (१५५६ ई०)। उसके बाद चुनार में उसका बेटा शेरशाह द्वितीय गद्दी पर बैठा जो मुगल सेनापति खानजमान से हारकर फकीर बन गया।

शम्सुद्दीन के हेमू द्वारा मारे जाने पर उसका लड़का गयासुद्दीन बहादुर गौड़ की गद्दी पर बैठा था, और मगध का शासक सुलेमान कर्रानी ही था। सन् १५६० में गयासुद्दीन की मृत्यु के बाद अफगानों ने सुलेमान को अपना नेता बनाया। उसने गौड़ के पास टाँडा में अपनी राजधानी बनाई (१५६४ ई०)। रोहतास का शासक उस समय फतह खाँ बरनी नाम का एक व्यक्ति था। उसने सुलेमान के विरुद्ध विद्रोह कर मुगलों से मदद माँगी। सुलेमान को पीछे हटना पड़ा। अगले बरस जौनपुर के उजबक * अमीरों ने अकबर के विरुद्ध विद्रोह किया। अकबर को भय था कि सुलेमान उनकी मदद न करे, अतः उसने उड़ीसा के राजा से सन्धि कर उसे बंगाल पर आक्रमण करने को उकसाया। राजा मुकुन्द हरिचन्दन देव ने बंगाल पर हमलाकर सातगाँव ले लिया। सुलेमान का ध्यान उधर बँट जाने से वह विद्रोहियों की मदद न कर सका और विद्रोह शान्त हो गया। उसके बाद सुलेमान ने नाममात्र को अकबर की अधीनता मान उसके नाम का खुतबा पढ़ना और सिक्का निकालना शुरू किया।

सुलेमान कर्रानी

पर १५६७ ई० में, जब अकबर मेवाड़-विजय में व्यस्त था,

---

* उजबक लोग मंगोलों की एक नई शाखा थे जो बाबर के समय हो मंगोलिया से मध्यएशिया में आए थे। बाबर उन्हीं के डर से मध्यएशिया से भागकर काबुल आया था। पीछे कुछ उजबक हुमायूँ की सेवा में भारत भी आए।

सुलेमान ने आक्रमण कर राजा मुकुन्द हरिचन्दनदेव को गंगा से दामोदर तक हटने को मजबूर किया। उड़ीसा के राजा ने दामोदर पर कोटसिमुल में शरण ली। तभी सुलेमान के बेटे बायजीद ने राजू कालापहाड़ नामक सेनापति के साथ, काँसाबाँसा नदी के रास्ते दलभूम के बीचोबीच से, मयूर-भंज के पच्छिमी छोर और केंदूझर से झारखण्ड और मयूरभंज के जंगली रास्ते से, उड़ीसा पर पीछे से छापा मारा। हरिचन्दन उसके मुकाबले को लौटा; पर अपने एक विद्रोही सरदार के हाथों मारा गया। कालापहाड़ ने वाराणसी कटक (=कटक) * और पुरी को लूटा तथा उजाड़ा। इसके बाद सुलेमान को उत्तर बँगाल के कूचबिहार के राजा नर-नारायण और उसके सेनापति चीलराय से लड़ना पड़ा।

उड़ीसा का पतन

सुलेमान न्याय-परायण और प्रजाप्रिय शासक और चतुर राजनीतिज्ञ था। दिल्ली-आगरा के पतन के बावजूद उसने बंगाल-बिहार में मुगल-सत्ता जमने न दी और सात वर्ष के शासन-काल में बंगाल और उड़ीसा का एक बड़ा हिस्सा दखल करने के बाद बिहार-बंगाल के करानी राज्य को पूरब की एक शक्ति बना दी। १६७२ ई० में उसका देहान्त हुआ और उसका लड़का बायजीद गद्दी पर बैठा। अफगान अमीरों ने उसकी ऐंठ के कारण असंतुष्ट हो सुलेमान के दूसरे बेटे दाऊद को गद्दी

* कटक का पूरा नाम था वाराणसी-कटक, जिसका शब्दार्थ होता है बनारस-छावनी। मुगल जमाने तक उसका नाम 'बनारसी-कटक' ही था।

दी। दाऊद ने गद्दी पर बैठते ही अकबर के नाम का खुतबा पढ़ने और सिक्का निकालने से इनकार कर दिया, और लड़ाई की तैयारी करने लगा। उसके सेनापति लोदी खाँ की चढ़ाई के कारण जौनपुर के मुगल-शासक मुनीम खाँ को भागना पड़ा।

अकबर इस समय तक मेवाड़ को हरा और मालवा-गुजरात को दखल कर चुका था। सुलेमान की मृत्यु और दाऊद के हमले का समाचार सुन उसने मुनीम खाँ की मदद के लिए सेना भेजी और खुद भी बिहार के लिए रवाना हुआ। उधर दाऊद लोगों के बहकावे में आकर लोदी खाँ पर सन्देह करने लगा और उसे मरवाना चाहा। लोदी भागकर रोहतास में जा छिपा। दाऊद ने वहाँ भी उसका पीछा किया। तब वह मुनीम खाँ के पास चला गया। अकबर ने टोडरमल और मुनीम खाँ को दाऊद के खिलाफ भेजा। लोदी को दाऊद ने मनाकर वापस बुला लिया। गंगा-सोन-संगम पर दोनों सेनाओं का मुकाबला हुआ। इसके बाद दाऊद ने अपने सलाहकार श्रीधर के सिखाने से लोदी की हत्या कर डाली। मुनीम खाँ ने पटना और हाजीपुर घेर लिये। इतने में मार्च १५७४ में रवाना होकर अकबर ने स्वयं भी बिहार आ पटने के मुहासरे का मुआयना किया। हाजीपुर मुगलों ने ले लिया। दाऊद यह समाचार पा और किले पर से वहाँ के संहार का दृश्य देख अपने २५ हजार

अकबर का बिहार-विजय

सवारों को उनके भाग्य पर छोड़ श्रीधर के साथ रात को नाव में बैठकर बंगाल की तरफ भागा। पटना पर मुगलों का आधिपत्य हो गया। मुगलों ने नेतृत्व-हीन भागती हुई पठान-सेना का पीछा कर दरियापुर (मोकामा) तक खदेड़ा। उसके बाद रोहतास पर एक टुकड़ी भेज तथा मुनीम खाँ और टोडरमल को बाकी बिहार और गौड जीतने के लिए छोड़ अकबर वापस लौट गया। मुगलों ने पठानों का पीछा कर मुंगेर-भागलपुर छीन लिये। तेलियागढ़ी पर दाऊद के एक सेनापति इस्लाम खाँ ने मुगलों का मुकाबला किया। मुगल-सेनापति मजनून खाँ काकश एक बड़ी सेना के साथ पहाड़ों का चक्कर काट अफगानों के पीछे पहुँचा, तब अफगान भागे और शीघ्र ही गौड ले लिया गया। मुगलों ने कूचबिहार के राजा नरनारायण से सन्धि कर पठानों को बंगाल से भी खदेड़ दिया। दाऊद भागकर उड़ीसा चला गया। वहाँ उसने टोडरमल को आत्म-समर्पण कर दिया। तब टोडरमल की इच्छा के विरुद्ध मुनीम खाँ ने उससे सन्धि कर ली और उसे कटक में बना रहने दिया।

गौड, मगध और तिरहुत पर मुगलों का अधिकार हो जाने पर अफगानों ने उड़ीसा और झारखण्ड में छिपकर कुछ दिन अपनी स्वाधीनता की लड़ाई जारी रक्खी, जिनका दमन करता हुआ मुनीम खाँ २८ अक्टूबर १५७५ ई० को टाँडा में मरा। यह समाचार पा दाऊद ने कटक से निकल तेलियागढ़ी तक

बंगाल पर फिर अधिकार कर लिया। पर अन्त में राजमहल की लड़ाई में टोडरमल और खानजहान द्वारा वह पकड़ा और मारा गया। गौड-मगध पर मुगलों का अधिकार अंतिम रूप से हो गया (जुलाई १५७६ ई०)।

पन्द्रहवाँ अध्याय

मुगल-साम्राज्य का समृद्धि-युग

[१५७६–१७२० ई०]

अकबर ने समूचे बिहार (तिरहुत, मगध और अंग) को बंगाल से अलग कर एक सूबा बना, रोहतास के विजेता और झारखण्ड के विद्रोहियों का अंतिम दमन करनेवाले मुजफ्फरखाँ को वहाँ का सिपहसालार नियुक्त किया। बिहार-प्रान्त सात सरकारों में बाँट दिया गया—रोहतास, बिहार, मुंगेर, सारन, चम्पारन, हाजीपुर और तिरहुत।

बिहार का सूबा

बिहार-बंगाल जीतने के बाद अकबर उत्तर भारत का सम्राट् बन गया। इसके बाद उसने तीन-चार वर्ष साम्राज्य-संगठन और शासन-व्यवस्था के सुधार में लगाए। इसमें उसने बहुत-कुछ शेरशाह की ही नीति का अनुसरण किया। उसने अमीरों और जागीरदारों की जागीरें छीनकर खालसा इलाका बढ़ाने और किसानों से सीधा बन्दोबस्त करने की भरसक कोशिश की, और राज-कर्मचारियों (मनसबदारों) को जागीर की जगह तनख्वाह देने की रीति

कठमुल्लों का विद्रोह

चलाई। इस कारण बहुत-से लोग, जिनकी जागीरें जब्त की गईं, उससे नाराज हो गए।

इसके अतिरिक्त शेरशाह की तरह ही धार्मिक और साम्प्रदायिक मामलों में भी उसकी नीति उदार, निष्पक्ष और राष्ट्रीय थी। उसकी उदार नीति से कुछ कठमुल्ला भड़क उठे। उन्होंने बिहार-बंगाल के असंतुष्ट अमीरों से मिल विद्रोह खड़ा किया। जौनपुर के एक काजी ने फतवा दे दिया कि अकबर के खिलाफ बलवा करना जायज है। विद्रोहियों ने काबुल के शासक अकबर के भाई मुहम्मद हकीम को उसकी जगह बिठाने का षड्यन्त्र किया, जिसके फलस्वरूप हकीम ने एक बड़ी सेना के साथ पंजाब पर चढ़ाई की। अकबर ने टोडरमल को विद्रोहियों का दमन करने भेजा और स्वयं हकीम को परास्त करने के लिए पंजाब की तरफ रवाना हुआ। हकीम भागकर वापस काबुल चला गया। अकबर ने वहाँ तक उसका पीछा किया और काबुल-कश्मीर जीत लिये। इधर बिहार-बंगाल के विद्रोहियों का टोडरमल ने सफलतापूर्वक दमन किया।

मुजफ्फर खाँ के बाद आजम खाँ, शाहबाज खाँ और सईद खाँ क्रमशः बिहार के शासक रहे। ठेठ बिहार इस समय मुगलों के शासन में आ चुका था; पर झारखण्ड और पलामू के राज्य स्वतंत्र थे। १५८५ ई० में शाहबाज खाँ ने रोहतास से झारखण्ड (राँची) के राजा पर हमला कर उससे नाम को अकबर की अधीनता मना ली।

राजा मानसिंह

१५८७ ई० में अकबर ने कुँवर मानसिंह को काबुल से बिहार का शासक बनाकर पटना भेजा। १५८९ ई० में उसके पिता आम्बेर के राजा भगवानदास के देहान्त के बाद उसे राजा का खिताब दे और सातहजारी का मनसब देकर बंगाल और बिहार दोनों का शासन सौंप दिया गया।

मानसिंह ने १५९२ ई० में आगमहल को बंगाल की राजधानी बना उसका नाम बदलकर राजमहल कर दिया। उसी साल उसने उत्तरी उड़ीसा पर भी मुगल-आधिपत्य स्थापित किया। राजमहल के अतिरिक्त वह रोहतास में भी रहा करता था। वहीं से उसने पलामू पर चढ़ाई की। हमने देखा है कि गाहड़वालों के साम्राज्य के पतन के बाद जापिला के खदिरपाल या खयरवाल सरदार स्वतंत्र हो गए थे। जापिला आजकल पलामू के उत्तरी भाग में जापला गाँव को सूचित करता है। तुर्क-विजय के बाद कदाचित् वहाँ के खयरवाल दक्खिन पलामू में हट गए थे, जहाँ समूचे पहले तुर्क-काल में वे अपनी स्वाधी-नता बचाए रहे। इसके बाद भोजपुर के आसपास के चेरो लोग भी, जो संभवतः शेरशाह के पहले तक रोहतास के मालिक थे और जिनका १५३८ ई० में भोजपुर के आसपास के प्रदेश में उपद्रव मचाए रहने के कारण शेर को दमन करना पड़ा था, उधर चले गए। और, उन्होंने वहाँ अपना स्वतंत्र राज्य कायम कर लिया। शेरशाह ने झारखण्ड जीता था; पर पलामू नहीं जीता था। १५९१ ई० में मानसिंह ने रोहतास से पलामू पर चढ़ाई

कर किला ले लिया और उसकी रक्षा के लिए एक सेना वहाँ रक्खी। इस प्रकार मानसिंह के समय करीब-करीब आजकल का समूचा बिहार मुगलों के सीधा अधीन हो गया था—उनके प्रभाव में आ गया। अकबर के अंतिम समय तक राजा मान-सिंह बिहार-बंगाल का सूबेदार रहा।

अकबर की मृत्यु के बाद पलामू के चेरों ने मानसिंह की रक्खी हुई सेना को खदेड़कर वह प्रदेश फिर दखल कर लिया।

झारखंड और पलामू

उसके बाद भी झारखण्ड और पलामू में मुगलों का शासन कभी ठीक तरह से स्थापित न हो सका और उनसे वीच-बीच में मुठभेड़ चलती रही। राँची जिले का कोकराह-प्रदेश उस जमाने में अपने कीमती हीरों के लिए प्रसिद्ध था। इस कारण मुगल-सम्राटों और बिहार के सूबेदारों की दृष्टि सदा उसपर लगी रहती, और वे झारखण्ड के राजा को हीरे भेंट करने के लिए दबाते रहते थे। १६१६ ई० में बादशाह जहाँगीर ने बिहार के एक सूबेदार इब्राहीम खाँ को भेजकर वह प्रदेश अधिकृत करा लिया। वहाँ का राजा दुर्जनसाल अपने हाथी और हीरों के साथ पकड़कर आगरे भेज दिया गया। वह १२ वर्ष ग्वालियर के क़िले में बंद रहा और अंत में ६ हजार वार्षिक खिराज देने के वादे पर छुटा। इसी बीच १६२५ ई० में पलामू के मेदिनीराय चेरो ने झारखंड का बहुत-सा अंश जीत लिया था। १६२२ ई० में शाहजादा खुर्रम विद्रोह कर पंजाब से भागा। १६२४ ई० में वह

दक्खिन का चक्कर काटकर उड़ीसा के रास्ते बिहार पहुँचा और काफी अरसे तक पटने और रोहतास को अपना केन्द्र बनाए रहा। १६२७ ई० में जहाँगीर के मरने पर खुर्रम शाहजहाँ के नाम से गद्दी पर बैठा। १६२९ ई० में उसने पटना में नया सूबेदार नियुक्त कर उसे पलामू और छोटानागपुर की जागीरें दीं—अर्थात् इन प्रदेशों को वश में करने को प्रोत्साहित किया। तदनुसार १६४१ ई० में बिहार के सूबेदार शाइस्ता खाँ ने एक बड़ी सेना के साथ पलामू के राजा प्रतापराय पर चढ़ाई की। प्रतापराय ने वीरता-पूर्वक मुगलों का सामना किया। अंत में उसने ८० हजार रुपये देकर संधि कर ली। बाद में तेजराय ने प्रताप के विरुद्ध विद्रोह कर दिया और पलामू की गद्दी हथिया ली। तब शाइस्ता खाँ ने १६४३ ई० में फिर चढ़ाई की। प्रतापराय को गद्दी वापस मिली। प्रताप पटना गया। शाहजहाँ ने उसे हजारी का मनसब दे पलामू की जागीर दी, जिसकी आमदनी २½ लाख कूती गई।

१६५७ ई० में शाहजहाँ के बीमार पड़ने पर मुगलों का भ्रातृ-युद्ध आरम्भ हुआ। उस प्रसंग में शाहजादा शुजा, जो तब बंगाल का शासक था, बंगाल में मुकुट धारण कर बिहार के सूबेदार को अपने साथ मिलाकर, आगरे की तरफ बढ़ा। दारा शिकोह के बड़े पुत्र सुलेमान शिकोह और आम्बेर के राजा जयसिंह से हार खाकर उसे मुंगेर भाग आना पड़ा। पर औरंग-जेब द्वारा दारा के पराजित और अपने बाप के कैद किए जाने

पर शुजा ने सुलेमान से संधि कर ली, और पिता को कैद से छुड़ाने की गरज से फिर पच्छिम बढ़ा। इलाहाबाद के आगे खजवा पर उसका औरंगजेब से मुकाबला हुआ। इस बार वह बड़ी वीरता से लड़ा; पर साम्राज्य की सेनाओं के सामने उसकी थोड़ी-सी सेना टिक न सकी। औरंगजेब के सेनापति मीर जुमला द्वारा पीछा किया जाने पर मुंगेर पर उसने मीर जुमला का फिर मुकाबला किया। मीर जुमला खड़गपुर के राजा को अपनी तरफ मिलाकर पहाड़ी रास्ते से उसके पीछे पहुँच गया। शुजा को तब बंगाल और वहाँ से भी आराकान भागने के लिए मजबूर होना पड़ा।

भ्रातृ-युद्ध के समय की इस गड़बड़ से लाभ उठाकर पलामू का राजा फिर स्वाधीन हो गया। १६६० ई० में दाऊदखाँ बिहार का सूबेदार बनाकर भेजा गया। उसने पलामू पर चढ़ाई कर पलामू शहर दखल कर लिया। परन्तु चेरो-सरदारों ने जिले के दक्खिन भाग में हटकर फिर भी अपनी स्वाधीनता बनाए रक्खी।

यूरोपियन व्यापारी

पुर्तगाली लोग पूर्वी समुद्र में पहले-पहल १५३३ ई० में आकर चटगाँव उतरे थे। हमने देखा है कि उनके तोपचियों को महमूदशाह ने तुरन्त अपनी सेवा में ले लिया था। उसके बाद उनकी बस्तियाँ हुगली आदि शहरों में भी बस गई थीं। पीछे उन लोगों ने साम्राज्य में उपद्रव और लूट-मार मचाना शुरू कर दिया। इसलिए १६३१ ई० में शाहजहाँ ने हुगली पर चढ़ाई कर पुर्तगालियों के दस

हजार आदमियों का संहार किया और चार-पाँच हजार को कैद किया। साम्राज्य की प्रजा को इससे बड़ा संतोष हुआ। सत्रहवीं सदी में पुर्तगालियों के यूरोपियन प्रतिद्वन्द्वी ओलन्देजो (डचों) और अंग्रेजों ने भारतीय समुद्र में उनकी प्रमुखता तोड़ दी और शाहजहाँ के शासनकाल में उन लोगों की तथा फ्रान्सीसियों की व्यापारी कोठियाँ भी पूर्वी भारत में स्थापित हो गईं।

पटना इस समय पूरब की सबसे बड़ी व्यापारिक मंडी था। खासकर यहाँ के कपड़े, चीनी, शोरे और अफीम के व्यापार के कारण इन यूरोपियन व्यापारियों का ध्यान उधर बहुत पहले से खिंचा था। बारूद के आविष्कार और युद्धों में उसकी दिन-दिन बढ़ती हुई उपयोगिता के कारण बिहार के सस्ते और बढ़िया शोरे की माँग यूरोप में बहुत थी। इसी तरह यहाँ की चीनी और कपड़े भी और स्थानों की तुलना में अधिक सस्ते और अच्छे थे। इसके अतिरिक्त तिब्बत, नेपाल और झारखण्ड के पहाड़ों और जंगलों के कीमती द्रव्यों—मुश्क, खाल, जड़ी-बूटी आदि—के लिए भी पटना एक बड़ी मंडी थी।

चीन और पूर्वी समुद्रों से पुर्तगालियों को खदेड़ने के बाद पहले-पहल ओलंदेजों ने यहाँ अपना कारबार आरंभ कर खूब मुनाफा उठाया। १६५० ई० तक शोरा साफ करने की इनकी कई फैक्टरियाँ बिहार में खुल चुकी थीं और पटने में उनकी कोठी खूब चमकने लगी थी। आजकल जो पटना-कालेज है, पहले वह ओलंदेजों की कोठी ही था। ओलंदेजों की देखादेखी

अंग्रेजों ने भी हुगली में स्थापित होने के बाद (१६५० ई०) पटना से माल पाने का जतन करने को एक व्यापारी-मंडल भेजा। इससे पहले सन् १६२० और ३२ में सूरत तथा आगरे की अंग्रेजी कोठियों की तरफ से भी यहाँ के व्यापार के लिए प्रयत्न हो चुके थे। परन्तु वहाँ से दूर पड़ने के कारण उनमें सफलता न मिली थी। १६६४ ई० में जौब चार्नोक नाम का अंग्रेज पूरब को कोठियों का प्रबन्धक बनाकर भेजा गया। उसके समय में अंग्रेजों का व्यापार यहाँ खूब चमक उठा, और गंगा में शोरे तथा अन्य तिजारती सामान से लदे जहाजों के आने-जाने का दृश्य आम हो गया। सन् १६७० में पटना के सस्ते शोरे के मुकाबले में मसुलीपट्टम और पच्छिमी तट के शोरे के सब ठेके ईस्ट इंडिया कम्पनी ने छोड़ दिए। इन चीजों के बदले में यूरोपियन व्यापारी दक्खिनी अमरीका की खानों का सोना-चाँदी भारत में लाते थे।

सन् १६७९ में औरंगजेब ने फिरंगियों के व्यापार की चुंगी २½ फी सदी से ३½ फी सदी कर दी। इसपर ईस्ट इंडिया कम्पनी ने उससे लड़ाई छेड़ दी, और मुगल जहाजों पर डकैती शुरू की। इसके अतिरिक्त चुंगी को लेकर बंगाल-बिहार में अंग्रेज व्यापारियों से एक और विवाद चल रहा था। शाहजहाँ के समय शुजा जब बंगाल का सूबेदार था तब उसने अंग्रेजों से माल पर अलग-अलग चुंगी लेने के बदले साल में एकमुश्त ३००० रुपये की रकम लेनी ठहरा ली थी। १६६८ ई० में ईस्ट इंडिया कम्पनी

का कुल व्यापार ३४ हजार पौंड था; १६८० तक वह वार्षिक १½ लाख पौंड से भी अधिक होने लगा था। तो भी वे चाहते थे कि उनसे चुंगी की वही रकम ली जाय। इसके अतिरिक्त वे लोग अंग्रेजी झण्डे के नीचे दूसरों का माल भी नाजायज ढंग पर ले जाते थे। अतः १६८० में सूबेदार शाइस्ताखाँ ने, जो सन् १६६४ से बिहार-बंगाल का सूबेदार था, उनके माल पर बाकायदा ३½ सैकड़ा चुंगी बिठा दी, और उनके गड़बड़ करने पर पटना की कोठी के प्रमुख मिस्टर पीकौक को पकड़कर कैद-खाने में डाल दिया, तथा फिरंगी व्यापारियों का शोरा ले जाना एकदम रोक दिया। जॉब चार्नाक पटना से कासिमबाजार चला गया था। वहाँ उसपर हिन्दुस्तानी व्यापारियों का काफी रुपया देना था। अदालत ने उसपर डिग्री कर दी तो वह वहाँ से भी भागकर हुगली चला गया, जहाँ वह कोठी का मुखिया बनाया गया। अंग्रेजों से लड़ाई कई बरस जारी रही। १६८६ में चार्नाक ने हुगली शहर लूट लिया और वहाँ से कारबार उठा कर पहले सुतनती गाँव (कलकत्ता) और फिर मेदिनीपुर को भागा। तब शाइस्ताखाँ ने बिहार-बंगाल में अंग्रेजों की सब संपत्ति जब्त करने और कम्पनी के नौकरों को जेल में डालने का हुक्म जारी किया। अंग्रेजों की इसी तरह की दूसरी बेजा हर-कतों के कारण बादशाह ने साम्राज्य-भर में उसी तरह की आज्ञा जारी कर दी थी। अन्त में बम्बई के गवर्नर जॉन चाइल्ड के संधि की प्रार्थना करने पर हरजाना लेकर उन्हें माफ किया

गया और कलकत्ता की जमीन खरीदने और पटना में व्यापार करने की फिर इजाजत दी गई। शाइस्ताखाँ तब बिहार-बंगाल से जा चुका था और हकीम इब्राहीम खाँ शासक बनकर आया था जो बहुत ढीलाढाला आदमी था।

१६६६ ई० में शिवाजी दिल्ली में औरंगजेब की जेल से निकल भागा। शिवाजी को रखने की जिम्मेवारी आम्बेर (आधुनिक जयपुर-राज्य) के राजकुमार रामसिंह पर थी। औरंगजेब ने उक्त घटना से रुष्ट होकर रामसिंह को आसाम की चढ़ाई पर भेजा। सिक्खों के ९वें गुरु तेगबहादुर भी मुगलों के विद्रोही थे। उन्हें भी औरंगजेब ने दिल्ली बुला मँगाया था, और अब रामसिंह के साथ आसाम भेजा। रास्ते में पटना में १६६७ में तेगबहादुर के एक पुत्र का जन्म हुआ। वही पीछे गुरुगोविन्दसिंह के नाम से प्रसिद्ध हुए। पटने में उनका जन्मस्थान हरमंदिर-गुरुद्वारा भारत के सिक्खों का तीर्थस्थान है।

गुरुगोविन्दसिंह

शिवाजी और गुरुगोविन्दसिंह भारत में एक नए युग को सूचित करते हैं। "पानीपत के दूसरे युद्ध के बाद से सौ बरस तक मुगल-बादशाह का गौरव बढ़ता ही गया था। मुगलों के शस्त्र तब अजेय समझे जाते थे और उनके साम्राज्य की सीमाएँ अनुल्लंघनीय। किन्तु शिवाजी ने मुगलों की उस धाक को तोड़ दिया" (इ० प्र० ३७६)। शिवाजी ने पहले बीजापुर-सल्तनत के विरुद्ध अपनी स्वाधीनता की चेष्टा आरंभ की और

१६५७ ई० में पहले-पहल मुगलों से भी लड़ाई छेड़ी। १६५८-६० के भ्रातृयुद्ध के बाद मुगल और बीजापुर दोनों ने मिलकर शिवाजी का दबाना चाहा। औरंगजेब की कैद से निकलने के बाद महाराष्ट्र के एक वड़े अंश को स्वाधीन कर १६७४ में शिवाजी ने अपना राज्याभिषेक कराया। इसके वाद उसने समूचे दक्खिन पर आधिपत्य जमाने की कोशिश की। बुंदेलखंड में छत्रसाल ने भी वही चेष्टा आरंभ की। महाराष्ट्र-बुंदेलखंड से यह लहर आगरा-मथुरा के इलाके के जाटों में और बाद में पंजाब के सिक्खों और नेपाल के गोरखों में भी जा पहुँची। "यह स्पष्ट ही एक पुनरुत्थान था, जो बहुत अंशों में १५वीं और १६वीं सदियों के धार्मिक सुधार से उत्पन्न हुआ था।" किन्तु "गंगा के काँठे, सिंध, गुजरात, आन्ध्र और तामिल मैदानों में—अर्थात् भारतवर्ष के सबसे उपजाऊ इलाकों में वह पुनरुत्थान प्रकट नहीं हुआ" (इ० प्र० ४८२)। सन् १६८० में शिवाजी की मृत्यु के बाद औरंगजेब मराठों के दमन के लिए दक्खिन गया। उसे आशा थी कि कुछ ही वर्षों में वह समूचे दक्खिन को जीतकर दिल्ली लौट आयगा। पहले १० वर्ष तक उसे सफलता मिलती मालूम हुई, परन्तु मराठों ने अपनी स्वतंत्रता की लड़ाई जारी रक्खी और १६९३ से ९६ तक संताजो घोरपड़े नामक सेनापति ने मुगल-साम्राज्य पर ऐसी चोटें कीं कि उनका धक्का उत्तर भारत के प्रांतों तक ने अनुभव किया। बिहार-बंगाल में अनेक जमींदारों ने विद्रोह का झंडा उठाया

और मेदिनीपुर के शोभासिंह और रहीमखाँ नाम के दो सरदारों ने बर्दवान से राजमहल तक का प्रदेश दखल कर लिया (१६९६–९७ ई०)।

इसी सिलसिले में मुगल-सूबेदार ने फिरंगियों को बंगाल में अपनी रक्षा के लिए कलकत्ता, चन्द्रनगर आदि अपनी बस्तियों की किलाबन्दी करने की इजाजत दे दी। औरंगजेब ने तब बंगाल-बिहार की सूबेदारी पर अपने बेटे शाहआलम के पुत्र अजीमुश्शान को भेजा (१६९७ ई०)। उसने विद्रोह का दमन कर शान्ति स्थापित की।

अजीमुश्शान और मुर्शिदकुली खाँ

अजीमुश्शान फिजूलखर्च और बेअसूला आदमी था। ढाका में रहते हुए उसने अपनी आमदनी बढ़ाने के लिए एक नया तरीका निकाला। व्यापारियों की गाँठें खुलवा कर वह मनमाना दाम देकर उनमें से माल निकलवा लेता, फिर उसे बाजार-भाव पर बेचकर पैसा बनाता। इसका नाम रक्खा गया सौदा-ए-खास। औरंगजेब को जब इसका पता चला तब उसने अजीमुश्शान को बड़ी डाँट बताई।

मराठों के युद्ध और दूसरे प्रांतों पर उसके प्रभाव के कारण औरंगजेब के पिछले वक्त में सारा मुगल-साम्राज्य डाँवाडोल हो गया था। दक्खिन के सब सूबों में तो युद्ध जारी ही था; मराठे बीच-बीच में गुजरात और मालवे पर भी छापे मारते थे। बुन्देलखंड से छत्रसाल के हमलों के कारण भी मालवा

और इलाहाबाद के सूबे बेचैन रहते थे। राजपूताने में खुद ही लड़ाई जारी थी। जाटों और सिक्खों की चेष्टा के कारण आगरा-दिल्ली और पंजाब के सूबों में अशान्ति मची रहती थी। साम्राज्य की सालाना आमदनी मराठा-युद्ध के लिए पूरी न पड़ने से पहले तो दिल्ली-आगरे के खजाने खाली किए गए और अन्त में बिहार-बंगाल की मालगुजारी औरंगजेब के दक्खिनी युद्ध का एकमात्र सहारा रह गई। इस दशा में यह अत्यन्त आवश्यक था कि इन प्रांतों में शान्ति और सुव्यवस्था बनी रहे और इनकी मालगुजारी का बन्दोबस्त योग्य और विश्वसनीय हाथों में रहे। इस दृष्टि से औरंगजेब ने १७०१ ई० में मुर्शिदकुली खाँ को उड़ीसा से बदलकर बंगाल का दीवान वनाकर भेजा। फिजूलखर्च अजीमुश्शान का उससे झगड़ा हुआ और अजीम ने उसे मरवाने की कोशिश की। मुर्शिद तब अपना दफ्तर ढाका से मकसूदाबाद ले गया, जिसका नाम उसने मुर्शिदाबाद रक्खा। औरंगजेब को इस झगड़े का पता लगने पर उसने अजीम को हुक्म दिया कि अपने बेटे फर्रुखसियर को ढाका में छोड़कर खुद पटना में रहे। १७०४ में मुर्शिद को बंगाल, बिहार, उड़ीसा, तीनों की दीवानी सौंप दी गई। १७०६ में वह बंगाल और उड़ीसा का नायब नाजिम (सूबेदार) भी बनाया गया।

अजीमुश्शान ने पटना आने पर यहाँ की किलाबन्दी मजबूत कराई और इसे दिल्ली की तरह सजाना शुरू कराया। राजधानी

की शोभा बढ़ाने के लिए दिल्ली के बहुत-से अमीर-उमरा और मुत्सद्दी पटने बुलाए गए, जिन्हें प्रान्त में अच्छी जागीरें और जमींदारियाँ दे खास मुहल्लों और कटरों में बसाया गया। यात्रियों और गरीबों के लिए सरायें और सदावर्त खोले गए। मुगल-दरबार के बहुत-से चितेरे और गवैये, जिन्हें औरंगजेब के कट्टरपन के कारण नियंत्रित होना पड़ा था, इसी समय पटना बुलाए गए। उन्होंने बाद में मुगल-चित्रण-शैली की एक शाखा पटना-शैली की नींव डाली। १७०४ ई० में इस नई राजधानी का नाम अजीमाबाद रक्खा गया।

फर्रुखसियर

औरंगजेब २५ वर्ष लगातार मराठों से विफल युद्ध करता रहा और अन्त में १७०७ ई० में दक्खिन में ही उसकी मृत्यु हुई। मुगल-साम्राज्य की शक्ति उसके साथ ही खंडित हो गई। शिवाजी और उसके अनुयायियों की चलाई हुई लहर उत्तरोत्तर प्रबल होती गई। किन्तु, जैसा कि कहा जा चुका है, गंगा-काँठे में उस लहर का जोर दिखाई न दिया, तो भी उसका कुछ प्रभाव अवश्य हुआ। बिहार के पुराने हिन्दू-सरदारों में एक नई चेतना प्रकट हुई। वे कोई नया राज्य तो खड़ा न कर सके; किंतु बहुत-से इलाकों की जमींदारियाँ उन्होंने हथिया लीं।

औरंगजेब की मृत्यु के बाद अजीमुश्शान का पिता मुअज्जम या शाहआलम अपने भाइयों को मारकर बहादुरशाह के नाम से गद्दी पर बैठा। अजीमुश्शान तब प्रायः उसी के साथ दरबार

में ही रहता था। बिहार में उसने सैयद हुसेन अली नामक अपने एक विश्वस्त व्यक्ति को रक्खा था।

वहादुरशाह ने महाराष्ट्र की स्वतंत्रता स्वीकार कर ली और राजपूतों, बुन्देलों, जाटों और सिक्खों से भी सुलह करके शान्ति स्थापित करने की कोशिश की। १७१२ ई० में लाहौर में उसका देहान्त हुआ। अजीमुश्शान राज्य के लिए अपने भाई जहाँदारशाह से लड़ता हुआ मारा गया। जहाँदार अपने अन्य दो भाइयों को भी मारकर बादशाह बना।

अजीमुश्शान का छोटा लड़का फर्रुखसियर बंगाल में था। दादा की मृत्यु और पिता के युद्ध में मारे जाने की खबर पा पटना आकर उसने अपने-आपको बादशाह घोपित किया। सैयद हुसेन अली और उसके भाई इलाहाबाद के फौजदार सैयद हसन अब्दुल्ला ने भोजपुर के राजा धीरसुदिष्टनारायण की सहायता से जहाँदार-शाह को आगरे के पास सामूगढ़ में हराकर उसे दिल्ली की गद्दी पर जा बिठाया (१७१२ ई०)। तब से इन सैयद-बन्धुओं की साम्राज्य में तूती बोलने लगी। उन्होंने औरंगजेब का लगाया हुआ जजिया हटवा दिया और विदेशी मुसलमानों की जगह भारतीय मुसलमानों और हिन्दुओं को ऊँचे ओहदे देने शुरू किए।

मुर्शिदकुली खाँ ने बंगाल-बिहार में अंग्रेजों के व्यापार पर चुंगी बढ़ा दी थी, और वह दृढ़ता से उसकी वसूली करता था। तब ईस्ट इंडिया कम्पनी ने एक डाक्टर हेमिल्टन को फर्रुखसियर के दरबार में उसके विरुद्ध अपील करने भेजा। उसने बादशाह

को खूनी बवासीर का इलाज सफलतापूर्वक करके कम्पनी के व्यापार के लिए चुंगी की छूट का वर पाया (१७१५ ई०)।

गद्दी पर स्थापित होने के बाद फर्रुखसियर ने सैयदों के प्रभाव से निकलने के लिए दरबार के विदेशी दल से मिलकर उन्हें हटाने या मरवाने के कई षड्यन्त्र रचे। इसपर सैयद हुसेन अली ने महाराष्ट्र के पेशवा बालाजी-विश्वनाथ के नेतृत्व में मराठा-सेना दिल्ली में लाकर फर्रुखसियर को कैद कर लिया और अन्त में उसे मारकर, एक के बाद एक, दो शाहजादों को गद्दी दी; पर वे दोनों बारी-बारी तपेदिक से मर गए। तब उन्होंने बहादुरशाह के एक पोते को मुहम्मदशाह के नाम से गद्दी पर बिठाया (१७२० ई०)। मराठों को इस मदद के बदले में दक्खिनी सूबों की 'चौथ' (मालगुजारी की चौथाई) दी गई।

फर्रुखसियर के गद्दी से उतारे जाने पर निजाम को मालवा का सूबेदार बनाया गया था। अब उसने दक्खिन भागकर वहाँ के सूबेदार सैयद हुसेन अली के लड़के को युद्ध में मारकर दक्खिन की सूबेदारी हथिया ली।

मुहम्मदशाह गद्दी पर बैठने के बाद से भीतर-भीतर निजामुल्मुल्क आदि विदेशी मुसलमानों के दल से मिल गया था। उसने अब सैयद हुसेन अली का धोखे से खून करवा दिया और उसके बड़े भाई हसन अब्दुल्ला को हराकर बन्दी बना मरवा डाला।

बिहार में इस बीच क्रमशः मीर जुमला (१७१५–१६), सरबुलन्द खाँ (१७१८ ई० तक) और फखरुद्दौला सूबेदार नियत किए गए थे।

सोलहवाँ अध्याय

मराठे और अंग्रेज

[१७२८–१७६६ ई०]

मुगल-साम्राज्य का क्षरण अब आरंभ हो चुका था। निजाम-जैसे प्रान्तों के शासक कहने को सूबेदार, पर वास्तव में स्वतंत्र नवाब, थे।

राजनीति का केन्द्र दिल्ली से पूना जाना

सैयद हुसेन अली की मदद में मराठा-सेना लेकर जब पेशवा बालाजी-विश्वनाथ दिल्ली गया था, तब उसका होनहार बेटा बाजीराव भी उसके साथ था। युवक बाजीराव ने मुगल-साम्राज्य की भीतरी हालत देखकर तभी यह समझ लिया कि उसे तोड़कर उसके स्थान में मराठा-साम्राज्य स्थापित करने का समय आ गया।

सन् १७२० में पेशवा बालाजी-विश्वनाथ का देहान्त होने पर महाराष्ट्र के राजा शाहू ने बाजीराव को अपना पेशवा बनाया। मराठा-राज्य की नीति क्या हो, इस विषय पर शाहू की सभा में विचार हुआ। वहाँ एक दक्खिनी दल था, जिसका कहना था कि मराठों को पहले अपने 'स्वराज्य' को शक्तिशाली बनाकर समूचा दक्खिन जीत लेना चाहिए, उसके

बाद उत्तर भारत की बात सोचनी चाहिए। परन्तु बाजीराव ने कहा—"मुगल-साम्राज्य समृद्ध और क्षीण है; उसकी जड़ पर चोट करो तो शाखाएँ स्वयं ही गिर पड़ेंगी।……मेरी बात मानो तो मैं मराठा-झंडा अटक की दीवारों पर गाड़ दूँगा।" शाहू ने अनुमोदन करते हुए कहा—"उसे किन्नरखंड पर जा गाड़ो।"

अगले ७५ सालों में मराठा-साम्राज्य की यही नीति रही। मुगल-साम्राज्य इस बीच में बना रहा। किन्तु बड़ी घटनाओं का आरंभ मराठा-दरबार से ही होता था (इ० प्र० ४०८–९)।

इसके बाद १७३३ ई० तक गुजरात और मालवा में मराठा-राज्य स्थापित हो गया, तथा बुंदेलखंड से बूढ़े छत्रसाल ने बाजीराव की मदद से मुगल-शासन को उठा दिया, और बाजीराव को अपना बेटा बनाकर बुंदेलखंड का बड़ा भाग सौंप दिया। इसके बाद राजपूताने के राजाओं के सहयोग से बाजीराव ने उत्तर भारत पर चढ़ाइयाँ शुरू कीं। ९ एप्रिल १७३७ ई० को वह ठेठ दिल्ली पर जा पहुँचा। मुहम्मदशाह उससे संधि के लिए मोल-भाव करने लगा। बाजीराव ने अनुभव किया कि बादशाद और हिन्दुस्तानी मुसलमान उससे समझौता करने को तैयार हैं, पर केवल 'मुगल' (विदेशी मुसलमान) ही इसमें बाधक हैं। उसने अपने भाई को लिखा कि वह दिल्ली जलाने का इरादा करके आया था; किन्तु उसका विचार बदल गया।

अब से मराठों की नीति बराबर यह रही कि मुगल-साम्राज्य

का बाहरी रूप बना रहने दिया जाय; किन्तु उसकी भीतरी शक्ति हथिया ली जाय। बाजीराव के मुकाबले के लिए मुगल-दल के नेता निजाम को वजीर बनाकर दक्खिन से बुलाया गया था। पर मालवे में दुराहासराय पर बाजीराव ने उसे घेर लिया और इस शर्त्त पर छोड़ा कि नर्मदा से चंबल तक के प्रान्त का आधिपत्य वह मराठा-राज्य को दिला देगा।

दो वर्ष बाद ईरान के नादिरशाह ने भी दिल्ली पर चढ़ाई की और मुगल-साम्राज्य की बची-खुची इज्जत भी धूल में मिला दी। मुहम्मदशाह ने उस वक्त बाजीराव को मदद के लिए बुलाया और बाजीराव भी दिल्ली-साम्राज्य की मदद को आने के लिए अत्यन्त उत्सुक था। पर ठीक उससे पहले मराठा-सेना पुर्तगालियों से उलझ चुकी थी। दो वर्ष तक महाराष्ट्र को सारी शक्ति लगाकर बाजीराव उन्हें कोंकण की उस किनारी से निकाल सका, जो उन्हें दो सौ वर्ष पहले बहादुरशाह गुजराती ने दे दी थी। गोवा तब भी उनके हाथ में बना रहा।

३०—६—१७२७ ई० को मुर्शिदकुली खाँ की मृत्यु हुई और उसका दामाद शुजाउद्दीन बंगाल-उड़ीसा में उसका उत्तराधिकारी बना। इधर बिहार के सूबेदार फखरुद्दौला ने अजीमुश्शान द्वारा लाकर बसाए हुए अमीर-उमरों के साथ दुर्व्यवहार किया और उनकी जागीरें छीन ली थीं। अमीरों ने बादशाह से फरयाद की। मुहम्मदशाह ने तब फखरुद्दौला को रुखसत देकर बिहार की सूबेदारी भी शुजाउद्दीन

अलीवर्दी खाँ

को सौंप दी (१७३३ ई०)। शुजाउद्दीन ने बिहार में अलीवर्दी खाँ को अपना नायब नियुक्त किया।

सन् १७३९ में नवाब शुजाउद्दीन का देहान्त हुआ और उसका लड़का सरफराज खाँ बिहार-बंगाल-उड़ीसा की मसनद पर बैठा। सरफराज ऊपर से बहुत दीनदार बनता था, पर था विषय-लोलुप। अलीवर्दी पर उसकी कोपदृष्टि थी। अली ने पटना से बढ़कर घोरिया पर उसे हराकर मार डाला (१०-४-१७४० ई०) और बिहार-बंगाल-उड़ीसा की मसनद हथिया ली। बादशाह को रिश्वत देकर उसने इसके लिए स्वीकृति भी पा ली। अलीवर्दी अत्यन्त योग्य, सच्चरित्र और कर्त्तव्यपरायण व्यक्ति था। बिहार में उस समय भोजपुर, टिकारी और बेतिया के जमींदारों ने विद्रोह किया। अली ने उन्हें दबा दिया। उड़ीसा का नायब रुस्तमजंग सरफराज का दामाद था। उसने अलीवर्दी की अधीनता मानने से इनकार कर दिया। साल भर में बंगाल-बिहार में अपनी स्थिति मजबूत करने के बाद अगले बरस मार्च में अली ने उड़ीसा पर चढ़ाई की और रुस्तम को हराकर भगा दिया (३ मार्च १७४१ ई०)।

इसी समय उसने अपने एक सेनापति हिदायत खाँ को बिहार से टिकारी, भोजपुर आदि के जमीदारों के साथ रामगढ़-राज्य पर आक्रमण करने भेजा। हिदायत खाँ ने रामगढ़ का किला घेर लिया।

सन् १७४० में बाजीराव की मृत्यु हुई। दक्खिनी दल का नेता, बरार का जागीरदार रघुजी भोंसले तब मराठा-राज का पेशवा बनने का उम्मीदवार था। किन्तु बूढ़े राजा शाहू ने बाजीराव के नौजवान बेटे बालाजीराव को अपना पेशवा बनाया। उसने रघुजी भोंसले को कर्णाटक और तामिलनाड जीतने को दक्खिन भेजा।

मराठों की पहली चढ़ाई

बालाजी के लिए सबसे आवश्यक यह था कि दुराहा-सराय की सन्धि को पक्का कराया जाय। इसके लिए वह मालवा गया। धौलपुर में जयपुर के राजा जयसिंह ने उसके साथ संधि की जिसके अनुसार वह बादशाह की तरफ से मालवा का सूबेदार निश्चित हुआ।

रघुजी तामिलनाड में था, जब उड़ीसा से एक जहाज में भागकर रुस्तमजंग वहाँ पहुँचा और मराठों से मदद माँगी। रुस्तम के दामाद बाकिरअली के साथ एक मराठा दस्ता भेजा गया, और उन्होंने अगस्त १७४१ ई० में कटक वापस ले लिया। अलीवर्दी फिर उड़ीसा आया और दिसम्बर के शुरू में महानदी पर उन्हें हराकर प्रान्त वापस ले लिया। इसके बाद दो-तीन मास उड़ीसा में ठहरने के बाद वह वापस लौटने लगा।

इस बीच जान पड़ता है कि रामगढ़ के राजा ने भी रघुजी से मदद माँगी। रघुजी ने अपने मंत्री भास्कर पन्त कोल्हटकर

को एक बड़ी सेना के साथ अलीवर्दी के खिलाफ भेजा। रामगढ़ को अपना आधार बना पचेत (झालदा से बाँकुड़ा तक का प्रदेश) के रास्ते भास्कर बंगाल की तरफ बढ़ा। अलीवर्दी बालेश्वर पर था, जब कि उसने मराठों की चढ़ाई की बात सुनी। १५ एप्रिल सन् १७४२ को वह बर्दवान पहुँचा। वहाँ मराठों ने उसे घेर लिया। अलीवर्दी अपनी तोपों के जोर से बर्दवान से मुर्शिदाबाद के रास्ते पर कटवा तक बढ़ सका; पर मराठे उसे घेरे-घेरे साथ गए। कटवा में मुर्शिदाबाद से नई कुमुक पहुँचने पर अलीवर्दी उनके घेरे से निकल सका। वह अभी कटवा में ही था कि ६ मई को मराठों ने मुर्शिदाबाद पर हमला कर उसे लूटा। दूसरे दिन अलीवर्दी वहाँ पहुँचा तो वे वहाँ से हट गए। इसके बाद उन्होंने कटवा में अपनी छावनी डाल दी और राजमहल से जलेसर तक गंगा के पच्छिम-पच्छिम संथाल परगना, वीरभूमि, बर्दवान, बाँकुड़ा और मेदिनी-पुर के इलाकों पर कब्जा कर लिया। रुस्तमजंग के एक ईरानी नायब मीर हबीब की मदद से उन्होंने हुगली का किला भी ले लिया। हुगली नदी पार कर वे पूरब के प्रदेशों पर भी छापे मारने लगे। नवाब ने पटना और पूर्णिया से फौज मँगाई और रास्ते सूखने से पहले मराठों पर हमला करने का निश्चय किया। उसने और ऊपर जाकर गंगा पार की, और फिर चुपचाप अजय नदी के उत्तरी तट पर पहुँच गया। २७ सितम्बर १७४२ को प्रातःकाल उसने एकाएक नदी पारकर कटवा में भास्कर

की छावनी पर हमला किया। मराठे बेसुध भागकर पचेत के रास्ते वापस चले गए। दिसंबर तक उसने उन्हें चिलका झील तक से निकाल दिया।

उधर आलीवर्दी ने मराठों के खिलाफ बादशाह से भी मदद माँगी थी, और बादशाह ने रघुजी की सेना को बंगाल से निकालने का काम अपने मालवा के सूबेदार बालाजीराव पेशवा को सौंपा था। शुरू फरवरी १७४३ में पेशवा नवाब अलीवर्दी खाँ की 'मदद' के लिए बिहार आया। बनारस से सहसराम, टिकारी, गया और बिहारशरीफ के रास्ते वह मुंगेर पहुँचा और वहाँ से वीरभूमि होते हुए मुर्शिदाबाद की तरफ बढ़ा। वहाँ बरहमपुर के १३ मील दक्खिन उसने अपनी छावनी डाली। पिलाजी जाधव, मल्हार होल्कर आदि सेनापति उसके साथ थे।

रघुजी भोंसले और बालाजीराव पेशवा

भास्कर पन्त के बंगाल से निकाले जाने के बाद रघुजी भोंसले ने खुद बरार से बंगाल पर चढ़ाई की। रामगढ़ होते हुए मार्च १७४३ के शुरू में वह भी कटवा आ पहुँचा।

३१ मार्च १७४३ को पेशवा की छावनी के पास पलाशी गाँव पर नवाब अलीवर्दी उससे मिला। उसने पेशवा की चढ़ाई के खर्चे का २२ लाख रुपया और बंगाल की चौथ देना माना। बदले में पेशवा ने रघुजी की लूट-खसोट से उसकी रक्षा करने का जिम्मा लिया।

बालाजी राव को नजदीक आया देख रघुजी वीरभूमि की तरफ हट गया, और बालाजी द्वारा पीछा किए जाने पर मान-भूमि और सम्भलपुर के रास्ते लौट गया। पेशवा उसके पीछे-पीछे विष्णुपुर पचेत के रास्ते छोटानागपुर में बेदूगढ़ तक आया।

पर पेशवा और रघुजी अधिक दिन तक नहीं लड़ सकते थे। राजा शाहू ने बीच में पड़कर ३१-८-१७४३ को उन दोनों में समझौता कराया। अपने झगड़ालू सरदारों के बीच समझौता कराने में राजा शाहू विशेष कुशल था। उस समझौते के अनुसार मालवा, आगरा और इलाहाबाद सूबे तथा बिहार में टिकारी और भोजपुर के परगने, दाऊदनगर-सहित, पेशवा के अधिकार-क्षेत्र माने गए; और उक्त परगनों को छोड़, समूचा बिहार, बंगाल तथा उड़ीसा रघुजी का अधिकार-क्षेत्र निश्चित हुआ।

इसके बाद मार्च १७४४ में भास्कर पन्त उड़ीसा और मेदिनीपुर के रास्ते फिर बंगाल में घुसा। पिछली हार के कारण अब वह बहुत क्रुद्ध था। नवाब को भी इस बात की खीझ थी कि पेशवा ने उसकी रक्षा का जिम्मा लेकर उसे यों छोड़ दिया। उसने भास्कर को बरहमपुर के चार मील दक्खिन अपने खेमे में तब संधि की बातचीत करने के बहाने बुलाकर २१ नायकों सहित कत्ल करा डाला (३१-३-१७४४)। केवल एक नायक रघुजी गायकवाड़ उस खेमे में से बचकर भाग सका।

अलीवर्दी ने अपने एक सेनापति मुस्तफा खाँ अफगान को

भास्कर पन्त की हत्या के बदले में बिहार की नवाबी देने को कहा था; पर अब न दी। इसपर मुस्तफा ने उसको नौकरी छोड़ दी और रघुजी को फिर आने के लिए लिखा। इसके बाद मुस्तफा ने राजमहल तथा मुंगेर का किला छीनकर पटना को जा घेरा (१४-३-१७४५ ई०)। अलीवर्दी ने उसे एक हफ्ते में हराकर चुनार की तरफ भगा दिया। इस बीच मुस्तफा के निमन्त्रण से रघुजी ने फिर उड़ीसा पर चढ़ाई कर विना लड़े कटक ले लिया था; इसलिए अली को बंगाल लौटना पड़ा। तब मुस्तफा चुनार से जगदीशपुर (जि० शाहाबाद) तक बढ़ आया, पर वहाँ युद्ध में मारा गया।

रघुजी की दूसरी चढ़ाई

दो मास में समूचा उड़ीसा जीतकर जून १७४५ में रघुजी बर्दवान पहुँच गया, और जुलाई में उसने वीरभूमि में छावनी डाल दी। अलीवर्दी उसका मुकाबला करने बंगाल की तरफ गया तो रघुजी दक्खिनी बिहार के पहाड़ी रास्ते से सोन पार कर मगरोर में घिरे हुए अफगान विद्रोहियों की मदद को आ पहुँचा। ४००० अफगान उसके साथ मिल पटना की तरफ बढ़े। नवाब उलटे पाँव वापस लौटा। मुहीब अलीपुर पर दोनों का मुकाबला हुआ (नवम्बर १४-२०)। बूढ़े नवाब का कष्ट देखते हुए उसकी बेगम * ने रघुजी से संधि की बातचीत शुरू की। पर इस बीच मुर्शिदाबाद को अरक्षित जान रघुजी

* नवाब अलीवर्दी खाँ ने आजीवन एकपत्नीव्रत निबाहा था।

उधर बढ़ा। नवाब भी उसके कदमों पर कदम बढ़ाता हुआ एक दिन बाद मुर्शिदाबाद जा पहुँचा (२२ दिसं० १७४५)। तब रघुजी कटवा की तरफ हट गया, और दो-तीन हजार मराठों को चार हजार अफगानों के साथ कटवा की छावनी में छोड़ नागपुर वापस लौट गया। इसके बाद, अप्रैल १७४६ तक, नवाब अलीवर्दी ने इस बची-खुची मराठा-सेना को बंगाल से निकाल दिया। जो अफगान उसकी सेवा में थे, वे भी शत्रु को गुप्त सहायता देते थे, इसलिए उन सबको उनके घर दरभंगा भेज दिया। उड़ीसा मराठों के अधिकार में बना रहा।

मराठों का बिहार-बंगाल की चौथ पाना

अक्तूबर में नवाब ने उड़ीसा पर चढ़ाई की तैयारी की। उसी समय दिल्ली से बादशाह की चिट्ठी आई कि हमने पेशवा के वकील से सन्धि की है, जिसके अनुसार बिहार की चौथ का १० लाख वार्षिक पेशवा को और बंगाल का २५ लाख रघुजी को देना निश्चित किया है। पर ७१ वर्ष का बूढ़ा अलीवर्दी यह मानने को तैयार न हुआ, और मार्च १७४७ में उसने बर्दवान के पास रघुजी के बेटे जानोजी को फिर हराया।

इधर पटना के नायब नाजिम जैनुद्दीन ने, जो नवाब अलीवर्दी खाँ का दामाद था, नवाब के निकाले हुए दरभंगा के पठानों को फौज में भर्ती कर नवाब से अधिक शक्तिशाली बनने की सोची। १३ जनवरी १७४८ को उन पठानों ने उसे कत्ल कर बिहार-प्रान्त पर अधिकार कर लिया, और पटना के लोगों पर

बड़े जुल्म किए। नवाब अलीवर्दी ने इस दशा में पेशवा बालाजी राव से मदद माँगी। फरवरी के अन्त में वह खुद भी बिहार को तरफ रवाना हुआ। उधर रघुजी के मराठे पच्छिमी बंगाल से, पहाड़ी रास्ते से होकर, बिहार की तरफ बढ़े और भागलपुर में नवाब की सेना से एक मुठभेड़ करने के बाद नवाब से आगे निकलकर पटना के पूरब अफगान विद्रोहियों से जा मिले। बाढ़ के पास रानीसराय या काला-दियारा में नवाब ने विद्रोहियों को पूरी तरह हरा दिया (१६-४-१७४८ ई०)। मराठे लड़ाई से अलग रह लूट का मौका ताकते रहे; पर नवाब ने उन्हें मौका न दिया। इसी समय दिल्ली में मुहम्मदशाह की मृत्यु हुई। इसलिए अगली घटनाओं का रुख देखने के लिए अलीवर्दी छ महीने बिहार में ही रहा।

मार्च १७४९ में अली ने पटना से कटवा लौटकर फिर उड़ीसा पर चढ़ाई करने की तैयारी शुरू की। मई के अन्त तक उसने मराठों को उड़ीसा से निकाल दिया; पर उसके लौटते ही मराठों ने उड़ीसा पर फिर अधिकार कर लिया। तब अलीवर्दी ने उन्हें रोकने के लिए मेदिनीपुर में पक्की छावनी डाली। अन्त में मार्च १७५१ में उसने रघुजी भोंसले से संधि कर ली। उसके अनुसार मेदिनीपुर के सिवा समूचा उड़ीसा-प्रान्त उसने जागीर के रूप में रघुजी को दे दिया और सुवर्णरेखा नदी दोनों के बीच की सीमा मानी गई। इसके अलावा बंगाल की चौथ का १२ लाख रुपया सालाना उसने रघुजी को देना स्वीकार किया।

सोलहवीं शती के आरंभ से भारतीय समुद्र पर यूरोपियन आधिपत्य स्थापित हो गया था; किन्तु मुगल-साम्राज्य की स्थल-शक्ति को यूरोपियन अदब और आतंक से देखते थे। तो भी भारतीय राज्यों में यूरोपियन तोपची और फौजी इंजीनियरों की माँग बराबर बनी रहती थी। इसके सिवा इस बीच यूरोप में स्थल-सेनाओं के संगठन में बड़ी उन्नति हो रही थी। "बन्दूक का प्रयोग बढ़ जाने से अब वहाँ के पैदल बन्दूकचियों की पाँतें तैयार हो गई थीं, जो युद्ध का मुख्य साधन बन गई थीं। ये पाँतें एक साथ एक आदेश पर गोली दागतीं और इनकी सारी गति नेताओं के आदेश पर नियमित रहती थी। इनके सामने ढीले अनुशासन पर चलने वाले रिसाले किसी काम के न थे। सेनाओं और युद्धशैली में केन्द्रीय नियंत्रण बढ़ जाने से यूरोप की शासन-संस्था में भी राजाओं का नियंत्रण बढ़ गया; क्योंकि इन सुनियंत्रित पैदल सेनाओं से राजाओं ने अपने उच्छृंखल सरदारों के कोटले ढहा कर उन्हें काबू में कर लिया" (इ० प्र० ४२१)।

फ्रान्सीसी और अफगान-आतंक

भारत में यह सब नहीं हुआ। भारतीय राज्यों में जो यूरोपियन तोपची और सेनापति नौकरी करते थे, उन्होंने भारत की यह कमजोरी धीरे-धीरे पहचान ली और सन् १७४० के करीब उनमें से कई यह सोचने लगे कि यूरोपियन सेना यदि भारत में लाई जा सके तो वह भारत के राज्यों को आसानी से जीत ले। किन्तु यूरोपियन सेनाओं को इतनी दूर से भारत

में लाना संभव न था। इस दशा में पुदुचेरी (पांडीचरी) के फ्रान्सीसी हाकिम द्यूमा को यह सूझा कि भारत में ही यूरोपियन शैली की सेना तैयार की जा सकती है। "उसने यह अनुभव किया कि भारतवर्ष के लोगों में, एक पुरानी सभ्यता के वारिस होने के कारण, इतनी समझ और भौतिक वीरता है कि वे अच्छे सैनिक बन सकते हैं। आफ्रिका आदि की दूसरी जिन जातियों से यूरोपवालों का वास्ता पड़ा था, वे ऐसी न थीं। साथ ही उसने देखा कि भारतवासियों में राष्ट्रीयता का ऐसा अभाव है कि उन्हें किसी के भी भाड़े के सैनिक बनकर अपने भाइयों पर गोली दागने में कोई ग्लानि नहीं होती! इसके अलावा वे महत्त्वाकांक्षा और जिज्ञासा से भी इतने शून्य हैं कि जितनी बातें उन्हें सिखा दी जायँ, उनसे आगे बढ़कर उस समूचे ज्ञान को अपनाने की वह उत्कंठा उनमें नहीं जाग पाती जिससे वे दूसरे के हथियार बनने के बजाय स्वयं वैसी सेनाएँ संघटित कर सकें। द्यूमा को जो यह नई बात सूझी, इसे यूरोप-वाले 'भारतीय सिपाही' का आविष्कार कहते हैं। अठारहवीं शती का यह सबसे बड़ा सामरिक आविष्कार था। यूरोपवालों के हाथ में इससे एक ऐसा साधन मिल गया जिससे उन्होंने पृथ्वी का नक्शा पलट दिया" (वहीं)।

द्यूमा के उत्तराधिकारी द्यूप्ले ने यह सोचा कि इस नए हथियार के द्वारा भारतीय राज्यों के आपसी झगड़ों में दखल देकर वह भारत में फ्रान्सीसी साम्राज्य खड़ा कर सकता है।

उत्तरी पैणार नदी से कन्याकुमारी तक का हरा-भरा तामिल मैदान दक्खिन के मुगल-सूबेदार का एक प्रान्त होता था। वह प्रदेश पहले कर्णाटक (विजयनगर) के राजाओं के अधीन था, इसलिए विदेशी उसे भी गलती से कर्णाटक कहते थे। रघुजी भोंसले ने अपनी १७३९-४० ई० की दक्खिन-चढ़ाई में इसी 'कर्णाटक' के नवाब को युद्ध में मार डाला तथा उसके दामाद चन्दा साहब को कैद कर लिया था। चन्दा साहब ने अपना परिवार पुदुचेरी के फ्रान्सीसी गवर्नर की शरण में भेज दिया था। रघुजी के बंगाल जाने पर निजाम ने कर्णाटक को फिर वापस ले लिया और एक अनवरुद्दीन को वहाँ का नवाब नियत किया।

द्यूप्ले ने अब राजा शाहू को सात लाख रुपये देकर चन्दा साहब को कर्णाटक का नवाब बनाने की नीयत से कैद से छुड़ा लिया। वह यह जोड़-तोड़ कर ही रहा था कि सन् १७४८ ई० में निजाम की मृत्यु हुई और उसके उत्तराधिकारी का भी झगड़ा चला। निजाम के बड़े बेटे नासिरजंग ने मराठों की मदद पाई, दूसरी तरफ द्यूप्ले और चन्दा साहब ने मुजफ्फरजंग को सहारा दिया। उन्होंने पहले 'कर्णाटक' (तामिलनाड) के मैदान में ही इस प्रश्न का निपटारा करने की ठानी। नवाब अनवरुद्दीन उनसे लड़ता हुआ मारा गया। उसके लड़के मुहम्मद अली ने त्रिचिनापल्ली के किले में शरण ली। अगले संघर्ष में नासिरजंग भी मारा गया और मुजफ्फरजंग के भी एक बलवे में मारे

जाने पर नासिर के छोटे भाई सलाबत जंग को फ्रांसीसी सेना-पति बुसी ने दक्खिन की मसनद पर जा बिठाया (२०-६-१७५१ ई०)। सलाबत जंग ने आन्ध्रतट के उपजाऊ जिलों ('उत्तरी सरकार') की जागीर फ्रांसीसी कंपनी को और 'कर्णाटक' की नवाबी चन्दा साहब को दी।

फ्रांसीसियों की राजनीतिक शक्ति बनते देखकर अंग्रेज घबराए और उन्होंने भी अपनी भारतीय सेना तैयार की। हैदराबाद के मामले में हस्तक्षेप करने की तो उनकी हिम्मत न हुई; पर तामिलनाड में मुहम्मद अली का पक्ष लेकर उन्होंने दखल दिया। चन्दा साहब मारा गया और आरकाट तथा त्रिचिनापल्ली के किले मुहम्मद अली के नाम से अंग्रेजों के हाथ आए। मराठों ने समझा था कि निजाम की मृत्यु के बाद समूचा दक्खिन उनके हाथ आ जायगा; पर अब उन्होंने देखा कि फ्रांसीसी उनका रास्ता रोके खड़े हैं।

पेशवा बालाजी राव को यह बात समझ में न आई कि फ्रांसीसी और अंग्रेज दोनों विदेशी जातियों में से किसी का भी भारत में राजनीतिक शक्ति बनाना खतरनाक है, और न उसे यही सूझा कि दक्खिन की सब छोटी-बड़ी शक्तियों को मिलाकर उसे इन दोनों को बाहर करना चाहिए। उसने केवल फ्रांसीसी आतंक को देखा, और क्योंकि जो पक्ष उसने लिया था वही पक्ष लेकर अंग्रेजों ने भी फ्रांसीसी शक्ति का मुकाबला किया, इसलिए उसने सोचा कि वह फ्रान्सीसियों के खिलाफ

अंग्रेजों का उपयोग कर सकता है ! फ्रान्सीसियों का मुकाबला करने के लिए उसने उत्तर भारत से भी अपनी सेना बुला ली; और वह सलाबत जंग को दबाने और उससे बहुत-से इलाके ले लेने में सफल हुआ (भालकी की संधि, १५-११-१७५२ ई०)।

दक्खिन में जब निजाम की मृत्यु हुई, उसके एक बरस पहले ईरान में नादिरशाह कत्ल किया गया। उसके अफगान सेनापति अहमदशाह अब्दाली ने कन्दहार आकर एक नए अफगान-राज्य की नींव डाली, और पंजाब पर चढ़ाई की। पहली चढ़ाई में दिल्ली की फौज ने शाहजादा अहमद के नेतृत्व में सरहिन्द पर उसे हरा दिया। तो भी उस चढ़ाई के कारण भारत-भर के अफगानों में हलचल मच गई। संभल इलाके का राज्य रुहेले अफगानों ने, जो वहाँ बसे हुए थे, हथिया लिया और उसका नाम रुहेलखंड पड़ा। बिहार में दरभंगा के अफगानों का अलीवर्दी खाँ के विरुद्ध विद्रोह भी उसी हलचल का परिणाम था।

इसके शीघ्र बाद मुहम्मदशाह की मृत्यु हुई और शाहजादा अहमद, अहमदशाह के नाम से, दिल्ली की गद्दी पर बैठा।

अब्दाली एक हार से माननेवाला नहीं था। सन् १७५२ के शुरू में उसने लाहौर ले लिया। उसी समय दिल्ली का वजीर सफदर जंग मराठों और जाटों की मदद से रुहेलखंड के रुहेलों को दबा रहा था। बादशाह के लिखने से उसने मराठों

के साथ एक संधि की, "जिसकी मुख्य शर्त्तें यह थीं—पेशवा को दिल्ली-साम्राज्य के सब भीतरी विद्रोहियों और बाहरी शत्रुओं के दमन का भार सौंपा गया;···बदले में उसे अजमेर और आगरा की सूबेदारी; पंजाब और सिंध की चौथ, हिसार; संभल मुरादाबाद और बदाऊँ जिलों की जागीर तथा पंजाब के चार महालों की मालगुजारी दी गई। मतलब यह कि अवध और इलाहाबाद के सिवा समूचे भारत का आधिपत्य पेशवा को सौंप दिया गया। सफदर मराठों की मदद से काबुल भी वापस लेने की बातें करने लगा" (इ० प्र० ४२८)। काबुल नहीं तो पंजाब को बचाने की तो उसी समय जरूरत थी; लेकिन पेशवा ने ठीक उसी समय अपनी सब फौज दक्खिन बुला ली; क्योंकि सेनापति बुसी हैदराबाद से पूना चढ़ा आता था।

मराठा-दरबार की दिवालिया राजनीति

"भालकी की संधि के बाद पेशवा को फुरसत थी। यदि वह परिस्थिति को ठीक समझ सकता तो वह देखता कि दक्खिन से समुद्र-पार के विदेशियों को निकालना तथा उत्तर भारत को सरहद्दी लुटेरों से बचाना, यह दो उसके प्रमुख कर्त्तव्य थे। इन्हें वह निभा सकता तो भारत का साम्राज्य तो उसके हाथों में आया हुआ था। दक्खिन से यूरोपियनों को निकालने के लिए वह मैसूर आदि छोटे राज्यों का सहयोग पा सकता था। उत्तर भारत की रक्षा के लिए राजपूतों, जाटों और सिक्खों का सहयोग लिया जा सकता था; तथा मुगल-साम्राज्य की बची-खुची शक्ति का उपयोग

किया जा सकता था। लेकिन पेशवा अपने पुराने रास्ते पर ही चलता गया। उसकी दृष्टि में मुगल-साम्राज्य की जड़ पर चोटें लग चुकी थीं, और उसे गिराकर उसकी शाखाएँ बटोरने का काम ही बाकी था। अब मराठा दरबार और सेना में यह मुख्य चर्चा थी कि सबसे पहले समूचा दक्खिन मराठा-साम्राज्य में आ जाना चाहिए" (इ० प्र०, ४३२–३३)।

बाजीराव ने राजपूत-राज्यों के सहयोग से ही काम लिया था। बालाजीराव को उनके सहयोग की और भी अधिक जरूरत थी; किंतु इस बीच राजपूताने में उत्तराधिकार के कई तुच्छ झगड़ों का मराठा-दरबार को निपटारा करना पड़ा और उन मामलों में शील, न्याय, प्रतिष्ठा और दूरदर्शिता को जलांजलि देकर केवल अपने तुरत के लाभ का ध्यान रखते हुए मराठा-दरबार ने राजपूतों को अपना दुश्मन बना लिया। वही बात दिल्ली में भी हुई। दिल्ली-साम्राज्य की बची-खुची शक्ति का उपयोग सीमान्त की रक्षा के लिए किया जा सकता था; लेकिन सन् १७५३ में दिल्ली में घरेलू युद्ध शुरू हुआ, और पेशवा ने उसे इसलिए न रोका कि दोनों पक्षों की शक्ति पूरी तरह क्षीण हो जाय तथा अन्त में जब दखल दिया तो उसी बादशाह और वजीर सफदरजंग के खिलाफ, जिसने उनके हाथ में समूचे साम्राज्य की बागडोर सौंपी थी! सेनापति मल्हारराव होल्कर के दबाव से अहमदशाह ने निजाम के पोते नौजवान इमादुल्मुल्क को वजीर बनाया। इमाद ने कुरान हाथ में लेकर अहमदशाह से

शपथ की कि वह उसके प्रति वफादार रहेगा, और दरबार से बाहर आते ही उसने अहमदशाह को तख्त से खिंचवा कर कैद में डलवा दिया !

पेशवा को उस समय प्रयाग, बनारस और बिहार ले लेने की धुन सवार थी। उसका सेनापति जयप्पा शिंदे मारवाड़ के एक झगड़े में उलझा था। पेशवा ने उसे लिखा कि झगड़े को शान्त करके वह पूरब जाय। लेकिन जयप्पा उसी तुच्छ झगड़े में उलझा रहा और अन्त में नागोर पर कत्ल किया गया (२४-७-१७५५ ई०)। उसके भाई दत्ताजी ने उस कत्ल का बदला चुकाया। ये मराठा सेनापति, जब मारवाड़ की धूल फाँक रहे थे, तभी विदेशी कलकत्ते में बंगाल-बिहार को ले लेने का षड्यन्त्र रच रहे थे।

उधर तामिलनाड में अब अंग्रेजों को पैर जमाने का मौका मिल गया। फ्रान्सीसी कंपनी बहुत-कुछ अपने देश की सरकार पर आश्रित थी; और फ्रान्सीसी सरकार तब कुव्यवस्था का नमूना थी; क्योंकि फ्रान्स में तबतक इंगलैंड की तरह उत्तरदायी शासन स्थापित न हुआ था। फ्रान्सीसी कंपनी के संचालकों ने अगस्त १७५४ में दूप्ले को पदच्युत कर दूसरे गवर्नर को भेजा, जिसने अंग्रेजों की कठपुतली मुहम्मदअली को तामिलनाड का नवाब मान लिया।

ठीक इसी समय, पेशवा ने अपनी दक्खिनी चढ़ाई शुरू की, और तीन वर्ष तक वह उसी चढ़ाई में लगा रहा। उसके खयाल में समूचे दक्खिन के साम्राज्य की फसल काटने का वही

उपयुक्त समय था! और, वह जब उस फसल के काटने में मगन रहा, तभी बिहार-बंगाल में युगान्तरकारी घटनाएँ घट गईं। "इसी बीच महाराष्ट्र के भीतरी शासन में भी पेशवा ने एक भारी भूल की"। कोंकण के एक सरदार तुलाजी आंग्रे ने, जो मराठा बेड़े का अध्यक्ष था, विद्रोह किया। "बालाजी ने अपने उस प्रजाजन के खिलाफ विदेशी अंग्रेजों से मदद ली!... क्लाइव और वाट्सन ने विजयदुर्ग पर चढ़ाई करके तुलाजी का सब बेड़ा डुबा दिया (१२-४-१७५६ ई०)। तीस वर्ष पहले जिस आंग्रे से अंग्रेज सदा हारते रहे उसके मराठा बेड़े को मराठा-सरकार ने उनसे स्वयं डुबवा दिया! क्लाइव और वाट्सन वहाँ से मद्रास गए और क्लाइव वहाँ का गवर्नर नियुक्त हुआ" (इ० प्र० ४३६)।

पलाशी

विजयदुर्ग के पतन के दो दिन पहले नवाब अलीवर्दी खाँ का देहान्त हुआ। कहते हैं, वह अपने अंतिम दिनों में घटने-वाली दक्खिन की घटनाओं से बहुत चौकन्ना हो गया था। हैदराबाद और तामिलनाड में फ्रांसीसियों और अंग्रेजों का दस्तन्दाजी करना और सर्वेसर्वा बन बैठना, दक्खिन के सूबेदार और तामिलनाड के नवाब का उनकी कठपुतली बन जाना तथा अंग्रेजी बेड़े का कोंकण में दखल देना, उसे बहुत अखरा था। इसीलिए कलकत्ता के अंग्रेजों से भी वह बहुत सशंक हो गया था। उनके षड्यंत्रों का कुछ आभास उसे मिल गया था। उसने मरते समय अपने प्रिय दोहते और उत्तरा-

धिकारी सिराजुद्दौला को यूरोपियन कौमों की ताकत पर नज़र रखने और उन्हें किलाबन्दी या फौज रखने की इजाजत देने की गलती कभी न करने की सीख दी थी।

अलीवर्दी के मरते ही अंग्रेजों ने कलकत्ते में किले की दीवारें ऊँची करनी और बढ़ानी शुरू कीं। वे नवाब के खिलाफ विद्रोह उभाड़कर बंगाल-बिहार में गृह-युद्ध मचवाने का षड्यन्त्र पहले से ही कर रहे थे। सिराज ने हुक्म दिया कि कोई विदेशी उसके राज्य में किलाबन्दी या युद्ध की तैयारी न करे; पर अंग्रेजों ने उसकी बात पर ध्यान नहीं दिया। तब सिराज ने उनपर आक्रमण कर कलकत्ता ले लिया और बंगाल-बिहार में उनकी सब कोठियाँ जब्त कर लीं। अंग्रेज कलकत्ता से दक्खिन फल्ता भाग गए; सिराज ने वहाँ उन्हें बहुत तुच्छ समझ रहने दिया। "उसके खयाल से यूरोप कोई छोटा-सा टापू था, जिसके कुल बाशिन्दा १०–१२ हजार थे, जिनमें से चौथाई अंग्रेज थे!" (इ० प्र० ४३७)।

चन्द्रनगर के फ्रांसीसी सिराज की मदद को उद्यत थे। पेशवा बालाजीराव ने देखा कि बंगाल-बिहार में भी हैदराबाद की तरह फ्रांसीसी प्रमुखता कायम होने जा रही है। उसने कलकत्ते के प्रधान ड्रेक को लिखा कि नवाब से हरगिज न दबे, और आवश्यकता होगी तो मराठा सवार सहायता को भेजे जाएँगे। ड्रेक ने उसकी सहायता न माँगी; तो भी बालाजी ने अपना पूरा ध्यान इस ओर लगा दिया कि हैदराबाद से बुसी फ्रान्सीसी

मदद लेकर बंगाल न पहुँचने पाए। उसने बुसी की उत्तरी तेलंगाना-तट की जागीर में विद्रोह भड़का दिया, जिसे शान्त करने में बुसी तीन महीने फँसा रहा। इतने में मद्रास की कोठी के मुखिया क्लाइव ने मद्रास से जाकर कलकत्ता वापस ले लिया। सिराज ने तब बुसी को सहायता के लिए लिखा; पर बुसी अपने झमेले में फँसा था।

इसी समय अहमदशाह अब्दाली द्वारा दिल्ली और मथुरा लूटे जाने की खबर आई जिससे बिहार-बंगाल में भी आतंक फैल गया। उस आतंक के कारण और बुसी को शीघ्र आता न देख सिराज अंग्रेजों से सन्धि की बातचीत करने को तैयार हो गया। क्लाइव ने उसे सन्धि की बातों में फँसा फ्रांसीसियों की बस्ती चन्द्रनगर भी ले ली (२३–३–१७५७)। बुसी जब आंध्र-तट से फारिग होकर सीमा पर आया तभी उसे चन्द्रनगर के पतन की खबर मिली। उस दशा में बंगाल आना व्यर्थ जान वह दक्खिन वापस लौटा और आन्ध्र-तट की अंग्रेज-बस्तियों की सफाई करता गया।

उधर अंग्रेजों का अलीवर्दी के बहनोई और सिराज के सेनापति मीर जाफर से षड्यन्त्र पक चुका था। क्लाइव ने तब नवाब पर हमला किया। कटवा से उत्तर हुगली और मोर नदी के संगम पर पलाशी गाँव पर नवाब ने उसका मुकाबला किया। बीच लड़ाई में मीर जाफर दगा कर क्लाइव से जा मिला! सिराजुद्दौला हारा और मारा गया।

मीर जाफर को साथ लेकर क्लाइव मुर्शिदाबाद बढ़ा, और पहले शहर के बाहर छावनी डाली। उसे यह खयाल था कि जिस देश के राजा को मैंने मार डाला है, उसकी प्रजा भड़की हुई होगी और शहर में घुसने पर जरूर दंगा मचाएगी। लेकिन मुर्शिदाबाद के बड़े-बड़े लोग उसकी छावनी में ही आकर उसके आगे गिड़गिड़ाने लगे। तब उसने समझ लिया कि उनमें न तो अपने राजा से कोई अनुराग, न देशी-विदेशी का कोई खयाल और न किसी किस्म की गैरत है, और जो उनपर हुकूमत करने की ताकत हथिया ले वे उसी के कदम चूमने को तैयार हैं! तब उसने शहर में प्रवेश कर अपने हाथ से मीर जाफर को बंगाल-बिहार की राजगद्दी पर बिठाया।

मीर जाफर ने कम्पनी और उसके कर्मचारियों को करीब पौने तीन करोड़ रुपया भेंट और रिश्वत के तौर पर तथा चौबीस परगने का इलाका कम्पनी को जागीर-रूप में देना तय किया था। परन्तु मुर्शिदाबाद के खजाने में कुल डेढ़ करोड़ रुपया मुश्किल से निकला। अतः जवाहरात आदि बेचकर आधी के लगभग रकम उसी समय नावों में भरकर गंगा से भेजी गई और बाकी का किश्तों में तीन साल के भीतर चुकाना तय हुआ। बिहार का शासक पलाशी-युद्ध के वक्त सिराजुद्दौला की तरफ से राजा रामनारायण था। सिराज के पतन के बाद अंग्रेजों ने नवाब के लड़के मीरन को साथ ले पटना पर हमला किया। रामनारायण ने अधीनता मानी। मीर जाफर ने मीरन को बिहार

का शासक नियत किया। रामनारायण को उसके सहकारी-रूप में बहाल रक्खा। अलीवर्दी ने अपने एक दूसरे दामाद अहमद खाँ को १७४९ में पुर्णिया जिले में जागीर दी थी। अहमद के लड़के शौकत जंग के विद्रोह करने पर सिराज ने उसे हटाकर अपने एक विश्वस्त व्यक्ति राजा उगलसिंह को पुर्णिया का फौजदार नियत किया था। मीर जाफर ने उसे हटाकर एक खादिम हुसैन को वहाँ नियत किया। उगलसिंह ने मुकाबला किया; पर अंग्रेजों की मदद से वह हराया जाकर पकड़ा गया।

पलाशी-युद्ध से पहले बंगाल-बिहार मराठों के आधिपत्य में थे। इन दोनों प्रान्तों से उन्हें नियमित चौथ मिलती थी। लेकिन अपने साम्राज्य के उन प्रान्तों में विदेशी क्या षड्यन्त्र कर रहे हैं, इसकी कुछ भी सुध मराठा-राज्य के नेताओं ने नहीं रक्खी और वहाँ घटनाओं के प्रवाह को मनमाने ढंग से बहने दिया। ड्रेक बालाजीराव की मदद चाहता या न चाहता, बंगाल-बिहार की इन घटनाओं के बीच दखल देना अधिपति-शक्ति की हैसियत से उसका कर्त्तव्य था; जो नवाब उसे चौथ देता था उसकी रक्षा करना उसका कर्त्तव्य था। और, यदि वह नवाब की विपत्ति से लाभ उठाकर बंगाल-बिहार को सीधा अपने कब्जे में लेना चाहता था, तो भी ड्रेक की या नवाब की 'मदद' के लिए इस अवसर पर सेना के साथ बंगाल-बिहार में हस्तक्षेप करना उसके लिए अत्यन्त आवश्यक था।

बिहार वापस लेने की तजवीजें और कोशिशें

दिल्ली में अब्दाली के अत्याचारों के समाचार पाकर पेशवा ने अपने भाई रघुनाथराव को तुरंत उत्तर-भारत भेजा। मार्च १७५७ ई० के अन्त में अब्दाली नजीब खाँ रुहेला को दिल्ली में अपना प्रतिनिधि नियुक्त कर लौटा। उसके लौटते-लौटते रघुनाथ राव ने दिल्ली को घेर लिया। पलाशी की लड़ाई के ढाई महीने बाद रघुनाथराव को दिल्ली सौंपते हुए नजीब ने कहा—"यदि चाहो तो मैं अब्दाली के पास जाऊँ और सीमाएँ निश्चित करके संधि करा दूँ।" यदि इस समय भी मराठा नेताओं ने बंगाल-बिहार की स्थिति की गंभीरता समझी होती तो अफगानों से समझौता कर वे पूर्वी प्रान्तों का उद्धार करते।

अगले वसन्त में पंजाब को भी जीतकर रघुनाथराव दक्खिन वापस लौट गया। १७५८ ई० के अन्त में पेशवा ने मल्हारराव होल्कर के बजाय दत्ताजी शिन्दे को आगरा का सूबेदार और उत्तर भारत में अपना मुख्य प्रतिनिधि बनाकर भेजा। पंजाब पर अपने अधिकार को दृढ़ करना तथा बिहार जीतना, ये दो कार्य उसे मुख्यतः सौंपे गए थे। पेशवा ने अब यह समझ लिया था कि इमादुल्मुल्क कमीना और नीच आदमी है तथा उसे हटाकर सफदरजंग के बेटे शुजाउद्दौला को वजीर का पद देना चाहिए। उसकी योजना यह थी कि दत्ताजी बादशाह और वजीर को साथ लेकर बिहार-बंगाल पर चढ़ाई के लिए दिल्ली से बढ़ेगा। रघुनाथराव भी बुंदेलखंड पर प्रयाग के रास्ते उससे आ मिलता। "बिहार की चढ़ाई के लिए नजीब से हो सके तो समझौता

करना अन्यथा उसे उखाड़ देना था; क्योंकि उत्तर भारत में मराठा-नीति के मार्ग में वह एक-मात्र काँटा था" (इ० प्र० ४४३)।

इन तजवीजों से प्रकट होता है कि पेशवा ने अफगानों के साथ-साथ अंग्रेजों से भी निपटने की सोची थी; लेकिन उसने अफगानों का मूल्य और अंग्रेजों का खतरा ठीक-ठीक नहीं पहचाना। नजीब खाँ बहादुर, सयाना और ठोस आदमी था। यदि पेशवा को उससे सचमुच समझौता करना था तो निरे सैनिक दत्ताजी के बजाय मल्हार होल्कर को, जिसे नजीब अपना बाप मानता था, यह काम सौंपना था। जैसा कि होना ही था, इमाद ने दत्ताजी के सामने झुककर अपनेको बचा लिया और नजीब से समझौता न हो सका। हरद्वार के ३२ मील नीचे गंगा के कछार में, शूकरताल नामक स्थान पर, नजीब ने होशियारी से मोरचाबंदी करके दत्ताजी को ऐसा उलझाया कि न तो वह पंजाब जा सका, न बिहार। शूकरताल दूसरा नागोर बन गया। इसी दशा में अक्टूबर १७५९ में अब्दाली ने फिर पंजाब पर चढ़ाई की और दत्ताजी को हटकर दिल्ली जाना पड़ा, जहाँ जमना के दियारे में बहादुरी से लड़ता हुआ वह काटा गया (९-१-१७६० ई०)।

इधर दिल्ली का एक शाहजादा अली गौहर भी अंग्रेजों और मीर जाफर से बिहार वापस लेने की कोशिश कर रहा था। अली गौहर उस आलमगीर (द्वितीय) का बेटा था, जिसे अहमदशाह की हत्या के बाद इमाद ने बादशाह बनाया था। अली-

गौहर को दरबार में नाम मात्र को बिहार की सूबेदारी दी गई थी। १७५८ के अन्त में इमाद ने उसे मरवाने की कोशिश की; पर वह बचकर अवध के नवाब शुजाउद्दौला के पास भाग आया था। १७५९ के मार्च में वह शुजाउद्दौला के एक सम्बन्धी, इलाहाबाद के फौजदार मुहमद कुली खाँ, को साथ लेकर इस आशा से कि बिहार से परदेशियों को निकालने में लोग उसका साथ देंगे, सिर्फ ५००० सवार लेकर बिहार आया। भोजपुर, टिकारी आदि के जमींदार और बहुत-से लोग उसकी सेना में आ-आकर भरती होने लगे। पटने तक पहुँचते-पहुँचते उसके साथ करोब ४० हजार सेना हो गई। राजा रामनारायण अपनेको शाहजादा का मुकाबला करने में असमर्थ देख, कुछ दिन बात-चीत चला, भेंट-नजराने दे, समझौते के लिए उसे मनाने की कोशिश करता रहा। शाहजादा करीब एक महोने तक पटना का घेरा डाले पड़ा रहा। उसने किले की दो फसीलें जीत लीं; पर अन्त में नवाब के लड़के मीरन और लॉक नामक अंग्रेज के नेतृत्व में अंग्रेजी सेना आने पर उसे घेरा उठाना पड़ा।

वर्ष के अंत में शाहजादा ने एक वार फिर बिहार पर हमला किया। तभी उसे खबर मिली कि अब्दाली के दिल्ली के करीब आने पर इमाद ने उसके पिता आलमगीर की जान ले ली है। अली गौहर ने तब शुजाउद्दौला की मदद से अपने-आपको शाह आलम के नाम से बादशाह घोषित कर एक बड़ी सेना के साथ पटना पर हमला किया। रामनारायण ने पटना से

आगे बढ़ उसका मुकाबला किया। उसे हरा और जख्मी करके शाहआलम ने पटना का घेरा डाल दिया। २६ फरवरी १७६० को लेफ्टिनेंट कलौड और मीरन की सेनाओं के पहुँचने पर, उसने पटना का घेरा उठाया और घुड़सवार सेना के साथ सहसा बंगाल की तरफ बढ़ा। कलौड ने राजमहल तक जाकर उसे पकड़ा। दूसरी तरफ से मीर जाफर भी एक बड़ी सेना के साथ आ पहुँचा। शाहआलम पीछे मुड़ा और पटना को अरक्षित जान फिर लेने की कोशिश की। पर अंग्रेजी सेना भी उसके साथ दौड़ लगाती हुई पटना आ पहुँची और उसका वह प्रयत्न विफल हुआ।

इस बीच पुर्णिया का शासक खादिम हुसेन छ हजार सेना जुटा, मीर जाफर से विद्रोह कर, शाही सेना से मिलने पटना आ रहा था। कलौड और मीरन की सेना ने उसे हराकर वापस भागने को बाध्य किया और उसका पीछा किया। खादिम चम्पारन की तरफ भागा। अंग्रेजी सेना मीरन को साथ ले उसके पीछे-पीछे गई। इस यात्रा में तीन जुलाई की रात को मीरन की सहसा मृत्यु हुई। मीर जाफर का यह योग्य बेटा अंग्रेजों की आँखों में खटकता था। कहा यह गया कि उसके खेमे पर अचानक बिजली गिरने से उसकी मृत्यु हो गई! खादिम अवध भाग गया और नवाब की सेना वापस पटना लौट आई।

इस बीच फ्रांसीसी सरकार ने लाली नामक सेनापति को भारत भेजा, जो अप्रैल १७५८ ई० में तामिलनाड पहुँचा।

लाली दूसरा दत्ताजी शिन्दे था। उसने आते ही अंग्रेजों से देवनपटम (फोर्ट-सेंट-डैविड) का किला ले लिया और "मद्रास पर हमला करने के लिए उसने त्रिची और मुसली-पट्टम-वाली टुकड़ियों तथा बुसी को भी बुला लिया। बुसी ने उसे समझाना चाहा कि उसे हैदराबाद में रहने दिया जाय। लेकिन लाली ने कहा—"मुझे बादशाह और कंपनी ने हिन्दुस्तान भेजा है अंग्रेजों को मार भगाने के लिए।......मुझे इससे क्या मतलब है कि अमुक-अमुक राजा अमुक नवाबी के लिए लड़ रहे हैं"? (इ० प्र० ४४१)। लाली ने लिखा था कि "मद्रास लेते ही मेरा इरादा स्थल या समुद्र के रास्ते फौरन् गंगा-पार पहुँचने का है।" लेकिन मद्रास फ्रांसीसियों का शूकर-ताल बन गया। आन्ध्रतट की फ्रांसीसी जागीर को अरक्षित पाकर अप्रैल सन् १७५९ में अंग्रेजों ने उसे जीत लिया। उस वर्ष के अन्त में लाली की मूर्खता से बुसी कैद हो गया और तामिलनाड पर अंग्रेजों का करीब-करीब पूरा कब्जा हो गया। इधर आन्ध्र की फ्रांसीसी जागीर छिनी, उधर सलावत जंग से हैदराबाद की गद्दी उसके छोटे भाई निजाम अली ने छीन ली। निजाम अली ने पेशवा के रोकने पर भी अंग्रेजों से दोस्ती गाँठी, इसलिए पेशवा ने उसपर चढ़ाई की। उद्गीर पर हार-कर वह अउसा के कोटले में घिर गया और चार दिन बाद उसने संधि की, जिसके अनुसार ६२ लाख की आय का प्रदेश मराठों को दे दिया गया।

सितम्बर १७६० ई० में लाली को पुदुचेरी में सर आयरकूट ने घेर लिया। उस समय उसने पेशवा से सहायता माँगी। पेशवा मोल-भाव करता रह गया और जनवरी १७६१ ई० में, जब मराठे पानीपत में उलझे थे, कूट ने पुदुचेरी ले ली।

दिसम्बर १७५९ में पंजाब लेने के बाद अब्दाली जमना पार करने के बाद नजीब से आ मिला था। जनवरी में उसने दत्ताजी शिन्दे को काटकर दिल्ली ले ली। इसके बाद गरमियों से पहले ही वह लौटने लगा; पर नजीब ने मिन्नत करके उस साल उसे रुहेलखंड में ही रख लिया। दत्ताजी की मृत्यु के बाद मल्हार होल्कर उसकी रोक-थाम करता रहा, और गरमियों में सदाशिवराव भाऊ महाराष्ट्र से बड़ी सेना के साथ आ पहुँचा। भाऊ ने आते ही जमना पारकर अब्दाली पर हमला करना चाहा; पर जमना में उस साल बाढ़ थी। भाऊ ने तब दिल्ली ले ली। इस बीच अब्दाली संधि के लिए मिन्नत करता रहा। "मराठे यदि पंजाब पर दावा छोड़ दें और रुहेलों को न सताने का वचन दें तो अब्दाली अब लौटने को उत्सुक था; परन्तु पेशवा की पंजाब के लिए जिद्द" * के कारण संधि की बातचीत विफल हुई। यह प्रसिद्ध है कि भाऊ के अभिमानी बरताव और अन्य गलतियों के कारण मराठों को पानीपत की हार हुई। समकालिक कागजों की नई खोज से यह गलत सिद्ध हुआ है। पानीपत की हार का पूरा दायित्व भाऊ के मालिक पेशवा पर था। सर

* इ० प्र० ४४७।

यदुनाथ सरकार के शब्दों में मराठा-दरबार का "वस्तुस्थिति के प्रति बिल्कुल अन्धापन, संबद्ध दूरदर्शी नीति का और ले-दे कर समझौता करने की व्यावहारिक बुद्धि का अभाव, और सबसे बढ़कर, राजव्यवहार में पूरी असफलता—एक शब्द में राजनेतृत्व का अभाव" इस संहार का कारण थे।

पानीपत के मैदान में मराठों की, बिहार-बंगाल को वापस लेने की, आशा धूल में मिल गई। जहाँ तक यह प्रश्न था कि भारत में मराठों की प्रमुखता रहे कि अफगानों की, वहाँ तक पानीपत में कोई स्थायी निर्णय नहीं हुआ; किन्तु बिहार-बंगाल के भाग्य का निर्णय पानीपत के मैदान में हो गया—मराठे और रुहेले दोनों की शक्ति टूट जाने से अंग्रेजों को पैर जमाने का मौका मिल गया!

मीर कासिम

मीर जाफर शासन करने के सर्वथा अयोग्य था। उसने निजामत के पुराने अधिकारियों को निकालकर अपने सगे-सम्बन्धियों को भरना चाहा। इससे लोग उससे असंतुष्ट थे। इसके अतिरिक्त वह अंग्रेजों की रकमें भी ठीक से अब तक भुगता न पाया था। अंग्रेजों के फौजी खर्च बहुत बढ़ गए थे। नवाब से और पैसा वसूलने का कोई ढंग न देख सन् १७६० में उन्होंने उसके नौजवान दामाद मीर कासिम को मसनद पर बिठाना तय किया। क्लाइव विलायत जा चुका था। उसके उत्तराधिकारी वंसिटार्ट ने मुर्शिदाबाद जाकर मीर जाफर को गद्दी से उतार उसकी जगह

मीर कासिम को बिठाया। बदले में मीर कासिम ने पाँच लाख रुपया और मेदिनीपुर, बर्दवान और चटगाँव जिलों की मालगुजारी फौजी खर्च के लिए कम्पनी को तथा २० लाख की रिश्वतें कलकत्ता-कौंसिल के मेम्बरों को दीं।

पानीपत के युद्ध के बाद, शाह आलम ने, जो बादशाह स्वीकार किए जाने पर भी रुहेलों के डर से दिल्ली न जाकर अवध के नवाब शुजाउद्दौला के आश्रय में इलाहाबाद रहता था, शुजाउद्दौला के साथ फिर बिहार पर चढ़ाई की। पर नवाब और अंग्रेजों ने उसे फिर हरा दिया। इसके बाद अंग्रेज सेनापति कार्नाक उसे बड़े आदर से पटना लाया, जहाँ उसका बड़ा सम्मान किया गया। बादशाह ने दरबार कर कासिम की नजर ली और उसे नवाबी की खिलअत बख्शी। मीर कासिम ने २४ लाख सालाना खिराज देना मंजूर किया। बादशाह चाहता था कि अंग्रेज उसे दिल्ली ले जाकर स्थापित कर दें; पर अंग्रेज अभी उस झमेले में पड़ने को तैयार न थे। शाह आलम उदास होकर लौट गया।

मीर कासिम योग्य शासक था, और अंग्रेजों को वह खूब समझ गया था। उसने अपने दरबार के खर्चे घटाकर तथा और तरह रुपया जमाकर शीघ्र ही अंग्रेजों की सब रकमें और अपनी सेना का बाकी वेतन चुका दिया। बिहार के नायब नाजिम राजा रामनारायण को, जो अंग्रेजों का पक्का पिट्ठू था, उसने एक अपराध में पकड़कर जेल में डाल दिया। मुर्शिदाबाद में

राजधानी रखने से हमेशा अंग्रेजों की नजर के नीचे रहना पड़ता, इसलिए वह अपनी राजधानी मुंगेर ले आया। मुंगेर में उसने तोपें और बन्दूकें ढालने का एक कारखाना खोला; तथा समरू नाम के एक स्विस सेनापति को अपनी सेवा में रखकर यूरोपियन शैली पर नई सेना का संगठन किया। शासन को हर पहलू से उसने सुधारना चाहा, पर अंग्रेजों ने अड़ंगे लगाकर उसे सफल होने न दिया।

अंग्रेजी राज की पहली किश्त

फर्रुखसियर के समय से बिहार-बंगाल में, कम्पनी यूरोप से जो माल लाती और ले जाती उसपर, चुंगी की माफी थी। माल कम्पनी का ही है, यह प्रमाणित करने के लिए कम्पनी के मुखिया 'दस्तक' देते थे। कम्पनी के गुमाश्ते थोड़ा-बहुत खानगी व्यापार भी करते थे, और उसमें भी कम्पनी के दस्तकों का उपयोग बेईमानी से किया जाता था। जबतक वह कम परिमाण में होता था, नवाब के चुंगी के अधिकारी उसपर चश्मपोशी करते रहे। पर पलाशी की विजय के बाद से कम्पनी के नौकर जनता के रोजमर्रा के उपयोग की प्रत्येक चीज—अनाज, तेल, नमक, पान, लकड़ी आदि—का स्थानीय व्यापार भी करने लगे और वे झूठे दस्तक लिये तथा अपनी नावों पर यूनियन जैक (अंग्रेजी झंडा) उड़ाते हुए उस व्यापार पर भी नवाब के कर्मचारियों को चुंगी देने से इनकार करते। "नवाब का चुंगी का कोई अधिकारी कहीं उन्हें टोकता या दस्तक पर एतराज करने और माल को

रोकने की हिम्मत करता तो उस 'गुस्ताख' को पकड़कर पास की फैक्टरी में ले जाने के लिए सिपाही भेजे जाते", "और उसकी मुश्कें बाँधकर पिटवाया जाता।"

कम्पनी के अंग्रेज नौकरों का हर गुमाश्ता बाजार में खरीद-फरोख्त के समय अपनेको एकदम ऐसी हैसियत में समझता कि वह देशवासियों को अपने हाथ माल बेंचने या खरीदने के लिए मजबूर करता; इनकार करने या असमर्थता जाहिर करने पर कोड़े लगवाता या गिरफ्तारी करा देता। इन गुमाश्तों की मदद के लिए अंग्रेजी फौज के दस्ते हर जगह पहुँचने को तैयार रहते। यही नहीं, व्यापार की कुछ चीजों पर—सुपारी, तमाखू, नमक आदि सर्वसाधारण के रोजमर्रा के उपयोग की चीजों पर—कम्पनी के नौकरों ने जबरदस्ती अपना एकाधिकार कर लिया। "ये व्यापारी (या इनके गुमाश्ते) सब जगह नजर आते। ये अपने दामों पर चीजें बेचते और लोगों को अपना माल इनके खुद के लगाए दामों पर बेचने के लिए भी मजबूर करते। ऐसा मालूम होता था कि व्यापार के नाम पर फौज, और कुछ नहीं, लोगों को लूटने निकली हो।" "हर गुमाश्ता जहाँ-कहीं अपनी 'कचहरी' लगा लेता, छोटे-बड़े सब पर हुकूमत चलाता और चौकी बिठाकर लोगों की तलाशियाँ लेकर जुर्माने वसूल करता था।" गुमाश्तों की इन कचहरियों पर फहरानेवाले अंग्रेजी झंडों ने बिहार-बंगाल की जनता को समझा दिया कि उनके देश का असल शासक अब नवाब नहीं—अंग्रेज थे।

कम्पनी के निर्यात-व्यापार का यह हाल था कि कम्पनी के गुमाश्ते किसी भी औरँग (कारीगरों की बस्ती) में जा, अपनी कचहरी लगाकर बैठ जाते और हरकारे भेजकर दलालों और कारीगरों को वहाँ बुलाते। पेशगी रुपये देकर उनसे जबरदस्ती इकरार लिखाया जाता कि अमुक माल अमुक दाम पर अमुक दिन तक देना होगा। इनकार करने या जरा भी प्रतिवाद करने पर कोड़ों से उनको मरम्मत की जाती। जिस कारीगर का नाम एक बार इन गुमाश्तों की बही में दर्ज हो जाता वह फिर दूसरे के काम में हाथ न लगा पाता। जुलाहे और नागोड (रेशम के कारीगर) इन जोर-जुल्मों से तंग आकर, बचने का कोई उपाय न देख, अपने हाथों के अँगूठे काट लेते।

संसार के इतिहास में इस तरह के संगठित गुंडापन और लूट के दृष्टान्त बहुत कम हैं। यह अंग्रेजी राज की पहली किश्त थी जो बिहार-बंगाल के हिस्से में आई। व्यापार के नाम पर इस खुली लूट से प्रान्त के सभी शिल्प-व्यवसाय चौपट हो गए; व्यापार की प्रायः हर शाखा पर अब कम्पनी का या उसके गुमाश्तों का एकाधिकार कायम हो गया। लोग इन सबके लिए नवाब को दोषी समझते। अनेक जमींदारों या स्थानीय शासकों ने, अपनी प्रजा की यह बरबादी न बरदाश्त होने पर, नवाब और कम्पनी के खिलाफ विद्रोह किए। नवाब की चुंगी की आमदनी बहुत कम हो गई। मीर कासिम ने अंग्रेजों से इसकी बार-बार शिकायत की, पर जब कोई नतीजा न निकला तब

उसने अपनी आमदनी की परवा न करके देसी व्यापारियों और जनता की रक्षा के लिए प्रान्त में चुंगी मात्र ही उठा दी। अंग्रेजों ने इसका विरोध किया। उन्होंने कहा—देशी व्यापार से यों चुंगी उठा देना इंगलैंड के 'न्याय्य हकों' पर आघात है! कलकत्ता-कौंसिल के दो मेम्बर नवाब को डराने के लिए मुंगेर पहुँचे। पर नवाब अपनी बात पर डटा रहा। तब कम्पनी के अधिकारियों ने मीर जाफर को फिर नवाब बनाने के लिए षड्-यन्त्र शुरू किया।

बक्सर

पलासी की लड़ाई के बाद भी नागपुर के मराठों ने अपनी चौथ की माँग छोड़ न दी थी। कटक के अधिकारी शिवभट्ट साठे ने इसके लिए सन् १७६०–६१ ई० में बर्दवान-वीरभूमि के रास्ते मुंगेर पर चढ़ाई की, और मेदिनीपुर के कलक्टर को घेर लिया था। अंग्रेजों ने उसे भगा दिया और यह कहा था कि वे इस मामले में सीधे जनोजी से ही बात करेंगे। सन् १७६२ में जनोजी का दूत गोविन्द चिटनीस चौथ की माँग करने कलकत्ते पहुँचा। अंग्रेजों ने बकाया चौथ दे दी और आगे इस शर्त्त पर चौथ देना माना कि जनोजी नवाब की कोई मदद न करे।

इस बीच कलकत्ता-कौंसिल के दो मेम्बर मुंगेर में नवाब को डराने-धमकाने में लगे थे, और कौंसिल लड़ाई की तैयारी भी कर रही थी। पटना की अंग्रेजी कोठी के मुखिया एलिस को मदद के लिए हथियारों से भरी दो नावें गंगा के रास्ते कलकत्ते

से भेजी गईं। मीर कासिम ने वे नावें पकड़ लीं। उधर एलिस ने एक रात धोखे से पटना शहर पर कब्जा कर लूटा, पर नवाब की सेना ने उसे हराकर कुल बलवाइयों को गिरफ्तार कर लिया। इसके बाद नवाब ने प्रान्त में सब अंग्रेजों को गिरफ्तार कर लिया। दो कौंसिलरों में से एक को ओल के रूप में रखकर दूसरे को उसने जाने दिया। पर अंग्रेजों के व्यवहार से प्रजा इतनी उत्तेजित हो गई थी कि वह दूत मुंगेर से मुर्शिदाबाद के रास्ते में ही मारा गया।

तब कम्पनी ने दिसम्बर सन् १७६३ ई० में युद्ध-घोषणा की और मीर जाफर को मुर्शिदाबाद की मसनद पर बिठा मीर-कासिम के विरुद्ध चढ़ाई की। नवाब मीरकासिम ने जनोजी भोंसले से मदद माँगी; पर जनोजी का अंग्रेजों से समझौता हो चुका था, इसलिए उसे कोई मदद न मिली। मीर कासिम ने राजमहल से पूरब उधुवा नाले पर मोर्चा लिया। उसकी सेना एक महीने तक नदी के सब घाट रोके पड़ी रही। नजफ खाँ नामक एक बिहारी मुसलमान सेनापति एक गुप्त घाट से नदी पार कर अंग्रेजी सेना पर धावे मार उन्हें त्रस्त करता रहा। मीर कासिम की सेना काफी सुशिक्षित और हथियारों से लैस थी। वे हथियार उसके मुंगेरवाले कारखानों के ही बने थे। पीछे यह पाया गया कि उसकी बन्दूकें कम्पनी की विलायती बन्दूकों से कहीं अच्छी थीं। पर नवाब की सबसे बड़ी कमजोरी यह थी कि उसकी सेना के अफसर प्रायः सब

आर्मीनियन थे। ये गद्दार अन्दर-ही-अन्दर शत्रु से मिल गए। एक अंग्रेज भी कम्पनी की सेवा से विद्रोह कर नवाब की सेवा में आया हुआ था। वह अब फिर अपने देशवासियों से जा मिला और उन्हें गुप्त घाट का पता दे दिया। अंग्रेजी सेना ने रात को नदी पार की, और नवाब की बेसुध फौज पर आ टूटी। मीर कासिम अंग्रेजों और अन्य राजनीतिक कैदियों को ले मुंगेर से भागा। उसने अपने परिवार को रोहतास भेज दिया। अंग्रेजी सेना मुंगेर लेकर पटना की तरफ बढ़ी।

नवाब की सेना के यूरोपियन और ईसाई नौकर प्रायः सभी दुश्मन से मिल षड्यन्त्र कर रहे थे। रामनारायण, जगत सेठ आदि भी, जिन्हें नवाब ने अंग्रेजों से साजिश करने के अपराध में गिरफ्तार कर रक्खा था, अन्दर-ही-अन्दर कुचक्र चला रहे थे। पटना में अपने स्विस सेनापति समरू की सलाह से नवाब ने उन सबको तथा पटने के एलिस आदि बलवाइयों को प्राण-दण्ड दिया। अंग्रेजी सेना के निकट पहुँचने पर नवाब और समरू दोनों बची हुई सेना और खजाने को साथ लेकर बिहार छोड़ अवध के नवाब की शरण में भाग गए। अंग्रेजों ने पटना लेकर समूचे बिहार पर दखल कर लिया।

बड़ी कोशिशों के बाद मीर कासिम अवध के नवाब-वजीर शुजाउद्दौला और बादशाह शाह आलम को, जो वजीर के आश्रय में इलाहाबाद टिका हुआ था, अंग्रेजों के विरुद्ध बिहार पर चढ़ा लाया। वजीर की सेना ने बिहार को ध्वंस कर प्रजा को

लूटना शुरू किया। इससे बिहारी प्रजा, जो उनके आक्रमण द्वारा अंग्रेजों से छुटकारा पाने की आशा से उत्साहित हो रही थी, अब उनसे बड़ी निराश हुई। अंग्रेजों के एक मित्र, राजा शिताबराय का लड़का कल्याणसिंह* वजीर शुजाउद्दौला के यहाँ मुलाजिम था। अंग्रेजों ने उसके और एक सैयद गुलाम हुसेन के जरिये अवध की फौज में काफी षड्यन्त्र फैलाए। अन्त में उन दोनों की गद्दारी से रोहतास का किला अंग्रेजों के हाथ आने पर शुजा को पटना का घेरा उठा कर्मनाशा के तट पर भाग जाना पड़ा। अंग्रेजों ने इस बीच शाह आलम को भी अपनी तरफ फोड़ लिया था। बरसात के बाद मेजर मुनरो मुख्य सेनापति नियुक्त होकर आया और वजीर तथा बादशाह के खिलाफ जोरों से लड़ाई छेड़ी (अक्तूबर १७६४ ई०)। बक्सर के पास चौसा में उसने शुजा को हराकर भगा दिया। बादशाह तब खुल्लमखुल्ला अंग्रेजों की शरण में आ गया। मीर कासिम और समरू, पराजय निश्चित देख, पहले ही भाग खड़े हुए थे।

अंग्रेजों ने कर्मनाशा पार कर चुनार का किला घेर लिया। काशी का राजा बलवन्तसिंह भी अंग्रेजों से मिल गया था। शुजा का पीछा कर अंग्रेजों ने लखनऊ और इलाहाबाद भी ले

---

* यही कल्याणसिंह 'खुलासुत्तवारीख' का तथा गुलामहुसेन 'सियरुल मुताखरीन' का लेखक था।

लिये। शुजा ने तब रुहेलों और मराठों से मदद माँगी। पानीपत की हार के बाद मराठों को अपना साम्राज्य बचाने के लिए जहाँ-तहाँ शत्रुओं का मुकाबला करना पड़ रहा था। उत्तर भारत में बूढ़ा मल्हार होल्कर अकेला कभी राजपूताने में, कभी मालवे में, कभी बुन्देलखण्ड में मराठा-साम्राज्य की रक्षा के लिए इधर-से-उधर भागा फिरता था। शुजा ने उसकी कठिनाई के समय मराठों से कालपी और झाँसी छीन ली थी, तो भी अब शुजा के बुलाने से वह उसकी मदद को आया। पर ३ मई सन् १७६५ को कोरा (जि० फतहपुर) के मैदान में उसे सर रॉबर्ट फ्लेचर की तोपों के मुकाबले में भागना पड़ा। तब शुजा ने आत्मसमर्पण कर दिया। उसी वर्ष फिर क्लाइव इंगलैंड से भारत आया।

मीर जाफर की मृत्यु हो चुकी थी (५-२-१७६५), और कलकत्ता-कौंसिल के मेम्बरों ने २० लाख रुपया रिश्वत लेकर उसके बेटे नजीमुद्दौला को नवाब बनाया। लेकिन नजीमुद्दौला अब बिलकुल ही नाम का नवाब बना। शासन के सब हक उससे ले लिये गए। उसकी फौज तोड़ दी गई। अंग्रेजों के व्यापार पर से चुंगी बिलकुल उठा दी गई। नवाब ने अपने पिता के सलाहकार महाराज नन्दकुमार को अपना दीवान बनाना चाहा था, पर अंग्रेज उससे नाराज थे। अतः बंगाल में मुहम्मद रजा खाँ दीवान मुकर्रर किया गया—बिहार में शिताबराय को वह पद दिया गया। नवाब को खर्च के लिए ५० लाख रुपया

सालाना देना तय किया गया। नन्दकुमार पकड़कर कलकत्ते में कैद कर दिया गया। क्लाइव की इच्छा थी कि मीर जाफर के छोटे बेटे को, जो छः साल का था, नवाब बनाकर शासन पूरी तरह अपने हाथ में ले लिया जाय। पर जबतक वह कलकत्ते पहुँचा, यह इन्तजाम पूरा हो चुका था। वह कलकत्ते से मुर्शिदाबाद होता हुआ सीधा बनारस पहुँचा। वहाँ उसने शुजा से और फिर इलाहाबाद जाकर बादशाह से अलग-अलग सन्धि की। शुजा को ५० लाख रुपया हरजाना के रूप में अंग्रेजों को देना पड़ा तथा काशी-राज्य को अंग्रेजों की रक्षा में सौंप देना पड़ा। उसने अंग्रेजों के शत्रु को अपना शत्रु समझना और राज्य की रक्षा के लिए उनपर निर्भर रहना भी स्वीकार किया। क्लाइव का यह प्रस्ताव भी था कि अवध में कम्पनी के व्यापार पर चुंगी माफ कर दी जाय; पर मीर कासिम के तजरबे से शुजा को मालूम हो गया था कि एक बार चुंगी की माफी मिलने पर अंग्रेज अपना व्यापार किस तरह चलाते हैं। शुजा ने कहा कि वह बिहार-बंगाल की-सी हालत अवध में नहीं पैदा होने देना चाहता। उसके आपत्ति करने पर क्लाइव को अपना प्रस्ताव छोड़ना पड़ा।

शाह आलम ने अंग्रेजी कम्पनी को बिहार-बंगाल और उड़ीसा की दीवानी बाकायदा दे दी। उड़ीसा का तो केवल मेदिनीपुर जिला अंग्रेजों के कब्जे में था, बाकी सब मराठा-साम्राज्य में था। अंग्रेजों ने इन प्रान्तों की आमदनी में से २६ लाख रुपया

सालाना बादशाह को देना माना तथा कोरा (फतहपुर) और कड़ा (इलाहाबाद) जिले बादशाह को नवाब से दिला दिए। वहाँ वह अंग्रेजी फौज की रक्षा में रहने लगा।

इस बीच मराठा-साम्राज्य बहुत-कुछ सँभल गया था। सन् १७७६ में रघुनाथराव एक बड़ी फौज लेकर उत्तर-भारत में आया। तब क्लाइव ने छपरा में शुजा, रुहेलों, जाटों आदि सब मराठा-विरोधी शक्तियों की एक 'कांग्रेस' बुलाई और मराठों के खिलाफ गुट्ट बनाने का यत्न किया।

पलाशी-युद्ध के बाद ९ सालों में बिहार-बंगाल से कम्पनी के नौकरों को प्राय: ६ करोड़ रुपया भेंट, रिश्वत आदि के तौर पर मिला था। कम्पनी ने क्लाइव को इस बार मुख्यत: कम्पनी के नौकरों के खानगी व्यापार और भेंट आदि के कारण होनेवाली अव्यवस्था का अन्त करने और अपने व्यापार को व्यवस्थित करने की गरज से ही भेजा था। उसने कम्पनी के नौकरों को भेंट लेने की सख्त मनाही कर दी तथा व्यक्तिगत व्यापार के नाम पर होनेवाली लूट को बन्द करने के बजाय व्यवस्थित कर दिया। कम्पनी के नौकरों की, पद के अनुसार पत्ती डालकर, उसने एक साझेदारी बना दी और उसे बंगाल-बिहार में नमक, सुपारी, तम्बाकू, अफीम आदि के व्यापार का एकाधिकार दे दिया।

इन सुधारों के करने के बाद सन १७६७ ई० के शुरू में वह इंग्लैंड लौट गया। बाद में डाइरेक्टरों ने नए खानगी व्यापार की साझेदारी तोड़ उसे बंद कर दिया, और नमक तथा अफीम

के व्यापार का एकाधिकार कम्पनी के ही हाथ में कर लिया। कम्पनी के निर्यात-व्यापार के नाम पर जुलाहों पर जो जुल्म होते थे, उन्हें न क्लाइव ने रोका और न डाइरेक्टरों ने। वह 'व्यापार' सन् १८३३ ई० तक बदस्तूर जारी रहा।

सत्रहवाँ अध्याय

अंग्रेजी राज

[१७६६—१९०५ ई०]

पलाशी से अंग्रेजी राज की पहली किश्त शुरू हुई थी। बक्सर से कम्पनी को बिहार-बंगाल की दीवानी मिलने पर अंग्रेजी राज की दूसरी किश्त शुरू हुई। अंग्रेज अब बिहार-बंगाल के कोश और सेना दोनों के मालिक थे। पर शासन और न्याय की जिम्मेदारी उन्होंने अपने ऊपर नहीं ली। वह काम अब भी तथाकथित नवाब के हाकिमों के जिम्मे था, जो अंग्रेज कारिन्दों की कठपुतली बने रहते। मालगुजारी की वसूली का काम भी पुराने हाकिमों पर था, जिनके ऊपर हर जिले में अंग्रेज व्यापारियों की कौंसिल बना दी गई थी। यह एक तरह का दुराज था, जिसमें शासन का लाभ तो अंग्रेजों का था, पर कर-दाताओं की रक्षा का दायित्व उन पर कुछ भी नहीं था। राज-नीति का यह नया धन्धा कम्पनी के व्यापारियों के लिए बड़े मुनाफे का था।

दुराज, दुर्भिक्ष और नियामक कानून

अपने मुनाफे के लिए मालगुजारी की दर उन्होंने खूब बढ़ाकर उसकी वसूली बड़ी सख्ती से करनी शुरू की। जिलों की कौंसिलें हर साल नीलामी के जरिये ऊँची-से-ऊँची बोली बोलनेवालों को मालगुजारी की वसूली सौंप देतीं। पुराने जागीरदार या जमींदार सैनिक सेवा के बदले वसूली का अधिकार पाते थे—स्थानीय शान्ति और व्यवस्था का जिम्मा भी उन पर होता। प्रजा की सहानुभूति और प्रेम पर ही उनकी अपनी हस्ती कायम थी। अतः उन्हें प्रजा के कष्टनिवारण और आसूदगी का ध्यान रहता और वे परम्परा से बँधी हुई दरों पर वसूली करते थे। अब जमींदारों के लिए सैनिक सेवा का काम तो न रह गया और वसूली का काम भी सार्वजनिक सेवा के बजाय एक व्यापार बन गया। पुरानी परम्परा के अनुसार चलनेवाले पुराने जमींदार उस व्यापारी ढंग पर प्रायः न चल सके। उनकी जमींदारियाँ नीलाम होती गईं और उनके स्थान में कलकत्ते के दलाल और अंग्रेजों के गुमाश्ते मालगुजारी के ठेके लेकर प्रजा पर अकथनीय जोर-जुल्म करने लगे। प्रजा की रक्षा और व्यवस्था की जिम्मेवारी जिस नवाब पर थी, वह स्वयं अशक्त और परमुखापेक्षी था। सारी शक्ति कम्पनी के हाथ में थी, जिसे अपने मुनाफे के सिवा प्रजा की रक्षा या सुख-दुःख से कोई वास्ता न था।

सन् १७६५ से ७१ ई० तक ६ वर्षों में कम्पनी को बिहार-बंगाल से तीन करोड़ रुपये की बचत हुई। यह सब विलायत भेजो

गई ! कम्पनी के नौकरों को भीतरी व्यापार, तनख्वाह आदि से होनेवाली आमदनी इससे अलग थी। १७६६ के बाद तीन वर्षों में विलायत से आए माल के बजाय ४३३ लाख रुपये का अधिक माल विलायत गया ! वह एक तरह का खिराज था, जो अब यहाँ से बाहर जाने लगा था।

इंगलैंड में भी तब नए कारखाने खड़े हो रहे थे। कम्पनी के डाइरेक्टरों ने हुक्म भेज बिहार-बंगाल में रेशमी कपड़े का बुना जाना बन्द कर दिया, और सूत भी सिर्फ कम्पनी की कोठियों में अटेरे जाने की आज्ञा दी। इस प्रकार उद्योग-धन्धों का नाश होने लगा। धन्धों के नाश, धन की सालाना निकासी और दुराज से प्रान्त की बड़ी बरबादी हुई। १७७० ई० में यहाँ भीषण दुर्भिक्ष पड़ा, कम्पनी के नौकरों ने अपना मुनाफा कमाने को अन्न पर एकाधिकार जमा जनता का कष्ट और भी बढ़ा दिया। बंगाल-बिहार की कुल तीन करोड़ आबादी में से एक करोड़ इस दुर्भिक्ष में तड़प-तड़पकर मर गई।

इंगलैंड में अब यह प्रश्न उठा कि कुछ अंग्रेज व्यापारियों द्वारा जीते हुए इस नए प्रदेश पर किसका अधिकार है—उन व्यापारियों का या अंग्रेजी राष्ट्र का ? स्वभावतः यहाँ अंग्रेजी राष्ट्र का अधिकार माना गया। ब्रिटिश पार्लिमेंट ने कम्पनी के मुनाफे की दर नियत कर दी और उसे ४ लाख पौंड (लगभग ४० लाख रुपया) सालाना खिराज के तौर पर ब्रिटिश सरकार के कोष में देने को कहा गया (१७६७ ई०)। पर दुर्भिक्ष और

अव्यवस्था के कारण कम्पनी की मालगुजारी न वसूली जा सकने से कम्पनी वह रकम जमा न करा पाई। तब कम्पनी के कामों को नियंत्रित करने को १७७३ ई० में एक रेग्यूलेटिंग ऐक्ट (नियामक कानून) पास हुआ। उसके अनुसार बिहार-बंगाल के दुराज का अंत किया गया। कलकत्ते के गवर्नर को गवर्नर-जनरल का पद दे, और उस समेत पाँच आदमियों की एक कौंसिल बना, बंगाल-बिहार का मुल्की और फौजी शासन सौंपा गया। न्याय के लिए एक सुप्रीम कोर्ट की स्थापना की गई। गवर्नर-जनरल और कौंसिल को रेगुलेशन बनाने का अधिकार दिया गया, जो सुप्रीम कोर्ट में प्रकाशित होने से कानून बन जाते; पर ब्रिटिश पार्लियामेंट चाहती तो उनमें रद्दोबदल कर सकती थी। गवर्नर-जनरल और कौंसिल अपने कार्यों के लिए पार्लियामेंट के सामने जवाबदेह थी। कम्पनी के डाइरेक्टरों को शासन-संबंधी सब कागजात पार्लिमेंट में पेश करना आवश्यक था।

सन् १७७२ में वारन हेस्टिंग्स कलकत्ते का गवर्नर था। रेग्यूलेटिंग ऐक्ट के अनुसार वह पहला गवर्नर-जनरल बनाया गया। उसने दुराज का अन्त कर प्रान्त में सीधा ब्रिटिश-शासन स्थापित किया। कलकत्ते में बोर्ड ऑफ रेवेन्यू की स्थापना हुई, जिसके नीचे मालगुजारी वसूल करने को हर जिले में कलक्टर रक्खे गए। कलकत्ते में एक सदर दीवानी और सदर निजामत अदालत स्थापित कर उनकी देखरेख में जिलों में दीवानी मामलों

अंग्रेजी शासन की स्थापना

की सुनवाई कलक्टर को और फौजदारी मामलों की पुराने देशी अधिकारियों को सौंपी गई। इस पर यह प्रश्न उठा कि अदालतें किस कानून के अनुसार फैसला करें। हेस्टिंग्स ने हिन्दू और मुसलमान विद्वानों द्वारा उनके कानूनों का संकलन करा एक 'कोड' (स्मृति) प्रकाशित कराया, जो हेस्टिंग्स कोड के नाम से प्रसिद्ध हुआ।

परन्तु मालगुजारी का इन्तजाम उसी तरह नीलामी द्वारा होता रहा। सिर्फ नीलामी की अवधि बढ़ाकर सालाना की जगह पाँच साल के लिए कर दी गई। इस कारण अनेक पुरानी जागीरें कलकत्ते के दलालों या अंग्रेजों के गुमाश्तों ने खरीद लीं, जो उन्हें कायम रखने को हर साल ऊँची-से ऊँची बोली बोलते और प्रजा को हर तरह तंग कर अपनी बढ़ी हुई रकम वसूल करते। प्रजा में इससे त्राहि-त्राहि मच गई। पुराने जागीरदारों ने कहीं-कहीं प्रजा की रक्षा के लिए हथियार उठाए *। किसान कई जगह जमीनें छोड़कर भागने

---

* इनमें हुसैपुर के राजा फतेसाहि का नाम उल्लेखनीय है। उसने १७७५ ई० में कम्पनी के माल-अधिकारी मीरजमाल और बन्दोबस्त करनेवाले अपने चचेरे भाई बलवन्त साहि को मार डाला तथा गोरखपुर-चम्पारन की सीमा के जंगलों में छिपकर अंग्रेजों का मुकाबला करता रहा। हेस्टिंग्स ने अवध के नवाब से मिल उसे गिरफ्तार करना चाहा, पर सफल न हुआ। पर अंग्रेजों ने उसे बिहार से खदेड़कर बलवन्तसाहि के पुत्र छत्रधारीसिंह को वहाँ की जमींदारी दे दी जिस वंश में अब हथुआ के जमींदार हैं।

लगे। पर अँग्रेजी सेना ने उनका दमन किया और किसानों को घेरकर जमीनों पर वापस धकेल दिया गया। यों अब स्वतन्त्र कृषकों की हैसियत बँधुए गुलामों की हो गई।

सन् १७६६-६७ में जब पेशवा माधवराव के नेतृत्व में मराठा-साम्राज्य फिर से सँभलने लगा, तभी नेपाल में एक नई शक्ति का उदय हुआ। गोरखा लोगों के पूर्वज तेरहवीं सदी में मेवाड़ से हिमालय में आए थे और पहले कुमाऊँ में बसे थे। वहाँ से पूरब बढ़ते हुए वे गोरखपुर के उत्तर गोरखा और पाल्पा नामक पहाड़ी बस्तियों में आए। गोरखा में बसने से ही वे गोरखा कहलाए। सन् १७६७ में उनके नेता पृथ्वीनारायण ने ठेठ नेपाल की दून पर—अर्थात् हिमालय की उस दून पर जिसमें बागमती का उद्‌गम है, और काठमांडू, पाटन और भातगाँव की बस्तियाँ हैं—चढ़ाई की, और उसे उसके पुराने नेवार-राजाओं से जीत लिया। पराजित नेवारों ने बेतिया पहुँचकर अँग्रेजों से मदद माँगी। इसपर मेजर किनलोच नेपाल में घुसा, पर गोरखों से हारकर वापस लौटा।

नेपाल और झारखंड

हमने देखा है कि झारखंड के छोटे-छोटे राज्यों—छोटा नागपुर (राँची), रामगढ़, पलामू, खड़गडीह आदि—से यद्यपि मुगल-सूबेदार समय-ससय पर हमला कर खिराज वसूल कर लेते थे, तो भी व्यावहारिक रूप से वे अब तक प्रायः स्वतंत्र रहे थे। तीस बरस पहले अलीवर्दी ने उन्हें दबाना चाहा था और

रामगढ़-राज्य पर हमला किया था। पर मराठों के बीच में पड़ जाने से वह सफल न हो सका था। मराठों ने सन् १७५१ तक बंगाल-बिहार पर धावे करने को उसे अपना आधार बनाए रक्खा था। अब भी युद्ध छिड़ने पर वे तब की तरह उसे अपना आधार बनाकर अँग्रेजों को कठिनाई में डाल सकते थे। पानीपत के धक्के से सँभलकर वे अब फिर प्रबल हो रहे थे। १७७१–७२ ई० में उन्होंने दिल्ली पर फिर अधिकार जमा लिया था और बादशाह भी, जो अबतक इलाहाबाद में अँग्रेजों का आश्रित था, इलाहाबाद छोड़ उनके आश्रय में दिल्ली चला गया था। उसके नाम पर मराठों ने रुहेलखण्ड पर हमला किया। वे कड़ा (इलाहाबाद) और कोरा (फतहपुर) जिलों को भी, जिन्हें अँग्रेजों ने बादशाह के चले जाने के बाद जब्त कर लिया था, दखल करना चाह रहे थे। पेशवा माधवराव अँग्रेजों को भारत से निकालने का फिर विचार कर रहा था। उसने मैसूर के हैदर अली से इसके लिए गुप्त बातचीत की थी, जिसके अनुसार मद्रास, बम्बई और बंगाल पर एक साथ हमला किया जाता। हैदरअली की गलती से भेद खुल जाने और तभी माधवराव के देहान्त हो जाने से वह खतरा तो टल गया; पर वह फिर कभी भी उठ खड़ा हो सकता था। इसलिए अँग्रेजों ने अब झारखण्ड के छोटे-छोटे सरदारों को स्वाधीन बने रहने देना उचित न जाना।

कैमक नाम का एक अँग्रेज कप्तान इस काम के लिए एक

बड़ी सेना के साथ नियुक्त हुआ। उसने वहाँ के राज्यों के घरेलू मामलों में दखल दे और उनके कोटलों को ढहाकर १७८० ई० तक वहाँ अँग्रेजों की सत्ता जमा दी। वहाँ का शासन करने को चैपमैन नाम का व्यक्ति नियत हुआ। उस इलाके की रक्षा और शान्ति के लिए रामगढ़-सैनिक-दल नाम से एक सेना का संगठन किया गया, जिसकी छावनी हजारीबाग में रक्खी गई। छोटानागपुर (राँची) का राज्य एक करद राज्य के रूप में रहने दिया गया। उसकी देखरेख भी रामगढ़-विभाग के शासक के ही सुपुर्द रक्खी गई। वह शासक सीधा गवर्नर-जनरल के अधीन था; वहाँ के मुकदमों की अपील भी कलकत्ते में उसी के इजलास में होती।

मराठा-अंग्रेज-संघर्ष

बादशाह के मराठों की शरण जाने पर वारन हेस्टिंग्स ने खिराज भेजना बन्द कर दिया और उसके खर्चे के लिए अवध के नवाब से दिलाए दोनों जिले और इलाहाबाद का किला, ५० लाख रुपया लेकर नवाब को बेच दिए। इलाहाबाद में अंग्रेजी सेना रक्खी गई; उसका खर्चा नवाब के जिम्मे डाला गया। अंग्रेजी सेना ने शुजा के साथ रुहेलखण्ड पर भी चढ़ाई की। इस प्रकार इलाहाबाद, अवध और रुहेलखण्ड भी ब्रिटिश शिकंजे में कसे गए। शुजा एक रुहेला-सरदार की लड़की के हाथ मारा गया। तब हेस्टिंग्स ने उसके लड़के आसफुद्दौला को गद्दी पर बिठा, राज्य में और अधिक फौज रखने को वाध्य किया तथा सेना के खर्च के लिए

गोरखपुर-बहराइच की मालगुजारी कम्पनी के नाम लिखा ली। बनारस पहले ही ब्रिटिश-आधिपत्य में था। गोरखपुर-प्रदेश भी उनके हाथ में आने से समूचा बिहार अँग्रेजों की अधीनता में चला गया।

महाराष्ट्र में माधवराव की मृत्यु के बाद उसके चचा राघोबा ने, माधवराव के छोटे भाई और उत्तराधिकारी नारायणराव की हत्या करवा, स्वयं पेशवा बनना चाहा था। पर बारह मराठा राजनेताओं ('बारा भाई') ने नारायण के नवजात शिशु सवाई माधवराव को पेशवा बना दिया। राघोबा अंग्रेजों की शरण में चला गया। अंग्रेजों ने मराठा-मण्डल में उसका वही उपयोग करने की चेष्टा की, जो मीर जाफर का बंगाल-बिहार में किया था। पर वह चेष्टा सात साल के लगातार युद्ध के बाद महाराष्ट्र राजनेता बारा भाइयों में प्रमुख नाना फड़नीस के सयानापन से विफल हुई और अंग्रेजो को उसमें काफी हानि उठानी पड़ी। नाना ने मैसूर के शासक हैदर अली से मिलकर बंगाल-बिहार, मद्रास और बम्बई पर एक साथ हमला कर अंग्रेजों को निकालने की कोशिश की। पर हेस्टिंग्स ने पेशवा के सामन्त नागपुर के भोंसले को रिश्वत देकर अपनी तरफ फोड़ लिया, इससे वह योजना विफल हुई। हैदर के हमलों से मद्रास में अंग्रेज बड़ी कठिनता में पड़ गए।

इस युद्ध का खर्चा जुटाने के लिए हेस्टिंग्स ने बनारस के राजा बलवन्तसिंह के लड़के चेतसिंह से पाँच लाख रुपया सालाना लेना

तय किया था। पर युद्ध लम्बा खिंचने पर जब खर्चे की तंगी बढ़ी तब उससे और रुपया माँगा गया। चेतसिंह ने देने में असमर्थता जताई और उत्तर भारत के मराठा नेता महादजी शिन्दे से बात चलाई। तब हेस्टिंग्स ने कलकत्ते से बनारस पहुँचकर चेतसिंह को कैद कर लिया। बनारस की जनता इससे भड़क उठी, और हेस्टिंग्स घेर लिया गया। नागपुर के भोंसले के दो दूत उस समय हेस्टिंग्स के साथ थे, उन्होंने उसे कौशल से बचा गंगा-पार छावनी में पहुँचाया। हेस्टिंग्स ने विद्रोह को दबा चेतसिंह के भानजे को नाम का राजा बनाया और शासन के सब अधिकार अपने हाथ में ले लिये। इसके बाद उसने अवध के नवाब आसफुद्दौला को दबाकर उसकी माँ और दादी—'अवध की बेगमों'—से एक करोड़ रुपया ऐंठ लिया।

मराठों से १७८२ में सन्धि हुई। हैदर की मृत्यु पर उसके बेटे टीपू से युद्ध चलता रहा, और १७८४ में सन्धि हुई।

हेस्टिंग्स के शासन के तजरबे से इंगलैण्ड में ब्रिटिश भारत का शासन-विधान बदलने की फिर आवश्यकता प्रतीत हुई। अतः

ब्रिटिश सरकार का कम्पनी से शासन-दायित्व लेना

वहाँ के प्रधान मंत्री पिट ने १७८४ में पार्लमेण्ट से नया कानून बनवाया, जिसके अनुसार यहाँ के शासन के लिए ब्रिटिश सरकार की ओर से छ आदमियों का एक नियामक वर्ग (बोर्ड ऑफ कंट्रोल) नियुक्त किया जाने लगा। कम्पनी के डाइरेक्टरों को कहा गया कि शासन-सम्बन्धी तमाम कागजात उसके सामने पेश करें और

उसकी आज्ञाओं को अपने कारिन्दों तक पहुँचाया करें, खुद कोई शासन-विषयक आज्ञा उन्हें सीधी न दें। युद्ध आदि गोपनीय विषयों के लिए वर्ग के तीन सदस्यों की एक गुप्त उपसमिति बना दी गई। गवर्नर और प्रधान सेनापतियों की नियुक्तियाँ भी ब्रिटिश सरकार ने अपने हाथ में ले लीं। इस प्रकार ब्रिटिश भारत का शासन अब कम्पनी से लेकर ब्रिटिश सरकार द्वारा नियुक्त 'वर्ग' के अधीन कर दिया गया। कम्पनी के डाइरेक्टर सिर्फ उसके सामने प्रस्ताव रखने और उसके आदेशों को यहाँ के कर्मचारियों तक पहुँचा देनेवाले रह गए। छोटी नियुक्तियाँ भी उनके हाथ में रहीं।

स्थायी बन्दोबस्त

वार्नहेस्टिंग्स के बाद सन् १७८६ में कार्नवालिस गवर्नर-जनरल बनकर आया। उसने अपना समय मुख्यतः सुशासन की स्थापना में लगाया। पुलिस का संगठन किया गया; न्याय का काम कलक्टरों के हाथ से लेकर उसके लिए अलग से जज नियत किए गए। मालगुजारी की नीलामी को बन्द कर जमींदारों से उसने स्थायी बन्दोबस्त किया, ताकि पिछले दुर्भिक्ष आदि से उजड़ी जमीनों पर लागत लगा उन्हें फिर से आबाद करने का प्रोत्साहन मिले। बंगाल-बिहार की कुल जमीन-मालगुजारी जो नियत की गई, वह उस समय के लगान का ९० प्रतिशत थी।

कार्नवालिस के बाद सर जॉन शोर और वेल्जली क्रम से गवर्नर-जनरल हुए। वेल्जली के पहले तक बंगाल, बिहार और

आन्ध्रतट अंग्रेजी राज में तथा अवध, रुहेलखण्ड, तामिलनाड और केरल अंग्रेजी आधिपत्य में थे। बेल्जली के सात वर्ष के शासनकाल में हैदराबाद अंग्रेजी आधिपत्य में आ गया; टीपू का अन्त होकर कर्णाटक ब्रिटिश राज में समा गया; रुहेलखण्ड, फरुखाबाद और तामिलनाड सीधे ब्रिटिश शासन में आ गए; मराठा-मण्डल में फूट पड़कर गायकवाड और पेशवा अंग्रेजों के आश्रित बन गए; तथा ग्वालियर के शिन्दे, नागपुर के भोंसले और इन्दौर के होल्कर ने एक-एक कर हार खाई।

भारत पर ब्रिटिश-आधिपत्य

परन्तु जसवन्तराव होल्कर ने कंपनी की फौजों को कई बार हराया और तब दौलतराव शिन्दे भी उससे जा मिला। उस दशा में कम्पनी के डाइरेक्टरों ने घबराकर वेल्जली को वापस बुलाया और बूढ़े कार्नवालिस को फिर भारत भेजा। वेल्जली ने शिन्दे को अंग्रेजों का आश्रित बना लिया था। कार्नवालिस ने कहा कि यदि वह होल्कर का साथ छोड़ दे तो उसे आश्रित संधि से मुक्त करके कुछ इलाके भी वापस दिए जायँगे। होल्कर के लिए भी उसने मुलायम शर्त्तें पेश कीं। इन प्रस्तावों को लेकर वह कलकत्ते से पच्छिम चला; पर रास्ते में गाजीपुर में मर गया (५-१०-१८०५ ई०)। तब स्थानापन्न गवर्नर-जनरल जार्ज बार्लो ने इन्हीं शर्त्तों पर शिन्दे और होल्कर से संधि कर ली।

परन्तु मराठा-राज्यों को भीतर से घुन लग चुका था, और

कार्नवालिस के उत्तराधिकारी मिण्टो और हेस्टिंग्स् के जमाने में भोंसले और होल्कर पूरी तरह अंग्रेजों के आश्रित और अधीन हो गए। पेशवा का राज्य छिना और शिन्दे को राजपूताना के आधिपत्य से हाथ धोना पड़ा। यों अंग्रेज भारत के एकाधिपति बने। उनकी यह साम्राज्य-वृद्धि बिहार-बंगाल और आन्ध्र-तामिल-नाड की आमदनी और सैनिक शक्ति से ही हुई।

अंग्रेजी कचहरियों का प्रभाव

१७९७ से १८१८ ई० तक के २१ वर्षों में भारत का मुख्य भाग अंग्रेजों के राज्य में चला गया। भारतवर्ष के अन्य प्रान्तों में तो तब अंग्रेजी राज स्थापित ही हुआ; बिहार-बंगाल में भी इस बीच एक ऐसी पीढ़ी अपना जीवन बिता रही थी, जो अंग्रेजो राज में ही पैदा हुई और पनपी थी तथा जिसपर अंग्रेजी शासन के प्रभाव की एक स्पष्ट छाप दिखाई देती थी। उस प्रभाव का वर्णन फरवरी १८१९ में लार्ड हेस्टिंग्स ने इन शब्दों में किया—"बंगाल (- बिहार) में जमीन-मिल्कियत की विद्यमान दशा का सम्बन्ध न्याय-विभाग के कार्य से है;···क्योंकि यह प्रतीत होता है कि वह इस सरकार के अर्थनीतिक कानून-कायदों से नहीं, प्रत्युत कानूनी फैसलों के व्यावहारिक परिणामों से पैदा हुई है। नीलामी खरीदनेवालों ने जो शक्तियाँ हथिया ली हैं, उनसे किसानों के पास किसी अधिकार की परछाई भी नहीं बची है, और एक अपेक्षाकृत खुशहाल और समृद्ध कृषक जनता दरिद्रता और भिखारीपन की सबसे निचली सतह पर जा

गिरी है। मालूम होता है, हमने समाज की अवस्था में एक ऐसी क्रान्ति ला दी है जो किसी अनजाने भाग्य से सदाचार के सामान्य नियमों के लिए अत्यन्त घातक सिद्ध हुई है और हमारी सरकार के लिए भी किसी तरह सुविधाजनक नहीं हुई। १७८० में जिला-कचहरियों की प्रथम स्थापना, और १७९३ में उनके बाकायदा संगठन के बाद हमारे हाथों के नीचे एक नई पीढ़ी पैदा हो गई है। हमारे कानून-कायदों की छत्रच्छाया में इस प्रकार पली हुई इस पीढ़ी में जो मुख्य लक्षण दिखाई देते हैं, वे हैं—मुकदमेबाजी की ऐसी लत जिसके लिए हमारा न्याय का महकमा पूरा नहीं पड़ता, और पहले से बहुत गिरा हुआ सदाचार।" ❀

लार्ड हेस्टिंग्स के इस कथन के प्रथम भाग की आलोचना करते हुए श्रीयुत जयचन्द्र विद्यालंकार ने लिखा है—

"ध्यान देने की बात है कि आज जिन्हें जमीन का मालिक कहा जाता है, हेस्टिंग्स उन्हें ठेका खरीदनेवाले—अर्थात् गवर्नमेंट की खातिर कर वसूलने का ठेका लेनेवाले और उसके बदले में कमीशन पानेवाले—कहता है। कार्नवालिस के समय यही दशा थी। लार्ड रिपन ने भी अपने शासन-काल में (१८८०–८४ ई०) करीब-करीब यही बात लिखी है—

'मुगल-सरकार के अधीन भूमि-कर को ठेकेदार या राजा लोग वसूलते थे, जो कई बार शासकों द्वारा सीधे नियुक्त किए

❀ बसु—राइज ऑफ दि क्रिश्चियन पावर, ८०५ पर उद्धृत।

होते थे और जिन्हें कई बार पहले के और अधिकार भी होते थे। ब्रिटिश सरकार ने इस मध्यस्थ वर्ग को स्थायी बन्दोबस्त का जमींदार बना दिया और मुगलों के भूमि-कर को जमींदारी जागीरों का लगान बना दिया······।'

"लार्ड हेस्टिंग्स के उक्त उद्धरण में यह बात सबसे अधिक ध्यान देने लायक है कि किसानों के हाथ से जमीन की मिल्कियत छिनकर जो जागीरदारों के हाथों में चली गई, सो ब्रिटिश शासन के किसी अर्थनीतिक विधान से नहीं हुआ, प्रत्युत अंग्रेजी कचहरियों के फैसले लागू होने से धीरे-धीरे होता गया। इस बात को समझना आवश्यक है।

"इंगलैण्ड में अठारहवीं शताब्दी में व्यावसायिक क्रान्ति शुरू होने से पहले 'कृषि-क्रान्ति' हो चुकी थी, जिसमें जागीरदारों ने कृषकों के सब अधिकार जब्त कर अपनी जमीनों की हदबन्दी कर ली थी और उस जमीन के पूरे मालिक बन बैठे थे। इस प्रकार उन्नीसवीं सदी के अंग्रेजी कानून की दृष्टि से जो राज्य को जमीन-कर देता था वही जमीन का पूरा-पूरा मालिक था, और असली खेती करनेवाले उसके केवल मुजेरे थे। भारतवर्ष में कार्नवालिस ने जमीन के असल मालिक किसानों से कर वसूलने का ठेका जिन लोगों को दिया, अंग्रेज जजों ने उन्हें अपने देश के नमूने पर जमीन का मालिक समझा, और उन जजों के फैसलों से वे सचमुच मालिक बनते गए। एक तरफ जनता की ठोस सम्पत्ति और उनकी जीविका तथा स्वतंत्र हैसियत के

प्रत्यक्ष आधार थे, दूसरी तरफ मुट्ठी-भर विदेशी शासकों का एक दृष्टि-विभ्रम था। दोनों का सम्पर्क होने पर उस विभ्रम की जीत हुई; क्योंकि हिन्दुस्तानी प्रजा अपने जीवन के ठोस अधिकारों के विषय में भी मूक थी और अंग्रेजों के वहम भी गरज कर बोलते थे।......उन्नीसवीं शती में भारतीय संस्कृति-तत्त्व की अत्यन्त क्षीणता और अंग्रेजी संस्कृति-तत्त्व की उत्कट सजीवता भी इससे प्रकट है।

"परन्तु भारतीय किसानों में चेतना के कुछ कण बाकी थे, और जब उन्होंने छटपटाना शुरू किया तब अंग्रेज मालिकों ने देखा कि उन्होंने विना चाहे, विना समझे उनपर कितना बड़ा जुल्म ढा दिया है। कैनिंग, लारेन्स, रिपन आदि के टिनेन्सी-कानून उस भूल को सुधारने की कोशिशें थीं।"*

जहाँ अंग्रेज जजों के देश के परम्परागत कानून को न समझने के कारण जनता आर्थिक दृष्टि से यों बरबाद हुई, वहाँ अंग्रेज हाकिमों के देश से अपरिचित रहने के कारण उसके जान-माल की वैसी ही दुर्गति हुई। लार्ड मिंटो और हेस्टिंग्स के जमाने में, जब कम्पनी की सरकार मराठा-राज्यों के पेंढारियों के दबाने में लगी थी तभी उसके अपने बिहार-बंगाल के जिलों के जिलों पर डाकुओं का स्वच्छन्द अधिकार बना रहता था। इस दशा को दूर करने के लिए लार्ड बेंटिंक के शासनकाल

* 'भारतीय विद्या', १, ५४-५५।

(१८२८—३५ ई०) में छोटे-छोटे पदों पर देशियों की नियुक्ति करने का निश्चय हुआ। बेंटिंक ने कलक्टरों को फिर मजिस्ट्रेट के अधिकार भी दे दिए।

छोटे पदों पर देशियों को नियत करने से कम्पनी को शासन-खर्च में काफी बचत भी होने लगी। तब इस काम के लिए उपयुक्त हिन्दुस्तानी तैयार करने को थोड़ी-बहुत शिक्षा देने की आवश्यकता प्रतीत हुई, और भारतीय बाबुओं या क्लर्कों की सृजक मैकॉले-शिक्षा का सूत्रपात किया गया। इसके द्वारा अंग्रेज शासकों को भारतीय सिपाही की तरह सस्ते भारतीय क्लर्क और बाबू भी आसानी से मिलने लगे। शिक्षा का माध्यम अंग्रेजी रखने और अंग्रेजी साहित्य की शिक्षा देने के पक्ष में मैकॉले के मुख्य प्रयोजनों में से यह भी था कि "जहाँ हमारी भाषा जायगी, वहाँ हमारा व्यापार भी पहुँचेगा।"

किन्तु अंग्रेजो कचहरियों के फलस्वरूप जनता का जो नैतिक पतन शुरू हुआ, उसमें फिर कोई सुधार आजतक न हो सका। ज्यों-ज्यों अंग्रेजी राज्य भारत में फैलता गया, मुकदमेबाजी की बीमारी छूत के रोग की तरह सारे देश में फैलती गई। पर आज साधारण जनता के हृदय में यह विश्वास जम चुका है कि अंग्रेजी कचहरियों में गरीब को न्याय नहीं मिल सकता।

सन् १७७३ के नियामक कानून और १७८४ के भारत-शासन कानून के बाद वारन हेस्टिंग्स और कार्नवालिस द्वारा अंग्रेजी कचहरियों की स्थापना और जमीन का बन्दोबस्त किया जाना

बिहार-बंगाल में अंग्रेजी राज की तीसरी किश्त थी, जिसका यह परिणाम है।

इंगलैंड की व्यावसायिक क्रान्ति की बदौलत तथा व्यापार के नाम से लूट और खिराज द्वारा जो अतुल सम्पत्ति यहाँ से विलायत गई उसकी बदौलत इंगलैंड में नए-नए कल-कारखाने खड़े हो रहे थे। उन्नीसवीं शती के शुरू में यूरोप में नैपोलियन का बोलबाला था, जिसने वहाँ के सब बन्दरगाह अँग्रेजों के लिए रोक दिए थे। तब इंगलैंड के माल की खपत के लिए भारत में बाजार बनाने का काम शुरू किया गया। इससे पहले कम्पनी प्रधानतः भारतीय शिल्पों की उपज के निर्यात से ही कमाती थी; पर अब इंगलैंड के व्यवसायों को जिन्दा रखने के लिए यहाँ के व्यवसायों की हत्या की जाने लगी। सन् १८१३ में अंग्रेजी पार्लिमेंट ने ईस्ट इंडिया कम्पनी का पट्टा नया किया। उससे पहले इस विषय पर विचार करने के लिए एक कमिटी बिठाई गई जिसने इस विषय पर अनेक जानकारों की गवाहियाँ लीं। आगे जो हुआ, उसका वर्णन अंग्रेज ऐतिहासिक होरेस हेमन विल्सन ने इस प्रकार किया है—

भारत का ब्रिटिश औपनिवेशिक बाजार बनना

"गवाहियों में कहा गया कि उस जमाने तक भारत का सूती और रेशमी माल, ब्रिटिश बाजार में, इंगलैंड के बने माल से, पचास से साठ फी सदी तक कम दामों पर, मुनाफे से बेचा जा सकता था। फलतः यह जरूरी हो गया कि भारतीय माल

की कीमतों पर सत्तर-अस्सी फी सदी चुंगियाँ बिठाकर या सीधी रोक लगाकर ब्रिटिश माल की संरक्षा की जाय। यदि यह बात न होती, यदि इस तरह की रोकनेवाली चुंगियाँ और कायदे न रहते, तो पेसली और मांचेस्टर की मिलें अपनी शुरूआत में ही रुक गई होतीं, और फिर भाप की ताकत से भी मुश्किल से चल पातीं। भारत की दस्तकारी के बलिदान से ही वे खड़ी हुईं। यदि भारत स्वतंत्र होता तो उसने बदला लिया होता, ब्रिटिश माल पर निषेधक चुंगियाँ बिठा दी होतीं और इस तरह अपने उत्पादक शिल्पों को सर्वनाश से बचाया होता। किन्तु आत्मरक्षा का यह कार्य करने की ताकत उसमें न थी; वह गैरों का मुहताज था। ब्रिटिश माल उसपर बिना किसी चुंगी के लाद दिया गया और विदेशी कारखानदारों ने अपने प्रतिद्वन्द्वी को, जिसका वे बराबरी की हालत में मुकाबला नहीं कर सकते थे, दबाए रखने और अन्त में उसका गला घोंट देने के लिए राजनीतिक अन्याय के हथियार का प्रयोग किया।" *

ब्रिटेन के सब व्यापारियों को भारत के दोहन-शोषण की एक-सी सुविधा देने के लिए सन् १८१३ के पट्टे से ईस्ट इंडिया कम्पनी का व्यापार का एकाधिकार समाप्त किया गया और हर किसी अंग्रेज को पूँजी की एक निश्चित मात्रा से भारत में व्यापार करने की आजादी दी गई।

इसके सिवा भारत से खींचे हुए धन के बल पर इंगलैंड

---

* बसु—राइज ऑफ दि क्रिश्चियन पावर, ६२५।

ने नैपोलियन की आर्थिक और राजनीतिक वहिष्कार की नीति को असफल कर दिया, और अपनी थैलियों से पैसा पानी की तरह बहाकर यूरोप के अनेक राष्ट्रों को नैपोलियन के विरुद्ध अपनी तरफ फोड़ लिया। तब इंगलैंड की जनता को पिछले ५०–६० वर्षों में अपने इन व्यापारियों की कम्पनी द्वारा जीते हुए साम्राज्य का महत्त्व मालूम हुआ, और वे लोग यहाँ अपना अधिकार दृढ करने के और उपाय सोचने लगे। इस सिलसिले में सन् १८१३ में पार्लियामेंट में कहा गया कि भारत में ठंढे स्वास्थ्यकारक स्थानों पर अंग्रेजों के उपनिवेश बसाए जायँ। इस नीति का परिणाम नेपाल-युद्ध (१८१४–१६ ई०) हुआ, जिससे अंग्रेजों को कुमाऊँ-गढ़वाल और क्युँठल (शिमला) के रम्य प्रदेश मिले।

अठारहवीं सदी के उत्तरार्द्ध तक—अर्थात् कम्पनी के अधिकार से पहले तक—बिहार-बंगाल अपने बारीक सूती और रेशमी कपड़ों के लिए प्रसिद्ध थे। पटने के कपड़े, चीनी और शोरे के व्यापार के लिए ही फिरंगी व्यापारियों का ध्यान पहले-पहल इस तरफ गया था। यहाँ के शिल्पी और कारीगर अपनी युगों से पोषित शिल्प-बुद्धि के कारण अपना सानी नहीं रखते थे। किसी नई वस्तु की तरफ उनका ध्यान खिंचने पर वे उसे दूसरों से अच्छा बनाकर बता सकते थे। इसका एक उदाहरण मीर कासिम के रामय उधवा नाले की लड़ाई में प्रयुक्त बन्दूकें थीं, जो अंग्रेजी बन्दूकों से अच्छी पाई गईं थीं।

पर भारत के इन कारीगरों में जहाँ युगपरम्परा से प्राप्त चतुराई थी, वहाँ वे प्रगतिशील, जागरूक और संगठित न थे। अन्य भारतवासियों की तरह वे भी दुनिया की प्रगति के विषय में बेखबर थे। दूसरे, वे अपने प्राचीन काल के पूर्वजों की तरह आर्थिक दृष्टि से आत्म-निर्भर और संगठित न थे। वे महाजनों के कर्ज में फँसे हुए और उनपर निर्भर थे। महाजन लोग उन्हें रुपया पेशगी देकर उनसे माल बनवाते और उस माल की बाजार में बिक्री कर उसका सबका-सब मुनाफा अपने हाथ में रखते। इसी महाजनी तरीके से ईस्ट इंडिया कम्पनी भी भारतीय कारीगरों को अपने काबू में कर तबाह कर रही थी।

सन् १८१३ में कम्पनी का व्यापार पर एकाधिकार समाप्त कर दिया गया। परन्तु सन् १८३३ तक उसका व्यापार चलता रहा। कम्पनी, मालगुजारी में से बचत कर, उसे पूँजी के रूप में लगा, जुलाहों से माल खरीदकर, विलायत भेजती थी। यह पूँजी कम्पनी के व्यापारिक रेजिडेंटों के पास बाँट दी जाती थी। वे जुलाहों को कोठी पर तलब कर उन्हें रुपया बाँट देते। माल की दर वे ही निश्चित करते। जुलाहा न मानता तो घर पर पहरा बिठा दिया जाता। यदि माल लाने में देर होती तो चमौटी लिये चपरासी उनके घर पहुँचता, जिसका सब खर्च जुलाहों से वसूल किया जाता। कम्पनी से अगाऊ पानेवाले जुलाहों को और किसी के हाथ माल न बेचने देने के लिए रेग्यूलेशन बनाया गया। किसानों और जमींदारों को हुक्म दिया गया था कि वे

कम्पनी के व्यापारी रेजिडेंटों को या उनके कारिन्दों को जुलाहों तक पहुँचने देने में किसी तरह की बाधा न दें, तथा उनसे अदब से बरतें। कम्पनी का एकाधिकार टूट जाने पर दूसरे खानगी व्यापारियों ने इस चमौटी आदि का प्रयोग और भी खुला करना शुरू किया। यों पलाशी-युद्ध के बाद से 'व्यापार' का जो नया तरीका निकला, वह १८३३ तक जारी रहा।

किन्तु अंग्रेज व्यापारियों के कारिन्दों से भारतीय कारीगरों को जो शारीरिक मार खानी पड़ती रही, उससे कहीं ज्यादा कड़ी वह मार थी जो अंग्रेजी सरकार की चुंगी-पद्धति से उनपर पड़ रही थी। सन् १८३३ तक भारत के करीब-करीब सभी पुराने शिल्प ढह चुके थे, और ईस्ट इंडिया कम्पनी को यहाँ से विलायत ले जाने को कुछ न रहा, इसी से उस वर्ष से उसका व्यापार बन्द कर दिया गया। इसके बाद भारत के पास विदेशी माल खरीदने तथा इंग्लैंड को अपनी गुलामी का खिराज चुकाने के लिए अन्न के सिवा कुछ न रहा।

शिल्प के नाश से "जो लोग दस्तकारी से खाली होते गए वे मुख्यतः कृषि में गए" (इ० प्र० ५८८)। नतीजा यह हुआ कि जमीन पर बोझ बढ़ता गया और जंगल-चरागाह, यहाँ तक, कि सिंचाई और पशुओं के पानी पीने के पोखरे तक, सुखाकर खेतों में बदल दिए गए। फलतः यहाँ गो-धन क्षीण होने लगा और दूध महँगा हो गया। लोगों की खुराक पुष्टिकारक न रहने से जीवन-शक्ति क्षीण होती गई। जीवन का आनन्द नष्ट हो गया

और जाति का शारीरिक और नैतिक ह्रास बड़ी तेजी से होने लगा। यह अंग्रेजी राज की चौथी किश्त थी।

रोजी के न रहने और जमीन पर अत्यधिक भार बढ़ने से ऐसे लोगों की संख्या बढ़ती गई जो अब भूख से लाचार हो अपना आतमसम्मान बेचकर किसी भी शर्त्त पर मजदूरी करने को तैयार थे। खासकर बिहार में ऐसे लोगों की संख्या बहुत थी। अतः १९ वीं सदी के शुरू से गोरे पूँजीपतियों ने यहाँ खेती-बारी में पूँजी लगाकर उन सस्ते मजदूरों से फायदा उठाना शुरू किया। उत्तरी बिहार में, खासकर चम्पारन से गोरखपुर-बनारस तक के इलाकों में, इन गोरों ने बड़ी-बड़ी जायदादें खड़ी कर लीं और वहाँ के सस्ते तथा मेहनती किसानों को नाममात्र की मजदूरी देकर नील की खेती कराने लगे। सन् १८१३ से, जब भारत में गोरों के उपनिवेश स्थापित करने की नीति चली, आसाम आदि प्रदेशों में अंग्रेजों को चाय की खेती करने के लिए बड़ी-बड़ी जमीनें माफी में मिलीं, और उनपर काम करने के लिए सस्ते बिहारी मजदूर ले जाए जाने लगे। भूखे मरते भोले देहातियों को 'आरकाटी' (प्लाण्टरों के गुमाश्ते) सब्जबाग दिखाते और पाँच बरस काम करने के इकरारनामे पर अँगूठा लगवाकर उनके घर-बार से दूर ले जाते। इस दीवानी इकरारनामे को तोड़ना या तोड़ने के लिए उकसाना कानूनन फौजदारी अपराध बना दिया गया, जिसके लिए जेल मिलतो थी। इस प्रकार यह

गुलामों से सस्ते कुली

इकरारनामा गुलामी का पट्टा होता था। गुलामों में और इन मजदूरों में, जो कुली कहलाते थे, फरक केवल इतना था कि इनकी गुलामी की अवधि पाँच बरस की होती थी। परन्तु, चूँकि पाँच बरस बाद भी लाचारी की हालत में वे प्रायः फिर अपने पट्टे को नया करा लेते थे, इसलिए वह फरक भी नाम मात्र का ही था।

अमेरिका के अपने उपनिवेशों में जलील मेहनत कराने के लिए सोलहवीं सदी से यूरोपियन लोग अफ्रिका के हब्शियों को पकड़कर और गुलाम बनाकर ले जाया करते थे। उन्नीसवीं शताब्दी शुरू होते तक वे बस्तियाँ काले हब्शी गुलामों से पट गई थीं, और वहाँ के गोरे मजदूर भी काम की तलाश में इधर-उधर भटकने• लगे थे। इसके अतिरिक्त अब भारत के प्लाण्टरों के तजरबे से दूसरे उपनिवेशों के यूरोपियनों को भी मालूम हो गया कि हिन्दुस्तानो कुली हब्शी गुलामों से अधिक सस्ते और उपयोगी हैं। अफ्रिका के जंगली हब्शी गुलामों को कुछ देर सिखाने-सधाने की जरूरत होती थी। भारत के सीखे-सधे, मेहनती और समझदार कुली उस स्थान की कहीं अच्छी पूर्त्ति करते थे। जैसा कि कैप्टन कोलम्बो ने अपनी (१८७३ में प्रकाशित) पुस्तक 'स्लेव कैचिंग इन इंडियन ओशन' (Slave Catching In Indian Ocean—हिन्दमहासागर में गुलाम फाँसना) में लिखा—"स्वतन्त्र हिन्दुस्तानी हब्शी गुलाम से सस्ती जिन्स था (A free Indian was a cheaper article than a Negro Slave" पृ० १००)। इस महान् सचाई का आविष्कार

होते ही हिन्दमहासागर के तटवर्त्ती या द्वीपों के—अफ्रिका, मारिशस, फिजी आदि के—उपनिवेशों के गोरे भी हिन्दुस्तानी कुलियों को भर ले जाने लगे। जैसे ईस्ट इंडिया कम्पनी ने कानून बनाया था वैसे ही ब्रिटिश पार्लिमेण्ट ने भी सन् १८२३ में कानून बनाकर इस 'प्रतिज्ञाबद्ध मजदूरी' या कुली-प्रथा पर अपनी मुहर लगा दी।

इसके बाद जब अंग्रेजों के उपनिवेशों को हिन्दुस्तानी कुलियों की धारा साल-ब-साल नियम से सींचने लगी, तब कहते हैं, सन् १८३३ के करीब यूरोपियनों का अन्तरात्मा गुलामी-प्रथा के विरुद्ध भड़कने लगा! और, गुलामी को मिटाने के कानून बने। धीरे-धीरे अनेक देशों में कुली शब्द भारतवासी का समानार्थक हो गया, और अब-तक भी है। इन भारतीय कुलियों में सबसे अधिक संख्या बिहारियों और तामिलों की होती थी।

कुँवरसिंह

सन् १८१९ तक अंग्रेजों ने भारत का बड़ा हिस्सा जीत लिया था। सन् १८२६ तक बरमा-राज्य से आसाम, कछार, अराकान और तेनासरीम भी लिये गए। फिर उत्तरपच्छिमी सीमान्त की ओर बढ़ना शुरू हुआ और १८४६ तक सिन्ध, पंजाब, कश्मीर जीते गए। एक बार जिस रियासत ने आधिपत्य मान लिया उसे मौका पाते ही दखल कर लेने की नीति तभी से जारी थी, जब मीर जाफर के बेटे के हाथ से बिहार-बंगाल का शासन ले लिया गया था या जब वेल्जली ने रुहेलखंड और तामिलनाड को अपने सीधे शासन में ले लिया

था। किन्तु, सन् १८३४ के करीब से यह नीति जोरों से चली और फिर डलहौजी ने तेजी से समूचे भारत को 'समथर' बनाने की चेष्टा की।

भारत में अंग्रेजी साम्राज्य की स्थापना करनेवाले पुराने राजनेता—मालकम, एल्फिन्स्टन, मेटकॉफ आदि—इस नीति के विरोधी थे। कर्नल स्लीमैन ने डलहौजी के शासनकाल के आरम्भ में लिखा कि अभी तक हम देशी रियासतों की आड़ में राज करते हैं; पर यदि हम उन्हें मिटा देंगे तो देशी सेना किसी दिन यह पहचान लेगी कि हमारा शासन उसी पर निर्भर है और तब वह कोई भयंकर घटना कर सकती है। स्लीमैन का भविष्य-दर्शन कितना सच्चा निकला! परन्तु नई पौध के अंग्रेज इन पुराने बुजुर्गों का मजाक करते थे, और फलतः स्लीमैन की आशंका चरिताथ होकर रही।

भारत के स्वाधीनता-युद्ध की कल्पना पेशवाओं के अन्तिम वंशधर नाना साहब तथा उसके मन्त्री अजीमुल्ला की थी। उस युद्ध में मुख्य भाग लेनेवाले 'पूरबिए' अर्थात् अवध और भोजपुर के लोग, ठेठ हिन्दुस्तान के निवासी तथा उत्तर भारत के मराठे थे। उस युद्ध के लिए भारतवर्ष की सेना और प्रजा में जो संगठन किया गया, वह सन् १८५६ तक पूरा हो चुका था। अंग्रेजों की भारतीय सेना तबतक मुख्यतः पूरबियों और तिलंगों (आन्ध्रों) की थी, इसलिए जहाँ-जहाँ पूरबिया या ठेठ हिन्दुस्तानी फौजें थीं, वहाँ-वहाँ उसकी आग फैल गई।

सन् १८५७ के शुरू में भारतीय सिपाहियों को चर्बीवाले कारतूसों की बात मालूम हुई। उसने आग पर घी छिड़कने का काम किया। ३१ मई १८५७ ई० विप्लव शुरू करने की तारीख नियत थी। परन्तु धर्मान्धता की उत्तेजना से कुछ लोग पहले भड़क उठे। कलकत्ते के पास बारकपुर में मंगल पांड़े नामक सिपाही ने २९ मार्च को एक कांड कर दिया, जिससे बारकपुर की पल्टनों के हथियार रखा लिये गए और बंगाल में क्रान्तिकारियों का संगठन टूट गया। फिर मेरठ के सिपाहियों ने ९ मई को बलवा कर दिया, जिसके फलस्वरूप पंजाब में अंग्रेजों ने अनेक पल्टनों को निहत्था कर दिया। पंजाब इस युद्ध की योजना में सबसे नाजुक कड़ी था; क्योंकि भारत की अधिकांश गोरी सेना तब पंजाब में ही थी और पंजाब की पूरबिया पल्टनें अपने घर से बहुत दूर थीं। इस कड़ी का टूट जाना विप्लव के विफल होने का मुख्य कारण हुआ। यों चर्बीवाले कारतूस सन् ५७ के विप्लव का कारण नहीं, प्रत्युत उसकी विफलता का कारण थे।

किन्तु बारकपुर और मेरठ की घटनाओं के बावजूद भी दूसरे स्थानों के क्रान्तिकारी संयम से रहे, और विप्लव शुरू होने पर वे खुद गोरों के खिलाफ चर्बीवाले कारतूस चलाते रहे। ३१ मई से १० जून तक ठेठ हिन्दुस्तान के अधिकांश स्थानों में विप्लव फूट उठा।

बिहार की जनता में उत्तेजना काफी थी। पटना शहर में

अंग्रेजों ने जनता को त्रस्त करने के लिए कुछ सिक्ख सैनिकों को घुमाया। परन्तु पटने की आम जनता ने उनका बहिष्कार किया। यहाँ तक कि जब वे गुरु गोविंदसिंह के जन्म-स्थान-वाले हरमंदिर गुरुद्वारे में दर्शन करने पहुँचे, तब वहाँ के ग्रन्थी ने उन्हें गुरुद्वारे में घुसने तक न दिया। तिरहुत का एक जमीदार वारिस अली पकड़कर फाँसी लटका दिया गया। अली करीम नामक एक विप्लवी को गिरफ्तार करने फौज भेजी गई; पर वह भाग निकला। देहातियों ने उसका पीछा करनेवाली फौज को गलत रास्ता बताकर भटका दिया।

इन घटनाओं से प्रकट है कि बिहार में केवल उत्तेजना भर थी, संगठन कुछ न था; क्योंकि यदि बिहार में विप्लव का कोई केन्द्र होता तो दानापुर की पल्टन ठीक वक्त पर चुपचाप बैठी न रहती और अंग्रेज, क्रान्तिकारियों के खिलाफ अपनी कार्रवाई के लिए, बनारस को आधार न बना सकते। बनारस के बजाय उन्हें राजमहल से कार्रवाई शुरू करनी पड़ती।

बनारस के इलाके में क्रान्तिकारी फैल गए थे; पर बनारस शहर पर अंग्रेजों का कब्जा रहा। वहाँ से बढ़कर सेनापति नील ने १८ जून तक इलाहाबाद और फिर हैवलाक ने १७ जुलाई को कानपुर ले लिया।

कानपुर के पतन के बाद, जब कि विप्लव का पहला अध्याय समाप्त हो चुका था, २५ जुलाई को पटने में विप्लव की एक विफल चेष्टा हुई और उसका नेता पीर अली फाँसी पर टाँगा

गया। इसपर दानापुर-छावनी की देशी पल्टन उत्तेजित हुई और विप्लव करके जगदीशपुर (शाहाबाद) में अस्सी बरस के बूढ़े राजा कुँवरसिंह के पास पहुँच उससे नेतृत्व करने को प्रार्थना की। कुँवरसिंह के साथ उन्होंने आरा शहर पर हमला किया, खजाना ले लिया और जेल से कैदी छोड़ दिए। पर आरा के अंग्रेजों ने मुट्ठी-भर सिक्ख सिपाहियों के साथ एक कोठी की मोर्चाबन्दी करके उसमें आश्रय लिया। कुँवरसिंह महीना-भर उसे घेरे पड़ा रहा; पर ले न सका और अन्त में दानापुर से और मदद आने पर उसे घेरा हटाकर जगदीशपुर वापस जाना पड़ा। परन्तु १४ अगस्त को अंग्रेजों ने जगदीशपुर ले लिया। कुँवरसिंह तब वहाँ से अवध की तरफ रवाना हो गया।

ये घटनाएँ इस बात का प्रमाण हैं कि अन्तर्वेद और अवध में क्रान्ति की जो आग भड़क रही थी, बिहार में उसकी सिर्फ एक लपट ही पहुँची थी।

सितम्बर में अंग्रेजों ने दिल्ली वापस ले ली और हैवलाक और आउटराम लखनऊ पहुँच गए; पर वहाँ पहुँचकर खुद भी घिर गए। इसके बाद इंगलैंड से आकर सर कालिन कैम्बेल भारत का जंगी लाट बना और नवम्बर में कानपुर से लखनऊ की तरफ बढ़ा। मार्च १८५८ में लखनऊ लिया गया।

इस पिछली कशमकश के समय कुँवरसिंह फिर प्रकट

होता है और इस बार उसके अनुयायी जिस तरह जूझते हैं उससे जान पड़ता है कि उस बूढ़े ने इस बीच उनकी हड्डियों में नई जवानी फूँक दी थी। "अंग्रेजी सेनाएँ जब अवध पर चढ़ाई कर रही थीं, तब कुँवरसिंह आजमगढ़ लेकर बनारस की तरफ बढ़ा। शत्रु का आधार काटने की उसकी इस कोशिश से कैनिंग को, जो इलाहाबाद में था, चिन्ता हुई" (इ० प्र० ५८०)। एक अंग्रेजी दस्ता उसके मुकाबले को भेजा गया, जिसे कुँवरसिंह ने हराकर आजमगढ़ की तरफ भगा दिया। लेकिन इसके बाद वह बनारस से टल गया—या तो उसके पास इतनी ताकत न थी कि बनारस ले पाता, और या उसने बनारस ले लेने का महत्त्व नहीं पहचाना। उसने लौटकर जगदीशपुर वापस जाना निश्चित किया। अंग्रेजी फौज ने उसका पीछा किया। वे उसे गंगा के उस पार जा फिर बिहार में गड़बड़ करने देना न चाहते थे। पर कुँवरसिंह ने उनकी कोशिशें विफल कर बलिया से ८ मील पच्छिम गंगा पार कर ली। अंग्रेजी फौज उसके पीछे गंगा पर पहुँची। सेना को पार उतार कुँवर सिंह किश्ती पर बैठ गंगा पार कर रहा था, तभी एक गोरे की गोली उसके दाहिने हाथ में लगी। शरीर में विष न फैल जाय, इसलिए उसने तलवार से कोहनी तक हाथ काट वहीं गंगा में फेंक दिया और गंगा-पार हो २१ अप्रैल को जगदीशपुर वापस ले लिया। दानापुर से गोरी और सिक्ख पल्टनें २३ तारीख को जगदीशपुर वापस लेने आईं; पर उन्हें

कुँवर से बुरी तरह हारकर भागना पड़ा। उसी रात हाथ के घाव का विष फैलने से बिहार के उस बूढ़े शेर का देहान्त हुआ।

उसके बाद उसके भाई अमरसिंह ने आरा पर चढ़ाई की और शाहाबाद जिले में तीन महीने सफलता-पूर्वक अंग्रेजों का मुकाबला करता रहा। अन्त में १७ अक्तूबर को नई सेनाओं के आने पर जगदीशपुर चारों तरफ से घेर लिया गया। अमरसिंह अपनी सेना समेत जगदीशपुर से हट गया। अंग्रेजी सेना ने उसका पीछा किया। १९ अक्तूबर को एक बड़ी सेना ने नौनही गाँव में उसे घेर लिया। अमरसिंह के चार सौ सिपाही डटकर लड़े, और एक बार शत्रु को पीछे ढकेल दिया; पर अन्त में नई फौज आने पर अमरसिंह और उसके दो साथी तो बचकर निकल गए, और बाकी सेना बहादुरी से मुकाबला करती हुई काटी गई। अंग्रेजों ने अमरसिंह का पीछा किया; पर वह हाथ न आ सका।

पलाशी-युद्ध के बाद मुर्शिदाबाद के खजाने से सोना-चाँदी और रत्नों की लदी जो नावें कलकत्ता भेजी गई थीं; वह उस धारा का आरम्भ था जो कि तब से आज तक प्रतिवर्ष बढ़ती मात्रा में भारत से इंग्लैंड को बह रही है। कम्पनी को बिहार-बंगाल की दीवानी मिलने से देश की मालगुजारी भी एक व्यापार बन गई। "व्यापारी अपना धन्धा नफे में ही करते हैं। उन व्यापारियों ने भारतवर्ष की

गुलामी का खिराज

भूमि और जनता को अपने कारोबार का साधन बना डाला। 'हर हिन्दुस्तानी के बारे में यही समझा जाता (था) कि वह ईस्ट इंडिया कंपनी की कमाई करने को पैदा हुआ प्राणी है'।" (इ० प्र० ५८५)।

फलतः बिहार-बंगाल की मालगुजारी की आमदनी में से हर साल कम्पनी बचत करने लगी। उस बचत से किस तरह जुलाहों से कपड़ा खरीदा जाता था, सो हमने देखा है। अब जिस बात पर हमें ध्यान देना है सो यह कि वह माल इंग्लैंड भेज दिया जाता था, और उसके बदले में एक कौड़ी भी इन प्रान्तों को वापस न आती थी—वह कम्पनी का मुनाफा था। सन् १७८३ में अंग्रेजी पार्लिमेंट की साधारण-सभा की नियुक्त की हुई भारत-विषयक कमिटी की नवीं रिपोर्ट में इसका यों वर्णन है—

"पूर्व के अत्यन्त कीमती मालों से लदे हुए बड़े जहाजों के बहुसंख्यक वेड़े, जो हर साल बराबर और बढ़ती हुई राशि में भारत से इंगलैंड पहुँचते हैं,...वह उस देश से दिया गया खिराज होता है, न कि उसे लाभ पहुँचानेवाला व्यापार।" (श्रीकस्तूरचन्द शाह कृत 'सिक्स्टी ईयर्स आफ इंडियन फिनान्स' पृ० २९ पर उद्धृत)।

इसके बाद "भारतवर्ष को जीतने और काबू रखने का सब खर्चा तो ईस्ट इंडिया कम्पनी ने भारत से वसूल किया ही, उसके अलावा भारतीय सेना को जब अंग्रेजों के स्वार्थ के लिए मिस्र,

जावा, बर्मा, अफगानिस्तान, चीन और ईरान भेजा तब उसका खर्चा भी भारत से लिया। अकेले अफगान युद्ध के लिए भारतीय जनता को १५ करोड़ रुपया देना पड़ा। दूसरी तरफ, भारतवर्ष का गदर दबाने के लिए जो गोरी सेना विलायत से आई, उसकी इंगलैंड से चलने के छः महीने पहले तक की तनख्वाहें तथा इंगलैंड की छावनियों में भारतीय सेवा के नाम से जमा सेना की १८६० तक की तनख्वाहें भी भारत ने दीं।

इन सब खर्चों और अंग्रेज हाकिमों की भारी तनख्वाहों के बावजूद भी कम्पनी के कुल शासनकाल में सरकारी व्यय से आय अधिक हुई। लेकिन ब्रिटिश सरकार का जो बोर्ड ऑफ कण्ट्रोल लन्दन में था, उसका खर्चा और कम्पनी की पूँजी पर डिविडेण्ड या मुनाफा भी भारत की जनता को देना पड़ता था। जिस साल सरकारी आमदनी खर्चे से कम हुई, या जब-जब उसमें से मुनाफा देने की गुंजाइश न रही, तब-तब कम्पनी भारत के नाम पर कर्ज लेती गई और उससे अपना मुनाफा पूरा करती रही। उस कर्ज का सूद भारतीय जनता पर पड़ता गया। यों कम्पनी के शासन में हर साल करीब ३०—३५ लाख पौंड इस लन्दन के खर्चे और मुनाफे के लिए भारत से इंगलैंड जाता रहा। यह कुल मालगुजारी का करीब १/१० होता था। अंग्रेज हाकिम जो अपनी निजी बचत भेजते, वह अलग थी। इस खिराज की खातिर भारत पर जो ऋण लदता गया, वह सन् १८५८ ई० में ६९५ लाख पौंड था।

"यह खिराज सोने-चाँदी के रूप में नहीं, प्रत्युत माल के रूप में प्रतिवर्ष जाता रहा।...जब भारत के शिल्पियों से खरीदने को कुछ न रहा, तब अन्न के रूप में यह जाने लगा। दूसरे देशों को भारत जितना माल भेजता उतना ही उनसे मँगाता भी था। पर इंगलैंड को वह 'आयात से निर्यात की अधिकता द्वारा खिराज देता' रहा। एक तो दस्तकारी की चीजों को अन्न देकर खरीदना ही दरिद्रता का कारण था, दूसरे यह गुलामी का कर भी भारतीय जनता अन्न में चुकाने लगी। एक स्पष्टवादी अंग्रेज के शब्दों में 'हमारी पद्धति एक स्पंज के समान है जो गंगा-तट से सब अच्छी चीजों को चूसकर टेम्स-तट पर जा निचोड़ती है।' इस पद्धति का एक ही परिणाम हो सकता था—दुर्भिक्ष, बार-बार दुर्भिक्ष" (इ० प्र० ५८९)।

हमने देखा है कि सन् १८१३ में ईस्ट इंडिया कम्पनी का व्यापार का एकाधिकार उठाकर दूसरे अंग्रेजों को भी भारत में व्यापार करने की छूट दे दी गई थी। लेकिन स्वतंत्र अंग्रेजों को एक व्यापारी कम्पनी के शासन में रहकर काम करना अखरता था।

"वे सोचते थे कि कम्पनी हटाई जाय तो सब अंग्रेज खुलकर भारत में अपने व्यापार के लिए सुविधाएँ पाएँ और बस भी सकें। सन् १८५३ में इस आन्दोलन ने जोर पकड़ा। मार्च १८५८ में पार्लिमेंट ने भारत में, विशेषतः पहाड़ी जिलों... में, यूरोपियन बस्तियाँ बसाने और मध्य एशिया में व्यापार-वृद्धि

के उपाय सोचने को एक कमिटी बैठाई। यह आन्दोलन चल ही रहा था कि गदर के कारण कंपनी को हटाने का एक बहाना मिल गया।

"एलिनबरो के शब्दों में ईस्ट इंडिया कम्पनी के हाथ में भारतवर्ष गिरवी था। ब्रिटिश सरकार ने उसे दाम देकर छुड़ा लिया। लेकिन वे दाम उसने अपने पास से नहीं दिए। कम्पनी की पूँजी का मूल्य १२० लाख पौंड लगाया गया, जिसे धीरे-धीरे भारत ने चुकाया। सन् १८७४ में इसमें से ४६ लाख पौंड बाकी रहा, जो भारत के कर्ज में शामिल कर दिया गया। उसके सिवा कम्पनी का ६५९ लाख पौंड कर्जा तो भारत पर डाला ही गया। यों ईस्ट इंडिया कम्पनी के बजाय भारतवर्ष लन्दन के उन महाजनों के हाथ गिरवी रक्खा गया, जिन्होंने इस भारतीय ऋण के ऋणपत्र खरीदे।" (इ० प्र० ५९४)।

भारत की शासन-पद्धति के मौलिक सिद्धान्तों में सन् १८५८ में कोई परिवर्त्तन नहीं हुआ। १७८४ में जो पद्धति बनाई गई थी, मूलतः वही जारी रही।

महारानी विक्टोरिया के भारत में राज्यकाल को दो हिस्सों में बाँटा जाता है। पहला सन् १८७६ तक, जब कि महारानी महारानी ही थीं, और दूसरा उसके बाद, जब कि उन्होंने सम्राज्ञी-पद धारण किया। पहले अंश में भारतीय सेना भारत के खर्च पर, किन्तु ब्रिटेन की साम्राज्यसाधना के लिए चीन, न्यूजीलैंड, अबीसीनिया और पेरक (सिंगापुर) के युद्धों में भेजी गई।

"सन् १८६५ में भारत से इंग्लैंड तक समुद्र के भीतर पनडुब्बा तार जारी किया गया। उसके लगाने का समूचा खर्च भारत पर डाला गया" (इ० प्र० ६०१)। इसके अलावा भारत की मालगुजारी में से ५ फी सदी नफे की गारंटी देकर अंग्रेज पूँजीपतियों को भारत में रेलवे-कम्पनियाँ खड़ी करने को प्रोत्साहित किया गया। "नफे की गारण्टी के कारण उन्होंने अत्यन्त फिजूलखर्ची से लाइनें बनवाईं। जब कभी हिसाब में गबन के कारण उन्हें घाटा हुआ, तब भी उन्हें ५ फी सदी नफा तो अपने बेहोश मालिक—भारतीय किसान—की तरफ से दिलाया ही गया" (वहीं)।

यह तो• था भारत की राष्ट्रीय आय के खर्च का पहलू। आय के पहलू में विदेशी माल पर की चुंगी प्रत्येक राष्ट्र की आय का बहुत बड़ा अंश होती है, पर भारत तो स्वतन्त्र राष्ट्र नहीं है! "गदर के बाद की आर्थिक कठिनाई में कैनिंग की सरकार ने आयात पर थोड़ी-सी चुंगियाँ बढ़ा दीं; लेकिन अंग्रेज व्यापारियों के दबाव से उसे वे चुंगियाँ दो बरस में ही घटानी पड़ीं। अगले 'दस वर्षों में भारत का व्यापार बढ़ा, पर जकात की आय घटी। उस आय की मात्रा उपहासास्पद थी।' सूती धागों के आयात पर ३½ फी सदी और कपड़े की आयात पर ५ फी सदी चुंगी थी। उस समम दो-तीन कपड़े की मिलें कलकत्ते में तथा एक दर्जन बंबई में खुल चुकी थीं। लंकाशायर को इतने से भी चिढ़ थी। सन् १८७५ में लार्ड नॉर्थब्रुक पर

दबाव डाला गया कि इस ५ फी सदी चुंगी को भी हटा दे। तब नॉर्थब्रुक ने इस्तीफा दे दिया" (इ० प्र० ६०२)।

इस चुंगी-नीति से न केवल भारत अपनी आय से वंचित रहता रहा, प्रत्युत उसके शिल्पों का नाश होना भी जारी रहा। "भारतीय शिल्पों का नाश होने पर बेकार जनता की सस्ती मजदूरी से भी अंग्रेज पूँजीपतियों ने लाभ उठाया। लार्ड मेयो (१८६९-७२ ई०) को आशा थी कि 'भारत की सस्ती मजदूरी ब्रिटिश व्यवसायियों के कर्त्तृत्व के लिए नया क्षेत्र उपस्थित करेगी।' चाय, काफी, सिनकोना, जूट और नील की काश्त की सफलता का उल्लेख कर उसने कहा कि हमें जंगलों, खानों और समुद्र की मछलियों पर भी ध्यान देना है, और इसलिए उसने जंगल, भूगर्भ तथा समुद्री पड़ताल आदि के महकमे खोले। जिन कारबारों में अंग्रेजों की पूँजी लगी थी, उनकी पूँजी का नफा हर साल भारत से बाहर जाता था" (वहीं)।

आय-व्यय के इस समूचे लेखे का जो परिणाम सन् १८५८ से १८७६ तक हुआ, अब वह हमें देखना है। "सन् १८५८ में भारत पर ६९५ लाख पौंड कर्ज डाला गया था। महारानी के राज के १९ सालों में वह कर्ज दूना हो गया। इसके अलावा कम्पनी की १२० लाख पौंड पूँजी पर भी भारत को सूद देना पड़ता था। इस सूद और विलायत में भारत-सरकार के खर्च के नाम पर भारत को अब (सन् १८७० के बाद) १½ से २ करोड़ पौंड वार्षिक का माल आयात की अपेक्षा अधिक

विलायत भेजना पड़ता था। यों महारानी के राज के १२ बरसों में भारत से धन की वार्षिक निकासी चौगुनी हो गई और इस धारा की पूर्त्ति के लिए जनता के कर का बोझ ५० फी सदी बढ़ गया, जिसमें नमक-कर ही विभिन्न प्रान्तों में ५० फी सदी से १०० फी सदी तक बढ़ा।

"भारत न केवल कपड़ा और अन्य कारीगरी की चीजें अन्न दे कर खरीदता रहा, प्रत्युत अपना यह खिराज भी अन्न और कच्चे माल से चुकाता रहा। अनाज का निर्यात इस अर्से में वार्षिक ३० लाख से ८० लाख पौंड हो गया। तेलहन और कच्चे चमड़े का निर्यात भी इसी तरह बढ़ा। तेलहन की खली सर्वोत्तम खाद होती है, इसलिए तेलहन का निर्यात 'जमीन की उपजाऊ शक्ति का निर्यात' था। कच्चे चमड़े के निर्यात का बढ़ना चमारों के शिल्प के ह्रास का सूचक था। यह पद्धति हमारे देश में अबतक जारी है। जाड़े के मौसम में हमारे गाँव और मंडियों में अनाज का जो चुस्त चालान दिखाई देता है, वह स्वतंत्र व्यापार नहीं, प्रत्युत गरीब किसानों को अपना पेट काटकर गुलामी का खिराज देना होता है। इसी लिए अकाल के सालों में भी वह 'व्यापार' वैसी ही चुस्ती से चलता रहता है। विदेशी व्यापार सब हुंडियों द्वारा होता है। भारत के जो व्यापारी बाहर माल भेजते हैं, वे उन व्यापारियों से दाम पाकर हुंडियाँ उन्हें दे देते हैं जिन्होंने बाहर से माल मँगाया होता है। इसलिए माल मँगानेवालों से भेजने-

वालों को पूरा मूल्य नहीं मिल जाता। इस कमी के लिए लन्दन में भारत-सचिव हुंडियाँ निकालता है, जिनका भुगतान भारत के खजानों से हो जाता है" (इ० प्र० ६०३)।

सन् १८७६ से १९०५ तक का अरसा अंग्रेजी इतिहास में साम्राज्य-साधना के तीस वर्ष कहलाता है। अंग्रेजों की इस साम्राज्यसाधना का मुख्य साधन भारत ही था। इस अरसे में दूसरा अफगान-युद्ध हुआ। मिस्र, सूडान और सोमालिस्तान तथा उत्तरी बरमा भारतीय फौजों द्वारा जीते गए; सन् १८८५ से १९०५ तक भारत के कुल सीमान्त पर अग्रसर नीति जारी रही; चीन के 'घूसेबाजों' के खिलाफ फारस की खाड़ी में और तिब्बत में भारत की सेनाएँ भेजी गईं; तथा दक्खिनी अफ्रिका को भारतीय सेना से दबाकर ब्रिटिश साम्राज्य में मिलाया गया।

इस बीच "जब अफगान-युद्ध जारी था, और दक्खिन में सन् १८७७ तथा उत्तर भारत में सन् १८७८ के दुर्भिक्षों के प्रभाव बाकी थे, लिटन (१८७६-८० ई०) ने ३० कौंट तक के कपड़े पर से चुंगी हटाकर भारतीय आय का वह स्रोत सुखा दिया। सन् १८८२ में लार्ड रिपन (१८८०-८४ ई०) ने नमक और शराब को छोड़कर सब चीजों का आयात विना चुंगी के कर दिया। डफरिन (१८८५-८८ ई०) और लैन्सडौन (१८८९-९३ ई०) के समय सामरिक खर्च की बढ़ती के कारण १८९४ ई० में फिर सब आयात पर ५ फो सदी चुंगी लगाई गई, और

साथ ही भारतीय मिलों के २० कौंट से ऊपर के कपड़े पर भी ३½ फी सदी चुंगी कर दी गई। लंकाशायर के व्यवसायी इतने से संतुष्ट न हुए, इसलिए १८९९ ई० में विदेशी और भारतीय, बारीक और मोटे, सभी कपड़ों पर ३½ फी सदी चुंगी कर दी गई। मोटे भरतीय कपड़े पर की चुंगी से लंकाशायर को कोई सीधा लाभ न था; क्योंकि विलायत से वैसा कपड़ा आता न था; उससे केवल भारत के गरीबों को कपड़ा महँगा मिलने लगा।

एक तरफ आय के इस स्रोत का वलिदान किया जाता था, तो दूसरी तरफ अंग्रेजी-साम्राज्य-लोलुपता के युद्धों का बोझ भारत पर पड़ता था। अफगान-युद्ध के खर्च का ⅙ तथा मिस्र-युद्ध के खर्च का ⅓ से कम इंगलैंड ने दिया; बाकी सब भारत पर पड़ा" (इ० प्र० ६१६)।

"एक नई पेचीदगी इस बीच उपस्थित हुई थी। दुनिया में चाँदी की उपज अधिक होने से सन् १८७० से रुपये का भाव गिरने लगा। उससे पहले १९ वीं शती में रुपये का भाव बराबर दो शिलिंग था। रुपया सस्ता होने से उपज के दाम बढ़े और भारत के व्यापार-व्यवसायों को कुछ स्फूर्त्ति मिली। बन्दोबस्त-अफसरों ने उसी हिसाब से मालगुजारी बढ़ा दी, इसलिए सरकारी आय में कुछ फरक नहीं पड़ा। भारत को चाँदी की मन्दी से कोई कष्ट न होता, उलटा लाभ ही था। लेकिन भारत इंग्लैंड का हर साल जो खिराज देता था, उसका

हिसाब इंग्लैंड चाँदी में गिनने को तैयार न था, वह उसे सोने के हिसाब से ही लेता रहा। इससे कठिनाई होने लगी।

"इस दशा में सन् १८७८ में लार्ड लिटन ने प्रस्ताव किया कि रुपये का टकसालाना परिमित करके उसका दाम बढ़ाया जाय। यदि जनता को अपनी चाँदी टकसालों में ले जाकर मनचाही मात्रा में रुपये बनवाने का अधिकार रहता तो चाँदी और रुपये का दाम एक ही सतह पर रहते। किन्तु, यदि जनता के लिए टकसालें बन्द कर दी जायँ तो कम-ज्यादा संख्या में रुपया बनाकर सरकार रुपये के दाम ज्यादा या कम कर सकती थी। लिटन इसी ढंग से रुपये का दाम बढ़ाना चाहता था; लेकिन रुपया सस्ता होने पर जो टैक्स बढ़ाए गए थे, वे रुपये को महँगा करके फिर घटाए न जाते। यों लिटन का उद्देश्य था जनता से धोखे से अधिक कर वसूल करना। ब्रिटिश सरकार ने वैसा करने की स्वीकृत न दी। लार्ड डफरिन ने फौजी खर्च की खातिर भारत का कर्ज बढ़ाया, जिससे विनिमय की दर भारत के खिलाफ और गिरी। तब उसने फिर लिटनवाले प्रस्ताव को दोहराया; पर ब्रिटिश-सरकार ने फिर स्वीकृति न दी। लैंसडौन और एल्गिन (१८९३–९८ ई०) के समय उजाड़ू फौजी खर्च की खातिर कर्ज और बढ़ गया; और रुपये का भाव गिरते-गिरते १३–१ पेनी पर पहुँच गया। तब सन् १८९३ से १८९९ ई० तक भारत-सरकार ने ब्रिटिश-सरकार की सहमति से टकसालें बन्द कर दीं, और '११ आने के सच्चे रुपये को १६ आने का

झूठा रुपया बनाकर कर-दाता से धोखे से ४५ फी सदी अधिक कर वसूल करना' शुरू किया। तब से रुपया सांकेतिक सिक्का रह गया। उसमें अपने मूल्य के बराबर चाँदी न रही, और उसका मूल्य पौंड के मूल्य पर निर्भर हो गया।

अबोध जनता ने समझा, उसकी किस्मत के फेर से मन्दी आ गई है और उसे पहले-जितनी ही मालगुजारी देने के लिए अधिक अनाज बेचना पड़ता है। उसे क्या मालूम था कि यह मन्दी सरकार की ही लाई हुई थी, जो इस ढंग से दस-बारह करोड़ का अनाज किसानों से इस कारण अधिक वसूल करने लगी थी कि उसे अब विलायत को इतना खिराज अधिक देना पड़ता था। सन् १८९७–९८ से १९०१–२ ई० तक भारत की कुल मालगुजारी रुपयों में प्रायः उतनी ही रही; पर पौंडों में ६४२½ लाख से ७६३½ लाख हो गई—और ये वर्ष वे थे जब सारे देश में लोग दुर्भिक्षों से तड़प-तड़पकर मर रहे थे।

रुपये का दाम बढ़ने से लाखों किसानों के कर्ज भी बढ़ गए—'भारत के गरीब कर्जदार-वर्ग के गले में बँधी पत्थर की चक्की का बोझ बढ़ गया' और 'उन समृद्ध वर्गों को लाभ हुआ जो जनता की मुसीबत पर जीते हैं।' और, लाभ हुआ उन अंग्रेज नौकरों और व्यवसायियों को जो भारत से अपनी बचत या मुनाफा इंग्लैंड को भेजते हैं। 'पर यह लाभ भारतीय करदाता के खर्च पर—भारत में हर कर्ज को बढ़ाकर' हुआ। भारत के गरीबों की बचत चाँदी के तुच्छ गहनों के रूप में

थी। 'भारत-सरकार के प्रस्ताव का अर्थ (था) गरीबों को उस बचत का 1/3 जब्त कर लेना। रुपये का दाम कृत्रिम रूप से बढ़ने से किसानों के चाँदी के कंगन और बाजूबन्द लागत से कम पर बिकने लगे। यों एक कलम की मार से सरकार ने गरीबों का असल धन छीन लिया, जिससे कि वह अपने कर्ज (खिराज) को सुविधा से चुका सके'।

"सन् १८७५ में भारत-सचिव लार्ड सालिस्बरी ने लिखा था—'भारत का खून निकालना यदि जरूरी है, तो नश्तर उन अंगों पर लगाना चाहिए जहाँ खून ज्यादा है।' लेकिन यह सलाह अमल में नहीं आई, और कर का बोझ किसानों पर ही पड़ता रहा।

"१९वीं सदी के अन्त में भारत के निर्यातों और आयातों का अन्तर करीब दो करोड़ पौंड वार्षिक रहा। यह खिराज अनाज के रूप में ही जाता था। भारतीय जनता की हालत तब यह थी कि देहात में मजदूरी की दर दो आना रोज थी और 'भूख बहुत-कुछ आदत बन गई थी'।" (इ० प्र० ६१६–१९)।

सन् १८५७–५८ का विप्लव समाप्त होते-होते झारखंड और संथालपरगने में संथालों ने भी, जो अपनी जमीनें छिन जाने तथा महाजनों के कर्ज में फँस जाने से बेचैन थे, विद्रोह किया। १८५९ तक वे दबा दिए गए और फिर उनकी जमीनों के सम्बन्ध में कुछ कानूनी फेरफार किया गया।

सन्थाल और नील-विद्रोह तथा कृषक-अधिकार-कानून

सन् १८५९–६० में बिहार-बंगाल के किसानों ने निलहे गोरों के विरुद्ध विद्रोह किया। खेती के खर्च उन्नीसवीं शती के शुरू से दूने हो गए थे; पर निलहे प्लांटर एक-गुट्ट होकर कच्चे नील का, जिसे वे किसानों से लेते थे, दाम न बढ़ाते थे। लार्ड कैनिंग ने १८६० में गंगा से यात्रा की, तब उसके सामने किसानों ने सब जगह प्रदर्शन किए। कैनिंग के शब्दों में "दिल्ली (में गदर फूटने) के बाद से कोई ऐसी चिन्ताजनक बात न हुई थी।" तब एक कमीशन नील की खेती के विषय में विचार करने को बैठाया गया, और कुछ छोटे-मोटे सुधार किए गए।

अंग्रेजों के जमीन-बन्दोबस्त से बिहार-बंगाल के किसानों के अधिकार किस तरह अनजाने में धीरे-धीरे छिनते जाते थे, यह लार्ड हेस्टिंग्स् के बाद दूसरे शासकों ने भी अनुभव किया था। सन् १८५८ में ईस्ट इंडिया कम्पनी के डाइरेक्टरों ने लिखा था—"बंगाल (-बिहार) की रैयतों के स्वत्व चुपचाप गायब हो गए हैं, और वे पूरी तरह से असामी बन गए हैं।"

गदर के बाद से सन् १८७६ तक भारत के शासकों को जनता को शान्त रखने का बहुत ध्यान रहा। तदनुसार लार्ड कैनिंग ने सन् १८५९ में बंगाल-रेंट-ऐक्ट बनाकर किसानों के दखीलकारी और मौरूसी हक निश्चित किए। इस कानून के विषय में सर रमेशचन्द्र दत्त ने लिखा है कि किसानों को इससे कोई नए हक नहीं मिले; पर रिवाज से 'शताब्दियों और सहस्राब्दियों से' भारतीय किसानों के जो हक चले आते थे,

वही स्मृतिबद्ध किए गए *। रमेशदत्त के जमाने में भारत का प्रत्येक पुराना रिवाज सहस्राब्दियों पुराना समझा जाता था। पर इधर इतिहास के अध्ययन में उन्नति होने से हम जानते हैं कि रिवाजों का भी बराबर विकास होता रहा है, और कार्न-वालिस के जमाने में किसानों के जो हक थे वे उनके शताब्दियों पुराने हकों का अंश मात्र थे—प्राचीन-काल में किसान अपनी जमीन का पूरा मालिक था।

चौथाई शताब्दी बाद लार्ड रिपन ने फिर वैसे एक कानून का मसविदा तैयार किया जो डफरिन के जमाने में १८८५ में कानून बना। रमेशदत्त का कहना है कि १८५९ के रेंट-ऐक्ट से बंगाली किसानों ने तो लाभ उठाया; पर बिहार के ढीले किसानों ने नहीं उठाया। इसलिए, रिपन का बिल खासकर बिहारी किसानों के लिए था। इस कानून ने भी किसानों को कोई नए हक नहीं दिए, प्रत्युत अंग्रेजी कानून और कचहरियों के प्रभाव से उनके पुराने हक छिनने की जो प्रवृत्ति थी उसकी कुछ रोक-थाम की। खुद रिपन इस कानून को नाकाफी समझता था। उसने लिखा—"मैं जितना चाहता था, उतनी दूर तक बिल नहीं जा सका।"

"शुरू-शुरू में जिन भारतवासियों ने अंग्रेजी शिक्षा पाई, वे प्रायः समाज-सुधार और शिक्षा-प्रचार के बड़े पक्षपाती थे।

* इंडिया इन विक्टोरियन एज, ५ वाँ संस्क०, २७१।

अंग्रेजी राज के प्रति उन्हें अनुरक्ति थी और इंग्लैंड की शासन-पद्धति के वे प्रशंसक थे। वे समझते थे कि भारत में समाज-सुधार और ज्ञान-प्रसार अंग्रेजी राज के द्वारा ही हो सकता है। अपने देश की बढ़ती हुई दरिद्रता और गुलामी की ओर भी उनका ध्यान जाता था; पर वे समझते थे कि अंग्रेज हमें माँगने-भर से वे अधिकार दे देंगे, जिनसे हम अपने देश की दशा सुधार सकेंगे उनकी माँगें भी तुच्छ होती थीं। १८५० ई० के करीब तक कलकत्ता, बम्बई और मद्रास में इस तरह की माँगनेवाली संस्थाएँ स्थापित हो गई थीं। (इ० प्र० ६०९)

भारतीय जागृति का आरम्भ

इन माँगनेवालों या इनकी संस्थाओं का सन् ५७ की विप्लव-चेष्टा से कोई सम्बन्ध न था। जैसी कटुता सन् ५७ के युद्ध में दोनों पक्षों ने एक दूसरे के प्रति दिखाई, वैसी इतिहास में बहुत कम संघर्षों में प्रकट हुई है। उस कटुता के प्रदर्शन से पता चला कि भारतीय जनता के हृदय में अंग्रेज शासकों के प्रति कैसी कसक भरी थी, और अंग्रेजों के दिल में भारतवासियों के प्रति कैसे विचार हैं। विप्लव की निष्फलता के बाद उस कसक का स्थान घोर निराशा और अनात्मविश्वास ने ले लिया। भारतवासी अपनी हार के कारणों को समझ न सके और उसे अपनी किस्मत का दोष मानने लगे!

"अंग्रेजी शिक्षा से अपरिचित लोगों में······अब कुछ ऐसे व्यक्ति पैदा हुए जिनके कारण गदर के बाद का भारत-

वासियों का घोर अनात्मविश्वास कुछ कम हुआ। गुज-रात के दयानन्द (१८२४—१८८३ ई०) तथा बंगाल के रामकृष्ण परमहंस (१८३४-१८८६ ई०) उनमें प्रमुख थे। दयानन्द धर्म-सुधारक और समाज-सुधारक थे; परन्तु उन्हें सुधारों के लिए प्रेरित करनेवाला भाव यह था कि इससे राष्ट्र शक्तिशाली होकर स्वाधीन हो सकेगा। उन्होंने लिखा—कोई कितना ही करे, परन्तु जो स्वदेशीय राज्य होता है, वह सर्वोपरि उत्तम होता है, अथवा प्रजा पर पिता-माता के समान कृपा, न्याय और दया के साथ विदेशियों का राज्य भी पूर्ण सुखदायक नहीं है।' गुजराती होते हुए भी दयानन्द ने अपने ग्रन्थ हिन्दी में लिखे; क्योंकि उनके विचार में 'भिन्न-भिन्न भाषा, पृथक्-पृथक् शिक्षा और अलग-अलग व्यवहार का विरोध विना छूटे······ अभिप्राय सिद्ध होना कठिन' था। विज्ञान के प्रसार, शिल्प की उन्नति और स्वदेशी की ओर दयानन्द का विशेष ध्यान था। रामकृष्ण परमहंस की मुख्य देन थी—सब धर्मों का समन्वय। अपने जीवन की उच्चता से उन्होंने उन अंग्रेजी-पढ़ों में से भी अनेक को अपनी तरफ खींचा जो प्रत्येक भारतीय वस्तु को तुच्छ मानने लगे थे, और उनकी हार-मनोवृत्ति को बदल दिया।

"अंग्रेजी शिक्षा और अंग्रेजी राज की चोट के कारण भार-तीय वाङ्मय में भी जागरण के चिन्ह दिखाई दिए। बँगला कविता में सन् १८५८ से ही स्वाधीनता और राष्ट्रीयता की पुकार

गूँजने लगी थी। बंकिमचन्द्र (१८३८–१८९४ ई०) अंग्रेजी-पढ़ों में से पहले व्यक्ति थे जिन्होंने दयानन्द की तरह पूर्ण स्वाधीनता का आदर्श सामने रक्खा। वारन् हेस्टिंग्स् के समय बंगाल में गुरिल्ला-युद्ध करनेवाले संन्यासियों के चरित से एक कहानी बनाकर उन्होंने 'आनन्दमठ' नाम से स्वतन्त्रता के योद्धाओं का आदर्श अंकित किया (१८८२ ई०)। उस मठ के संन्यासियों से उन्होंने काली की वन्दना के बहाने मातृभूमि की वन्दना 'वन्देमातरम्' गीत से कराई। बंकिम ने जो लहर बंगाल में चलाई वही···हाली (१८३७–१९१४ ई०) ने उर्दू में, हरिश्चन्द्र (१८५०–८५ ई०) ने हिन्दी में और विष्णुशास्त्री चिपलूणकर (१८५०–८१ ई०) ने मराठी में चलाई। चिपलूणकर के साथी बाल गंगाधर तिलक थे। सन् १८८१ में पहले-पहल उन्हें अपने एक लेख की खातिर चार मास की कैद मिली" (इ० प्र० ६१०-११)।

बनारस के बाबू हरिश्चन्द्र मुर्शिदाबाद के उस अमीचन्द के वंशज थे, जो मीर जाफर के नेतृत्व में क्लाइव के साथ षड्यन्त्र करनेवाली मंडली में से एक था। क्लाइव ने जालसाजी करके पीछे अमीचन्द को ठग लिया था। हरिश्चन्द्र ने अपने उस पूर्वज का कलंक अपने वंश पर से धो डाला; जनता ने उन्हें भारतेन्दु का पद दिया।

"लार्ड रिपन ने जागृति के इन अस्फुट चिन्हों को पहचाना और ऐसी चेष्टा की कि 'आनेवाली महान् कठिनाई का समय

रहते प्रतिकार हो जाय।' गाँवों तक के प्रबन्ध का विदेशी द्वारा संचालन जाग्रत जनता को बहुत अखरता। इसलिए रिपन ने 'स्थानीय स्वशान' जारी किया।...उसने लिखा—'देसी पद्धति को हमने बहुत-कुछ नष्ट किया है। पर उसके...अवशेष देश के अनेक भागों में हैं और उन अवशेषों पर मैं स्थानीय स्वशासन की इमारत खड़ी करना चाहता हूँ।' लेकिन पुरानी पद्धति में स्थानीय पंचायतें राज्य की बुनियाद थीं, इस स्थानीय 'स्वशासन' के बोर्ड राज्य के बनाए हुए खिलौने थे" (इ० प्र० ६१२)।

"लिटन के शासन-काल में युद्ध, दुर्भिक्ष और दमन के कारण जनता में भीतर-भीतर बड़ा असन्तोष था। कुछ विचारशील अंग्रेजों ने यह सोचा कि यदि उसे प्रकट होने का रास्ता न मिलेगा तो कभी एकाएक कोई विस्फोट हो जायगा। उनमें से एक ह्यूम ने डफरिन से सलाह कर एक ऐसी संस्था का आयोजन किया जिसमें अंग्रेजी-पढ़े हिन्दुस्तानी अपने कष्टों और आकांक्षाओं को प्रकट कर सकें। यह संस्था 'इण्डियन नेशनल कांग्रेस' के नाम से पहले-पहल दिसंबर १८८५ ई० में बम्बई में जुटी। बकौल लार्ड डफरिन इन 'भारतीय नेताओं के सामने यही आदर्श था कि भारत की विदेशी हमलों से...... रक्षा ब्रिटिश सेना ही करती रहे; पर भीतरी मामलों का प्रबन्ध उन्हें गोरों की दस्तंदाजी के विना सौंप दिया जाय।' उनका 'अग्रगामी दल भी अधिक-से-अधिक प्रान्तीय काउन्सिलों का सुधार ही माँगता था।'

"इन माँगों को देखते हुए सन् १८९२ में ब्रिटिश पार्लिमेंट ने 'इण्डियन काउन्सिल्स ऐक्ट' पास किया" (इ० प्र० ६१९)।

सन् १८३३ तक भारत के तीन प्रान्तों के गवर्नर अलग-अलग कानून बनाते थे। १८३३ से कानून का काम केवल गवर्नर-जनरल की कौंसिल के हाथ में रक्खा गया था। और, उस काम के लिए एक अलग मेम्बर की नियुक्ति की गई थी। सन् १८५३ से उस एक सदस्य के बजाय कुछ अधिक व्यक्ति रक्खे जाने लगे थे, और १८६१ में उनकी संख्या ६ से १२ तक की गई थी। वे सब गवर्नर-जरनल की पसन्द से रक्खे जाते थे; पर उनमें आधे गैर-सरकारी होते थे। १८६१ में ही प्रान्तों में भी व्यवस्था-समितियाँ (लेजिस्लेटिव कौंसिलें) बनाई गईं, जो फिर प्रांत के लिए कानून बनाने लगी थीं। अब १८९२ के ऐक्ट "के अनुसार बड़े प्रान्तों की व्यवस्था-समितियों में सदस्यों की संख्या बढ़ाकर २०–२१ कर दी गई, और उनमें आधे गैरसरकारी सदस्य म्यूनिसिपैलिटियों, जिला-बोर्डों आदि की सिफारिश पर नामजद किए जाने लगे। केन्द्रीय काउन्सिल के १० गैर-सरकारी सदस्यों में ४ प्रान्तीय काउन्सिलों से चुनकर आने लगे। बहुमत सब जगह सरकारी सदस्यों का ही रहा। पहले यह प्रथा थी कि जब कोई नया टैक्स लगाना हो तभी अर्थ-सचिव काउन्सिल में प्रस्ताव लाता था। अब से वार्षिक बजट पेश होने लगा, पर सदस्य लोग उसपर विचार

ही प्रकट कर सकते थे; उनके मत न लिये जाते थे। सदस्यों को प्रश्न पूछने का अधिकार भी दिया गया।

सन् १८९३ ई० में शिकागो (अमेरिका) में एक सर्व-धर्म-सम्मेलन हुआ। उसमें रामकृष्ण परमहंस के शिष्य विवेकानन्द ने वेदान्त की व्याख्या की। विवेकानन्द के प्रवचन से अनेक अमेरिकन प्रभावित हुए। १८९७ में जगदीशचन्द्र बसु ने भौतिक विज्ञान में कुछ नई खोजें कीं, जिनसे यूरोपियन विद्वान् भी चकित हुए। भारतवासियों में इन घटनाओं से आत्मविश्वास की नई लहर उठी" (इ० प्र० ६१९–२०)। पंजाब के स्वामी रामतीर्थ भी स्वामी विवेकानन्द की तरह नवीन जागृति के संदेश-वाहक थे।

अठारहवाँ अध्याय

हमारी पीढ़ी का बिहार

[१९०५ - - - -]

दयानन्द, विवेकानन्द और रामतीर्थ भारत के राष्ट्रीय जागरण के अग्रदूतों में से थे। बीसवीं शती के आरम्भ में उनके शिष्यों और साथियों में पहले-पहल क्रान्ति का आन्दोलन प्रकट हुआ। भारत की पूर्ण स्वाधीनता इन लोगों का लक्ष्य थी। "दयानन्द के एक शिष्य श्यामजी कृष्ण वर्मा सन् १९०० में लन्दन जा बसे और प्रवासी भारतीय विद्यार्थियों में क्रान्ति के विचार फैलाने लगे" (इ० प्र० ६२४)। "युवकों में जो चिनगारियाँ ये फैला रहे थे, उन्हें (लार्ड) कर्जन (१८९९-१९०५) के कार्यों और विश्व की परिस्थिति ने सुलगा दिया" (वहीं)। कर्जन ने बंगाल में उठती हुई राष्ट्रीयता की लहर का तोड़ने के लिए उस प्रान्त के दो टुकड़े कर दिए। तबतक बिहार-बंगाल एक ही प्रान्त होता था। कर्जन ने बिहार और पच्छिमी बंगाल को मिलाकर एक प्रान्त बनाया तथा पूरबी बंगाल और आसाम का दूसरा प्रान्त।

स्वदेशी आन्दोलन

"इसके जवाब में बंगाल में स्वदेशी वस्तुओं के प्रचार और ब्रिटिश माल के वहिष्कार का आन्दोलन शुरू हुआ। इस वहिष्कार-आन्दोलन के संचालक 'गरम दल' के कहलाते थे, और उनके मुकाबले में राष्ट्रीय कांग्रेस के सुधारवादी नेता 'नरम दल' के। तिलक, अरविन्द घोष, विपिनचन्द्र पाल, लाजपत राय आदि गरम दल के अगुआ थे। गरम दल की सहानुभूति पूर्ण-स्वाधीनता-आन्दोलन के साथ थी।

"सन् १९०१ में दयानन्द के एक पंजाबी शिष्य महात्मा मुंशीराम ने हरद्वार में एक 'गुरुकुल' की स्थापना की थी। अब उसमें उन्होंने आधुनिक विज्ञान की उच्चतम शिक्षा भी हिन्दी में दिलानी शुरू की। बंगाल में भी इस समय एक जातीय शिक्षा-परिषद् स्थापित हुई।

"साहित्य, कला और विज्ञान के क्षेत्र में भी इस जागृति ने मौलिक कृतियों को उत्पन्न किया।.........

"वंग-भंग के एक महीना बाद लार्ड कर्जन ने भारत से विदा ली। उसके उत्तराधिकारी मिण्टो को भारत में पहले राष्ट्रीय आन्दोलन से पाला पड़ा। जॉन मार्ली उस समय भारत-सचिव था। मार्ली और मिण्टो ने 'दाहने हाथ से दमन और बाएँ हाथ से शमन' का रास्ता पकड़ा।.........

"मई १९०७ ई० में पंजाब के लाजपत राय और अजीतसिंह कैदकर ६ मास के लिए बर्मा में निर्वासित किए गए। राष्ट्रीय अन्दोलन के उग्र होने पर गरम दल उसका साथ न दे

सका। दिसम्बर सन् १९०७ में राष्ट्रीय कांग्रेस सूरत में हुई; वहाँ दोनों दलों में खुल्लमखुल्ला लड़ाई हो गई । गोपालकृष्ण गोखले के नेतृत्व में नरम दल का कांग्रेस पर कब्जा रहा ; गरम दल अलग हो गया।

"इस बीच स्वदेशी और वहिष्कार का आन्दोलन बंगाल, महाराष्ट्र और पंजाब से हिन्दी, आन्ध्र और तामिल प्रान्तों में भी फैल गया था" (इ० प्र०, ६२४-२६)।

इस सिलसिले में तिलक को छ साल की कैद मिली।......

"सन् १९०९ में अंग्रेजी पार्लियामेण्ट में भारतीय शासन का नया कानून स्वीकृत हुआ। उसके अनुसार केन्द्रीय तथा प्रान्तीय व्यवस्था-समितियों की कुल सदस्य-संख्या १२४ से ३३१ की गई, जिनमें निर्वाचित सदस्यों की कुल सदस्य-संख्या ३९ से १३५ हो गई । केन्द्रीय समिति के सदस्य २१ से ६० हुए। जमींदारों, व्यापारियों आदि को विशेष अतिरिक्त प्रतिनिधि चुनने का अधिकार दिया गया.........। मुसलमानों के प्रतिनिधि अलग चुनने की तजवीज की गई.........। सदस्यों को प्रस्ताव रखने, प्रश्न पूछने और बजट पर विचार प्रकट करने मात्र का अधिकार (वोट देने का नहीं) दिया गया। केन्द्रीय और प्रान्तीय शासन-समितियों में एक-एक दो-दो भारतीय सदस्य रखना तय हुआ। उस समय लार्ड रिपन-जैसे अंग्रेज राजनेताओं को भी संदेह था कि शासन-समितियों में भारतीयों को लेने से काम कैसे चलेगा। धीरे-धीरे उन्होंने देख लिया कि हिन्दुस्तानी सिपाहियों की

तरह हिन्दुस्तानी शासन-सदस्यों से भी अंग्रेज अपना काम मजे में निकाल सकते हैं।

"इस शासन-नीति का असर क्रान्ति-आन्दोलन पर नहीं पड़ा। सन् १९०९ के अन्त में पंजाब में धर-पकड़ हुई। अजीत-सिंह तब अपने साथी सूफी अम्बाप्रसाद और शुजाउलहक के साथ ईरान भाग गए। वहाँ उन्होंने ईरान पर आती हुई ब्रिटिश और रूसी प्रभुता के खिलाफ ईरानियों को जगाने की कोशिश की। दिल्ली के एक युवक हरदयाल भी, जो इंगलैण्ड में श्याम-जी कृष्ण वर्मा से दीक्षा पाकर पंजाब लौटे थे, विदेश भागे, और मिस्र में पहुँचकर वहाँ के युवकों में स्वाधीनता के विचार फैलाने लगे।

"हरदयाल मिस्र से यूरोप पहुँचे, और वहाँ से अमेरिका-प्रवासी पंजाबियों में क्रान्ति के वीज बोने को रवाना हुए।

"सन् १९११ के अन्त में सम्राट् जार्ज (पंचम) भारत आए और दिल्ली में अभिषेक-दरबार में वंग-भंग को रद्द करने की घोषणा की। आसाम और बिहार-उड़ीसा-प्रान्त बंगाल से अलग किए गए तथा भारत की राजधानी कलकत्ते से दिल्ली बदली गई" (इ० प्र० ६२७–२९)।

स्वदेशी आन्दोलन के सिलसिले में नवसारी (जि० सूरत) के प्रसिद्ध व्यवसायी जमशेदजी नसरवानजी ताता ने छोटानागपुर में फौलाद के एक कारखाने की नींव डाली। उसी कारखाने के चौगिर्द आज जमशेदपुर बसा है। प्रमथनाथ बसु नामक एक

भूगर्भशास्त्री ने वहाँ लोहे की धातु होने का पता लगाया था। उस पर ताता ने लाखों रुपये खर्च कर उस धातु के गुण-दोषों की जाँच कराई और जाँच का फल सन्तोषजनक निकलने पर कारखाना खोला।

दक्खिनी अफ्रीका का सत्याग्रह

"दक्खिनी आफ्रिका में जो शर्त्तबन्द भारतीय कुली जाते थे, उनमें से बहुत-से शर्त्त छूटने के बाद वहीं रह जाते थे। दूकानदारी और अन्य धन्धों से भी वहाँ बहुत-से हिन्दुस्तानी गए हुए थे। दक्खिनी आफ्रिका के युरोपियनों को उनका स्वतन्त्र होकर वहाँ रहना या बसना अखरता था। उन्होंने कई कानून बनाकर खास इलाकों में हिन्दुस्तानियों को व्यापार करने, जमीन लेने या घुसने तक से रोक दिया। इसपर सन् १९१३ में मोहनदास करमचन्द गान्धी के नेतृत्व में वहाँ के हिन्दुस्तानियों ने सत्याग्रह किया; २,५०० आदमी ट्रान्सवाल से नाटाल में घुसे; उनके नेता गिरफ्तार किए गए; जगह-जगह हड़तालें हुईं। अन्त में वहाँ की सरकार की ओर से जनरल स्मट्स ने गान्धीजी से समझौता किया और कानून में कुछ रद्दोबदल किया" (इ० प्र० ६२९)।

सन् १९११ तक स्वदेशी आन्दोलन के ठंडे हो जाने पर देश में मुर्दनी-सी छाई थी। गान्धीजी के इस 'निष्क्रिय प्रतिरोध' से उसमें फिर एक बिजली की लहर-सी दौड़ गई। हम देख चुके हैं कि दक्खिन आफ्रिका के प्रवासी कुलियों में बिहारियों की एक बड़ी तादाद थी।

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के वक्त जिस साहित्यिक जागृति का आरम्भ हुआ, वह जारी रही। उस सिलसिले में काशी में नागरी-प्रचारिणी सभा स्थापित हुई (सन् १८९३ ई०)। उस सभा के उद्योग से सन् १९१० में पहला हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन भी काशी में ही हुआ। सम्मेलन का चौथा अधिवेशन सन १९१३ में भागलपुर में महात्मा मुन्शीराम के सभापतित्व में हुआ। उसमें श्रीयुत काशीप्रसाद जायसवाल ने 'हिन्दूराज्यसंस्था' पर एक निबन्ध पढ़ा। तबतक लोगों की यह धारणा थी कि भारत में सदा निरंकुश एकतन्त्र शासन ही रहा है, और सहस्राब्दियों से जमे हुए रिवाज सदा एक-से बने रह कर जनता के जीवन को अनुशासित करते रहे हैं। जायसवालजी की खोज से बिलकुल उलटी बात पाई गई। यह जाना गया कि प्राचीन भारत में भी प्रजातन्त्र थे, और यहाँ भी बराबर संस्थाओं का क्रमविकास होता रहा है। जायसवालजी ने दिखाया कि हिन्दू-कानून भी स्थायी रिवाजों का समुच्चय नहीं है, प्रत्युत उसका क्रमिक विकास होता रहा है। इन विचारों से भारत की ऐतिहासिक खोज की धारा ही पलट गई।

साहित्यिक जागृति

अगस्त १९१४ ई० में यूरोप में फ्रांस और ब्रिटेन का जर्मनी से युद्ध शुरू हुआ जो नवम्बर १९१८ में समाप्त हुआ। "युद्ध शुरू होते ही ब्रिटिश पार्लियामेंट ने निश्चय किया कि भारतीय सेना से इस युद्ध में पूरा काम लिया जाय और उसका पूरा खर्च भारत उठाए। ....

महायुद्ध

भारत से कुल १३ लाख आदमी, जिनमें ८ लाख योद्धा थे, इस युद्ध के विभिन्न मोर्चों पर गए" (इ० प्र० ६३१-३३)।

यूरोप में युद्ध छिड़ते ही भारतीय क्रान्तिकारियों ने जर्मन-युद्ध-विभाग और तरुण तुर्क-दल के सहयोग से भारत में विप्लव करने की जोरदार कोशिश शुरू की। भारत में पंजाब, बंगाल और अन्य प्रान्तों के क्रान्तिकारियों का मिलने का केन्द्र बनारस में था।

"वन्नू-पेशावर से सिंगापुर तक तमाम फौजों में क्रान्तिकारी कारिन्दे पहुँच गए, और सब फौजों की भीतरी हालत उन्होंने जान ली। भारत में उस समय गोरी फौज कुल १५ हजार थी। रंगून की वलोची पल्टन में सरकार को कुछ गड़बड़ दीख पड़ी। रंगून की बलोची पल्टन में से २०० आदमी कैद किए गए और सिंगापुर की पंजाबी पल्टन की बदली कर दी गई।

"फीरोजपुर और रावलपिंडी में भारत के सबसे बड़े शस्त्रागार हैं। २१ फरवरी (१९१५) को उनपर और लाहौर के शस्त्रागार पर देशी पल्टनें हमला करतीं, और उसके बाद जहाँ-तहाँ देशी फौज बलवा कर उठतीं। फरवरी में ही पंजाब-पुलिस को इस मामले की भनक मिली। १९ फरवरी को शस्त्रागारों पर गोरी फौज का पहरा लगा दिया गया, और लाहौर-अमृतसर में क्रान्तिकारी अड्डों पर पुलिस ने छापे मारे। उन छापों में हथियारों के अलावा तिरंगे राष्ट्रीय झंडे और एलान-ए-जंग भी पकड़े गए, इससे देशी फौज की हिम्मत टूट गई। लेकिन २१ फरवरी को सिंगापुर की फौज ने बलवा करके टापू पर अधिकार कर लिया। पंजाब

में जोरों की धर-पकड़ शुरू हुई, और 'भारत-रक्षा-कानून' जारी किया गया। क्रान्तिकारियों ने यह सोचा कि उनके अपने दल के पास शस्त्र काफी होते तो वे स्वयं शस्त्रागारों पर पहला हमला कर देते। इसलिए उन्होंने कोशिशें जारी रक्खीं।........ सरकार ने इसके बाद इंगलैंड से बहुत-सी नई गोरी फौज भारत मँगा ली। आगे से भारतीय फौज बाहर भेजी जाती और गोरी फौज भारत में रक्खी जाती।

"सन् १९१५ से १७ ई० तक इन कोशिशों के फल-स्वरूप अनेक मुकदमे हुए। पंजाब और बंगाल में सैकड़ों आदमियों को फाँसी और कालापानी मिला तथा कई हजार नजरबन्द किए गए" (इ० प्र० ६३५)।

पंजाब के बहुत-से कैदी हजारीबाग-जेल में रक्खे गए। उनका एक दल वहाँ से निकलकर भाग भी गया। सन् १९१५ की कोशिश में किसी बिहारी ने भाग लिया कि नहीं, इसका पता नहीं है; पर १९१७—१८ में बिहार के भी कई युवक नजरबन्द करके रक्खे गए।

"महायुद्ध के समय भारत का सामरिक खर्च दो से तीन करोड़ पौंड वार्षिक होता रहा। उस समय भारत-सरकार की कुल मालगुजारी वार्षिक १० करोड़ पौंड से कम थी। दिसंबर १९१५ ई० में पहला युद्ध-ऋण उठाया गया। उसके बाद तो कई युद्ध-ऋण लिये गए।

"प्रत्येक सरकार, जो कागजी मुद्रा या दूसरी सांकेतिक मुद्रा

चलाती है, उसकी खातिर सोने का एक रक्षित भंडार रखती है। भारत में टकसालें बन्द होने पर भारत का एक स्वर्णमान-भंडार 'कागज-मुद्रा-भंडार' लन्दन में रक्खा गया था। युद्ध के समय इन भंडारों में से १३ करोड़ पौंड ब्रिटिश सरकार को उधार दे दिए गए।

"१९१७ में भारत-सरकार ने ब्रिटेन को युद्ध की खातिर १० करोड़ पौंड 'दान' दे दिया। सितम्बर १९१८ ई० में ४½ करोड़ पौंड का और 'दान' देना तय हुआ; पर युद्ध समाप्त हो जाने स यह समूची रकम दी न गई। ये रकमें भारत में ही कर्जों द्वारा उठाई गईं। कर्ज उठाने में काफी जोर-जबरदस्ती की जाती रही। उन कर्जों से अमीरों ने तो सूद पैदा किया और गरीब जनता पर ३० वरस के लिए १० करोड़ सूद का बोझ बढ़ गया।

"खर्च की दिक्कत के कारण सन् १९१७ ई० में सरकार को विलायती कपड़े पर भी ७½ फी सदी चुंगी लगानी पड़ी। से भी युद्ध के कारण भारत के व्यवसायों को कुछ बढ़ावा मिला। यों तो भारत ने सब तरह की रसद-सामग्री इंग्लैंड की मदद को भेजी; पर यहाँ लोहे की कीलें, पेंच, कमानियाँ, तार के रस्से-जैसी साधारण चीजें भी तैयार न हो सकती थीं। अंग्रेज शासकों ने अनुभव किया कि भारत में व्यवसायों को न पनपने देने की उनकी पुरानी नीति युद्ध-जैसे समय में घातक हो सकती है, और तब से उन्होंने भारतीय पूँजीपतियों को अपने साथ लेने की नीति पकड़ी।

"क्रान्तिकारियों की सब कोशिशें बेकार हुईं; पर उनके बलिदानों से देश में एक पीड़ा की कराह उठी, जिससे दूसरे लोग भी कुछ करने को बेचैन होने लगे। एप्रिल १९१६ ई० में तिलक ने पूना में होमरूल-लीग की स्थापना की। दिसम्बर १९१६ ई० में कांग्रेस के लखनऊ-अधिवेशन में नरम और गरम दल में मेल हो गया" (इ० प्र० ६३६—३७)।

"महात्मा गान्धी सन् १९१५ के शुरू में भारत चले आए थे। लखनऊ-कांग्रेस से उन्हें बिहार के लोग चम्पारन के निलहे गोरों के जुल्मों की जाँच करने ले गए। चम्पारन पहुँचने पर उन्हें जिले में न घुसने का हुक्म मिला, जिसपर उन्होंने सत्याग्रह किया। वह हुक्म लौटाया गया; जाँच हुई, और निलहों ने विलायत का रास्ता लिया" (इ० प्र० ६३७)।

चम्पारन में महात्मा गान्धी

चम्पारन की इस जाँच में महात्मा गान्धी के साथ बाबू ब्रज-किशोर प्रसाद, बाबू राजेन्द्रप्रसाद आदि बिहार के अनेक कार्यकर्त्ता भी सम्मिलित थे। उन कार्यकर्त्ताओं के लिए यह एक नए जीवन की दीक्षा थी, और उनमें से अनेक इसके बाद अपना कारबार छोड़कर देश के कार्य में ही लग गए। बिहार की जनता की राजनीतिक जागृति वास्तव में चम्पारन की इस जाँच से ही शुरू हुई। महात्मा गान्धी का भारत में कार्य भी चम्पारन से ही शुरू हुआ।

"प्रतिज्ञाबद्ध कुली-प्रथा को उठाने के लिए गान्धीजी सन् १८९४ से ही आन्दोलन कर रहे थे। दक्खिन-आफ्रिका-सत्याग्रह

की सफलता के बाद उस आन्दोलन ने जोर पकड़ा । गान्धीजी ने अपने मित्रों को फिजी भेजकर हालात की जाँच कराई" (इ० प्र० ६३७) ।

पंडित मदनमोहन मालवीय ने बड़ी व्यवस्था-समिति में प्रस्ताव पेश किया कि कुली-प्रथा उठा दी जाय । भारत-सरकार इसपर टालमटूल करती रही । इसपर गान्धीजी ने "घोषणा की कि यदि वह प्रथा न उठाई जायगी तो वे सत्याग्रह शुरू करेंगे । तब लार्ड चेम्सफोर्ड ने (सन् १९२० में) इस प्रथा को बन्द किया" (वहीं) ।

कांग्रेस का नया विधान

"सन् १९१५ की विद्रोह-चेष्टा दबाने के साथ ही भारत के शासकों ने समझ लिया कि और शासन-सुधार देने होंगे । और, उन सुधारों की रूप-रेखा मार्च १९१६ ई० में बना ली । २० अगस्त १९१७ ई० को भारत-मन्त्री मांटेग ने घोषणा की कि भारत में ब्रिटिश-साम्राज्य के अन्तर्गत उत्तरदायी शासन धीरे-धीरे स्थापित करना ब्रिटिश सरकार का लक्ष्य है । उस जाड़े में मांटेग भारत आए और लार्ड चेम्स्फोर्ड के साथ देश में घूमे । तभी श्रीराउलट की अध्यक्षता में एक कमिटी क्रान्तिकारियों को दबाने के उपाय सुझाने को बैठाई गई । सन् १९१८ में राउलट-कमिटी की रिपोर्ट तथा मांटेग-चेम्सफोर्ड-सुधार-योजना प्रकाशित हुई । राउलट-कमिटी की सलाहों का सार यह था कि भारत-रक्षा-कानून द्वारा युद्ध-काल में सरकार ने जो विशेष-अधिकार ले लिये थे, वे स्थायी कर दिए जायँ ।

"सन् १९१९ के शुरू में भारत-सरकार ने केन्द्रीय व्यवस्था-समिति में इसके अनुसार दो कानूनों के मसविदे पेश किए। इसपर महात्मा गान्धी ने उन कानूनों के शान्तिमय उल्लंघन की घोषणा की। छ एप्रिल को समूचे देश में लोगों से उपवास, हड़ताल और प्रतिवाद करने को कहा गया" (इ० प्र० ३३७–३८)।

इस प्रसंग में पंजाब में फौजी शासन जारी किया गया और जनता पर सन् १८५८–जैसे अत्याचार किए गए।

"पंजाब की गाड़ियाँ खुलते ही कांग्रेस की ओर से एक कमिटी जाँच के लिए वहाँ गई। यह जाँच अभी जारी थी कि मांटेग-चेम्सफोर्ड-योजना कानून बन गई। उसका सार यह था कि केन्द्रीय और प्रान्तीय व्यवस्था-सभाओं में निर्वाचित बहुमत होगा। केन्द्रीय सभा सब कानूनों के मसविदों पर तथा लगभग १३१ करोड़ रुपये के वार्षिक बजट में से १६ करोड़ पर सम्मति दे सकेगी; पर उस सम्मति को मानना या न मानना गवर्नर-जनरल की इच्छा पर निर्भर होगा। प्रान्तीय सभाओं का शिक्षा, आबकारी आदि विषयों पर नियन्त्रण होगा, और वे विषय 'हस्तान्तरित' कहलाएँगे; उन्हें चलानेवाले मन्त्री उन सभाओं के बहुपक्ष के प्रति जिम्मेदार होंगे; बाकी विषय, जैसे अमनचैन की रक्षा आदि, 'रक्षित' होंगे; उनके लिए गवर्नरों की शासन-समितियों में दो सदस्य होंगे, जिनमें से एक हिन्दुस्तानी होगा। साम्प्रदायिक निर्वाचन की प्रथा जारी रहेगी।.........

"दिसम्बर १९१९ ई० में अमृतसर में कांग्रेस का अधिवेशन

हुआ। उसके ठीक पहले यह कानून तैयार हुआ। तभी युद्ध क समय के सब नजरबन्द तथा अधिकांश क्रान्तिकारी कैदी भी छोड़ दिए गए।

"यूरोप में युद्ध रुक जाने पर पेरिस के वारसाई-महल में साल-भर सन्धि के सम्मेलन होते रहे। विजेताओं ने जी खोल-कर पराजितों को लांछित किया। तुर्की का साम्राज्य नष्ट ही हो गया। ठेठ तुर्की को भी दबाया जा रहा था। भारतीय मुसलमान १९ वीं शती से तुर्की के सुल्तान को इस्लाम का खलीफा मानते थे। खिलाफत को टूटता देख वे क्षुब्ध होने लगे। गान्धीजी ने उन्हें सरकार से असहयोग करने की सलाह दी।

"अमृतसर-कांग्रेस ने कांग्रेस को जनता की संस्था बनाने के लिए उसका नया विधान तैयार करने का काम गान्धीजी को सौंपा। पंजाब के अत्याचारों की याद में सन् १९२० में ६ से १३ एप्रिल तक राष्ट्रीय सप्ताह मनाया गया। मई में तुर्की की सन्धि प्रकाशित हुई। २८ मई को भारतीय खिलाफत-कमिटी ने असहयोग की नीति निर्धारित की।

"कांग्रेस के नेताओं में अभी परामर्श जारी था कि एक अगस्त को लोकमान्य तिलक चल बसे। ४ से ९ सितम्बर तक कलकत्ते में कांग्रेस का विशेषाधिवेशन लाला लाजपतराय के सभापतित्व में हुआ। उसमें व्यवस्था-सभाओं, स्कूल-कालिजों और अदालतों का बहिष्कार करना तय हुआ। दिसम्बर में नागपुर-कांग्रेस ने इन प्रस्तावों का समर्थन तथा गान्धीजी का बनाया हुआ नया

विधान स्वीकृत किया। कांग्रेस का ध्येय अब से 'शान्तिमय और उचित उपायों द्वारा स्वराज्य पाना' हो गया" (इ० प्र० ६३९-४१)।

तिलक के कांग्रेस में वापस आने के बाद से कांग्रेस भारत की लोकप्रिय संस्था बनने लगी थी। गान्धीजी के "नए विधान से······(वह) जनता की देशव्यापी तथा कार्यक्षम संस्था बन गई" (इ० प्र० ६४१)। गान्धीजी का कहना था—"स्वराज्य शीघ्र पाने का साधन स्वदेशी, हिन्दू-मुस्लिम ऐक्य, हिन्दुस्तानी को राष्ट्रभाषा बनाना और प्रान्तों का भाषाओं के अनुसार नए सिरे से निर्माण करना है।·········राष्ट्रीय पुनर्निर्माण की किसी भी योजना में (अंग्रेजों के किए हुए शासन-) सुधारों का स्थान गौण है।·········यदि राष्ट्रीय शक्ति पूर्वोक्त कार्यों में लग जाय·········तो सुधार स्वतः ही प्राप्त हो जाएँगे।" (कांग्रेस-इति० १६५-१६६)। फिर "यदि हम कांग्रेस-विधान को चरितार्थ करें तो उस चरितार्थ करने से ही स्वराज मिलेगा" (आत्मकथा, ५५४)। सन् १९२४ में अपने बेलगाँव-कांग्रेस के सभापति-अभिभाषण में उन्होंने फिर कहा कि "स्वराज्य के साधन······ प्रान्तों का भाषानुसार निर्माण,············नौकरियों में जाति-भेद का अन्त,·········देशी भाषाओं द्वारा सरकारी कामकाज, हिन्दी को राष्ट्रभाषा मानना···········" हैं (कांग्रेस-इति०, २४६)।

गान्धीजी भाषानुसार प्रान्त-विभाजन को स्वराज पाने का एक साधन समझते हैं, यह एक ध्यान देने योग्य बात है। जैसा

कि पहले अध्याय में कहा जा चुका है, इतिहास की खोज से प्रकट हुआ है कि हमारे आज के भाषा-क्षेत्र पुराने इतिहास के जनपद हैं। वे न केवल भाषा की, प्रत्युत इतिहास और संस्कृति की भी इकाइयाँ हैं। समान भाषा के क्षेत्र में सम्मिलित होना सामूहिक राजनीतिक चैतन्य के उपजने का उत्कट साधन है। इसी से भारत की राष्ट्रीय चेतना के जागने के साथ-साथ ये जनपद अपने पुराने स्वरूप में फिर से आने के लिए बेचैनी दिखला रहे हैं।

यह बेचैनी पहले-पहल बिहार में ही प्रकट हुई। सन् १८९४ में बाबू महेशनारायण ने बिहार को स्वतन्त्र प्रान्त बनाने की बात उठाई। बंग-भंग के खिलाफ आन्दोलन एक भाषा का एक जनपद बनाने का ही आन्दोलन था। सन् १९०८ में पहली बिहार-प्रान्तीय परिषद् श्रीअली इमाम के सभापतित्व में हुई, और कांग्रेस ने अपने विधान में संयुक्त बंगाल को एक प्रान्त और बिहार-उड़ीसा को एक प्रान्त बनाया। फिर १९१३–१५ से आन्ध्र-प्रान्त का आन्दोलन चला और १९१७ की कांग्रेस में श्रीमती आनीबेसेंट के विरोध के बावजूद तिलक के सहयोग से वह प्रस्ताव स्वीकृत हुआ। फिर सिन्ध को कांग्रेस ने अलग प्रान्त बनाया, और अन्त में गान्धीजी के नए विधान के अनुसार १९२० में कर्णाटक, केरल, नागपुर और उड़ीसा के प्रान्त बने। (कांग्रेस-इति०, ५५–५७, १२८)।

"कांग्रेस के नए विधान के अनुसार १५ व्यक्तियों की एक

कार्य-समिति बनी और उसकी हर महीने बैठक होने लगी।

असहयोग आन्दोलन

कांग्रेस की पुकार पर सरकारी स्कूलों-कालिजों के विद्यार्थी उन्हें छोड़ने लगे और राष्ट्रीय विद्यापीठों की स्थापना हुई। अदालतें खाली तो न हुईं; पर उनका रोब जाता रहा। व्यवस्था-सभाओं में कांग्रेसी लोग नहीं गए। असहयोग का अन्तिम रूप करबन्दी होगा, यह बात सबके मन में थी। उसकी तैयारी के लिए ३० जून तक कांग्रेस के एक करोड़ सदस्य बनना, स्वराज्य-कोष में एक करोड़ रुपया जमा करना तथा २० लाख चर्खे चालू करना तय हुआ।

"तीन एप्रिल को लार्ड रीडिंग ने लार्ड चेम्सफोर्ड से शासन-भार लिया। कांग्रेस का कार्य जोर से चलते ही सरकार ने धर-पकड़ शुरू कर दी। जो लोग पकड़े जाते, वे मुकदमों में अपनी सफाई न देते थे। आठ जुलाई को कराची में खिलाफत-सम्मेलन में घोषणा की गई कि मुसलमानों के लिए ब्रिटिश फौज में रहना हराम है। जुलाई के अन्त तक कांग्रेस के ५० लाख सदस्य बन गए, तथा स्वराज्य-कोष में ११५ लाख रुपये जमा हो गए थे। ३० सितम्बर तक विदेशी कपड़े का पूरा बहिष्कार करना तय हुआ। इस प्रसंग में स्वयंसेवक लोग घर-घर से विदेशी कपड़ा इकट्ठा कर उसकी होली करने लगे, और सरकार ने जोर का दमन जारी किया। कराची-प्रस्ताव की खातिर मुसलिम नेता गिरफ्तार किए गए; तब कार्य-समिति के आदेश से १६ अक्टूबर को देश-भर में सभाएँ कर यह बात दोहराई गई कि किसी

भी भारतीय का ब्रिटिश सरकार की नौकरी करना राष्ट्रीय गौरव और राष्ट्रहित के विरुद्ध है।

"पाँच नवम्बर को प्रान्तीय कांग्रेस-समितियों को सामूहिक सत्याग्रह करने का अधिकार दिया गया। चुनी हुई तहसीलों या जिलों में करबन्दी करना उस सत्याग्रह का मुख्य अंश होता। इसके बाद दमन और बढ़ा; दिसम्बर तक प्रायः ३० हजार सत्याग्रही जेलों में बन्द हो चुके थे।

"सन् १९२१ के अन्त में अहमदाबाद-कांग्रेस ने अगली लड़ाई के लिए गान्धीजी को अधिनायक नियत किया। गान्धीजी सूरत जिले के बारडोली-तालुके में करबन्दी की तैयारी कर रहे थे। एक फरवरी को उन्होंने वाइसराय को अन्तिम सूचना देते हुए लिखा 'मैं आपसे अनुरोध करता हूँ कि आप देश की अहिंसात्मक हलचल में······सरकार की तटस्थता की घोषणा कर दें।······ यदि आप सात दिन के भीतर ऐसी घोषणा कर देंगे तो मैं तब तक के लिए सत्यागह मुलतवी कर दूँगा, जबतक सारे कैदी छूटकर नए सिरे से विचार न कर लें" (इ० प्र० ६४२-४३)।

"लेकिन ठीक वही हफ्ता बीतते-बीतते पाँच फरवरी को गोरखपुर जिले के चौरीचौरा स्थान में······भड़काई हुई जनता ने २१ सिपाहियों और एक दारोगा को थाने में खदेड़कर उस थाने में आग लगा दी। गान्धीजी ने उसपर सामूहिक सत्याग्रह बन्द कर दिया। २४–२५ फरवरी को भारतीय कांग्रेस-समिति

ने उनका समर्थन किया।·········१३ मार्च को गान्धीजी गिरफ्तार किए गए, और उन्हें छ साल की कैद की सजा दी गई।

"हमने देखा है कि महायुद्ध के समय अंग्रेजों ने भारत में व्यवसाय स्थापित करने की आवश्यकता अनुभव की थी। युद्ध के बाद जापान ने अपना व्यापार बहुत बढ़ा लिया। भारत के कृषि-प्रधान होने का लाभ इंग्लैंड के बजाय जापान को मिलने लगा और व्यवसायियों के संरक्षण के लिए एक टैरिफ-(जकात)-बोर्ड नियुक्त किया गया। भारत में पूँजी लगानेवाले ब्रिटिश व्यवसायियों ने भारतीय पूँजीपतियों को साथ लेना शुरू किया। उन्होंने देखा कि वैसा करने पर भी 'अंग्रेजों का पुराना नियन्त्रण ज्यों-का-त्यों बना रहता है; क्योंकि हिन्दुस्तानी अपने मुनाफे-भर से संतुष्ट हो जाते हैं। उन्हें प्रबन्ध में हिस्सा लेने की इच्छा नहीं' होती" (इ० प्र० ६४३–४४)।

भारत के राजनीतिक जीवन में अब ज्वार के बाद भाटा शुरू हुआ। "सन् १९२१ के बाद के बरसों में छोटे-मोटे प्रश्नों पर अथवा धर्म की आड़ लेकर कई सामूहिक सत्याग्रह होते रहे।......

भाटे के सात बरस

"राष्ट्रीय कांग्रेस ब्रिटिश-सरकार से असहयोग और उसकी संस्थाओं के बहिष्कार को बराबर अपनी नीति कहती और सत्याग्रह में विश्वास प्रकट करती रही" (इ० प्र० ६४४)।

दिसम्बर १९२२ में राष्ट्रीय कांग्रेस का अधिवेशन गया में

हुआ था। उसके सभापति श्री चित्तरंजनदास ने पीछे इस्तीफा देकर एक 'स्वराज्य-दल' का संगठन किया। स्वराज्य-दल का "कहना था कि व्यवस्था-सभाओं में जाकर उनके 'भीतर से असहयोग' किया जाय।" सितम्बर १९२३ में दिल्ली के विशेष अधिवेशन में "कांग्रेस ने•••इसके लिए इजाजत दे दी। पाँच फरवरी १९२४ ई० को महात्मा गांधी बीमारी के कारण छोड़ दिए गए। गान्धीजी के अनुयायी अपने 'रचनात्मक कार्यक्रम' में लगे रहे, और उन्होंने राष्ट्रीय कांग्रेस के संगठन और आत्मनिर्भरता के भाव को बनाए रक्खा। गांधीजी के आन्दोलन का परोक्ष प्रभाव बहुत हुआ। एक तो हजारों आदमियों के जेल का पानी पी आने से हिन्दुओं की छूत-छात घटने लगी। दूसरे, स्त्रियों ने भी आन्दोलन में भाग लिया, जिससे उन्हें समाज में कुछ स्वतन्त्रता मिलने लगी। १९२२ ई० में तो केवल तीन स्त्रियाँ जेल गईं; पर उन्होंने आगे के लिए रास्ता खोल दिया" (इ० प्र० ६४४-६४५)।

बिहार में सन् १९२८ में स्त्रियों का पर्दा-विरोधी आन्दोलन खास तौर से चला। स्त्रियों की स्वतन्त्रता के मामले में बिहार भारत के सब प्रान्तों से पीछे था; पर अब उसने दूसरे प्रान्तों के बराबर पहुँचने की कोशिश की। "तीसरे, खद्दर से देश का एक राष्ट्रीय पहनावा बन गया, जिससे सादगी फैली और गरीब-अमीर एक समान दिखाई देने लगे। इसके सिवा अछूतोद्धार तो गान्धीजी के प्रत्यक्ष कार्यक्रम का एक अंश ही था।

"हिन्दू-मुस्लिम एकता भी कांग्रेस के कार्यक्रम में रही; पर

सन् १९२२ के बाद से एकता के बजाय विरोध बढ़ता दिखाई दिया।.........

"अहिंसात्मक असहयोग विफल होने पर १९२२ ई० में क्रान्तिकारी नेता फिर अपने संगठन को नया करने लगे।......... कुछ अधीर युवकों ने सन् १९२३ ई० के मध्य से बंगाल में त्रास के कार्य शुरू कर दिए। सरकार को दमन का मौका मिल गया।...

"उत्तर भारत में सन् १९२३-२४ ई० में 'हिन्दुस्तान-प्रजातंत्र-मंडल' नामक एक गुप्त संस्था स्थापित हुई, जिसका उद्देश्य था—'भारत के संयुक्त राष्ट्रों का संघ-प्रजातंत्र स्थापित करना'... । सन् १९२५ के अन्त में इनके मुख्य केन्द्र पकड़े गए" (इ० प्र० ६४४—४६)। पीछे बिहार में भी इनके कई केन्द्र पाए गए।

सन् १९०७—९ वाले अजीतसिंह का भतीजा भगतसिंह हिन्दुस्तान-प्रजातंत्र-मंडल में था। सन् १९२६ में उसने लाहौर में 'नौजवान-भारत-सभा' स्थापित की। उसकी देखादेखी समूचे देश में युवक-सभाएँ स्थापित हो गईं" (वहीं)।

बिहार में भी सन् १९२७—२८ से प्रायः प्रत्येक बड़ी बस्ती में युवक-संघ खड़े हो गए थे।

सन् १९२८...के अन्त में कलकत्ते में राष्ट्रीय कांग्रेस में युवक-दल ने पूर्ण स्वाधीनता को ध्येय मनवाना चाहा। गांधी जी के कहने से यह तय हुआ कि ब्रिटिश-सरकार यदि एक साल में भारत को अभीष्ट शासनपद्धति न दे, तो कांग्रेस पूर्ण स्वाधीनता को लक्ष्य बनाकर करबन्दी का आन्दोलन शुरू करेगी।

"सन् १९२९ में देश आगामी लड़ाई की तैयारी में लगा और सरकार ने दमन शुरू किया।.........

३१ दिसम्बर १९२९ ई० को लहौर में राष्ट्रीय कांग्रेस ने भारत की पूर्ण स्वतन्त्रता को अपना लक्ष्य घोषित किया। उसने यह भी कहा कि स्वाधीन भारत अंग्रेजी सरकार द्वारा भारत के नाम पर लिये गए कर्ज को निष्पक्ष जाँच कराए विना स्वीकार न करेगी" (इ० प्र० ६४७–४८)।

सन् १९३० में भारतीय स्वाधीनता के लिए महात्मा गांधी के नेतृत्व में सत्याग्रह-आन्दोलन शुरू हुआ, जो १९३४ तक चला।

पहला सत्याग्रह-युद्ध

बिहारवासियों ने उसमें जी खोलकर भाग लिया। इस जमाने की घटनाएँ हमारे पाठकों ने अपनी आँखों से देखी हैं और अनेक ने उनमें भाग भी लिया है।

१५ जनवरी १९३४ को विहार में भयंकर भूकम्प हुआ। इस तरह के भूकम्प १९ वीं और २० वीं सदी में भारत में अनेक होते रहे हैं; पर इस बार की विशेषता यह थी कि पहले जहाँ भारतीय जनता अपने-आपको असहाय समझती थी वहाँ इस बार उसने संगठित होकर स्वयं अपनी सहायता की।

पहला सत्याग्रह-युद्ध अपने पूर्ण स्वाधीनता के उद्देश्य को पाने में सफल नहीं हुआ। स्वाधीनता की मंजिल अभी दूर है; पर इस युद्ध ने उसका रास्ता तय करने की शक्ति जगा दी है। जिस प्रकार इस युद्ध का अन्त हुआ, उसे देश ने हार नहीं माना। "२६–२७–२८ अक्तूबर १९३४ ई० को बम्बई में कांग्रेस का अधिवेशन हुआ।

कांग्रेस के सभापतियों को अब देश राष्ट्रपति कहता है। राष्ट्रपति राजेन्द्रप्रसाद ने अपने भाषण में कहा—'हम एक बार विफल हों, दो बार विफल हों, पर एक दिन जरूर सफल होंगे" (इ० प्र० ६५८)। इन शब्दों में भारतीय राष्ट्र के हृदय के भावों की गूँज है।

एक अप्रैल १९३७ को भारत में नया शासन-विधान लागू हुआ। उसके अनुसार उड़ीसा पृथक् प्रान्त बना दिया गया और बिहार एक प्रान्त बना है ये घटनाएँ अभी ताजी हैं। भावी ऐतिहासिक इनका मूल्य आँक सकेंगे।

महात्मा गांधी के चम्पारन में पदार्पण से हमारी पीढ़ी के बिहार में जो राजनीतिक चेतना जागी थी, वह बराबर उन्नति कर रही है।

उपसंहार

भारत के दूसरे प्रान्तों से बिहार आनेवालों का ध्यान यहाँ की दो बातों को तरफ हठात् आकृष्ट होता है। एक तो यह कि भारत के दूसरे अनेक प्रान्तों की तरह बिहार के शिक्षित समुदाय का अपने ग्रामों से सम्बन्ध टूटा नहीं है। दूसरे, सार्वजनिक जीवन में गहरे मतभेद पैदा हो जाने पर भी, और अनेक बार कठिन संघर्ष उपस्थित हो जाने पर भी, प्रायः उनका अन्तिम निपटारा शालीनतापूर्वक हो जाता रहा है। बहुत नजदीक से वस्तु का रूप बहुत बार ठीक नहीं दिखाई देता। क्या बिहारियों का खुद भी अपनी इन विशेषताओं की तरफ कभी ध्यान गया है?

गया हो या न गया हो, एक सुदूर प्रान्त से आया हुआ विद्यार्थी

अरसे तक बिहार को देखने और उसके इतिहास का मनन करने के बाद भविष्य के लिए यही वर माँगता है कि बिहार के ये गुण बने रहें, और दिन-ब-दिन बढ़ते रहें। गृध्रकूट की अविचल चट्टान से राष्ट्रों के उत्थान और पतन के सनातन सिद्धान्तों का जो प्रवचन किया गया था, उसके उपदेश की छाप बिहारियों के हृदयों में सदा अंकित रहे और उन्हें रास्ता दिखाती रहे !

शुद्धिपत्र

ता० २ मार्च को देशपूज्य राजेन्द्र बाबू द्वारा इस पुस्तक की पांडुलिपि हमें प्राप्त हुई और ता० १० मार्च को कांग्रेस की प्रदर्शनी में इसे पहुँचाना था। इसलिए, एक ही सप्ताह के अन्दर अत्यन्त शीघ्रता में छपने के कारण, दृष्टिदोष से, छपाई की कुछ भूलें रह गई हैं। पाठक कृपया सुधारकर पुस्तक पढ़ें— —प्रकाशक

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
१	७	मध्य का भाग,	मध्य का भाग है,
३	७	अस्थिर	अनस्थिक
७	१	राजमहल-शृंखला	राजमहल-शृंखला,
१० टिप्पणी	१३	यारवा	याखा
१२	१२	अंगुत्तराय	अंगुत्तराप
२२ टिप्पणी	६	दंबु	दंदु
,, ,,	,,	ओंथ	ओंघ
,, ,,	,,	तमुचि	नमुचि
२६	५	वत्स	वत्सप्रि
३३	३	पूर्वी पीढ़ी	५ वीं पीढ़ी
३८	१२	प्रभगन्द	प्रमगन्द
५० टिप्पणी	२	वाराजसी	वाराणसी
५८	१६	७००७	७७०७
७५	९-१५-१६-२१	हरवामनी	हखामनी
७९	३	,,	,,
१३७	३	३४४	३४०
१५२	३	७४०	७४३
१८१	३	१९९	१९३